श्री हरिरायजी महाप्रभु कृत

४१ बड़े शिक्षा पत्र

(मूल श्लोक, अर्थ, व्याख्या सहित)

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

जगद्‌गुरुश्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस

आचार्य वर्य गोस्वामितिलकायित १०८ श्री इन्द्रदमनजी

(श्री राकेशजी)

महाराज

नाथद्वारा

जन्म-फाल्गुन शुक्ल ७
विक्रम संवत् २००६

जन्म दिनांक २४ फरवरी
सन् १९५०

गो. श्रीमद् गोपेश्वरजी

शिक्षा पत्र के टीकाकार

श्री हरिरायजी महाप्रभुकृत ४१ बड़े शिक्षा पत्र

पूज्यपाद् आचार्यवर्य्य गोस्वामि तिलकायित श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी) महाराज श्री की आज्ञा से प्रकाशित

भाषान्तरकर्ता :

त्रिपाठी यदुनन्दन श्री नारायणजी शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए. हिन्दी, संस्कृत

प्रकाशक :

विद्याविभागाध्यक्ष

मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा (राज.)

प्रथम संस्करण
प्रति १०००

राम नवमी

संवत् २०६७
न्योछावर ६५ रु.

।।श्रीहरिः।।

निवेदन

पूज्यपाद आचार्यवर्य्य गो. ति. श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेश जी) (महाराज श्री की आज्ञा से विद्या सागर श्री हरिरायजी महाप्रभु कृत शिक्षा पत्र का तथा श्री गोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषा में भाषान्तर किया है। वर्तमान समय में नयी पीढ़ी एवं जन साधारण वैष्णवों के लिये सरल सुबोध हिन्दी भाषा में इस ग्रंथ के प्रकाशन की आवश्यकता प्रतीत हुई इस कारण विद्या विभाग ने इस ग्रंथ को प्रकाशित किया है। इसमें सुगमता हेतु मूल श्लोक, श्लोकार्थ तथा व्याख्या भी दी गई है।

भाषान्तर करने में अथवा संशोधन करने में त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ जन क्षमा करेंगे।

जीवस्वभावतो दोषा सम्भवन्त्येव कुत्रचित्।
सद्गुणग्राहिणः सन्तो गृह्णन्तितान्पुनः।।

निवेदक
त्रिपाठीयदुनन्दन श्रीनारायणजी शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए. हिन्दी, संस्कृत

अध्यक्ष
विद्या विभाग
मन्दिर मण्डल, नाथद्वारा (राज.)

श्री हरिरायजी महाप्रभु का संक्षिप्त जीवन परिचय

गो. श्री हरिरायजी महाप्रभु का प्रादुर्भाव विक्रम संवत् १६४७ भाद्र कृष्ण पंचमी को गोकुल में हुआ था। आप श्री वल्लभाचार्यजी महाप्रभु की पांचवीं पीढ़ी में प्रकट हुए। आपके पिता का नाम श्री कल्याण रायजी था। ये श्री विट्ठलनाथजी के द्वितीय पुत्र श्री गोविन्दजी के पौत्र थे। आठ वर्ष की अवस्था में श्री गिरिधरजी की आज्ञा से श्री गोकुलनाथजी ने आपका यज्ञोपवीत संस्कार कराया था। श्री गोकुलनाथजी अपने समय के उद्‌भट विद्वान् प्रकाण्ड पंडित, अपूर्व योग्यता सम्पन्न अनन्य भक्ति भावना से युक्त थे। आप ही के द्वारा वेदाध्यनादि कार्य सम्पन्न हुआ। आप भूतल पर १२५ वर्ष तक बिराजे तथा स्वरचित पुष्टिमार्गीय साहित्य के द्वारा देवी जीवों का उद्धार किया। आपको श्रीनाथजी साक्षात् अनुभव जताते थे। श्री हरिरायजी का श्रीनाथजी के प्रति अनन्य अनुराग था। आपके लिये श्री ठाकुरजी का वियोग एक क्षण भी असह्य था। आपके जीवन पर पूर्ववर्ति आचार्यों का पूर्ण प्रभाव पड़ा। उसमें भी श्री गोकुलनाथजी का विशेष प्रभाव रहा। इसी कारण आपने अपने ग्रंथों में उनको प्रणाम किया है। सम्प्रदाय में श्रीगोकुलनाथजी की चौथे आचार्य के रूप में ख्याति है। श्री हरिराय जी का जीवन अतिशय सरल भगवद् भावनाओं से पूर्ण तथा पुष्टि जीवों के प्रीत्यर्थ व्यतीत हुआ। पुष्टिमार्गीय वैष्णव अलौकिक उप देश ग्रंथ 'शिक्षापत्र' द्वारा शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। आपने इस ग्रंथ में सत्संग पर अधिक बल दिया है। दुःसंग का त्याग करने की शिक्षा देने वाला एक मात्र यह ग्रंथ है। शिक्षा पत्र के किसी भी एक पत्र को पढ़ने से भी अपूर्व शांति का अनुभव होता है। आज के समय में संतप्त एवं दुःखी मनुष्य को जीवन में परम संतोष प्राप्त होता है। महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यजी के सिद्धान्तों को आपने व्यवहारिक रूप प्रदानकर अत्यंत ही सरल तथा सुबोध भाषा के माध्यम से शिक्षा पत्र प्रकट किया है।

मुगल अत्याचारों को देखकर आप मेवाड़ पधार गये। तत्कालीन महाराणा मेवाड़ वीर शिरोमणि श्री राजसिंहजी ने आपका भव्य स्वागत किया तथा आपकी इच्छानुसार आपके इस अरण्य में बिराजने के लिये स्थान बनवा दिया। यशस्वी, लब्ध प्रतिष्ठित, ख्याति प्राप्त श्री हरिराय महाप्रभु के सत्संगार्थ महाराणा श्री राजसिंहजी दर्शनार्थ पधारते रहते थे। इन्हीं दिनों व्रज से प्रभु श्रीनाथजी का मेवाड़ में पधारना हुआ।

मेवाड़ में श्री हरिरायजी महाप्रभु के मार्ग दर्शन में ही श्रीनाथजी के मंदिर का निर्माण कार्य हुआ। प्रभु श्रीनाथजी के नाथद्वारा बिराजने पर आपने अपना आवास खमनोर बना लिया। खमनोर में बिराजकर ही आपने विपुल साहित्य का सृजन किया। आपकी तिरोधान लीला खमनोर में ही संतव् १७७२ से ७५ के मध्य में हुई थी।

अध्यक्ष

विद्या विभाग

श्री हरिरायजी कृत बड़े शिक्षा पत्र

अनुक्रमणिका

उपोद्घात

एक समय श्रीहरिरायजी परदेश पधारे थे और श्रीगोपेश्वरजी घर में सेवा करते थे। श्रीहरिरायजी बड़े भाई और श्री गोपेश्वर जी छोटे भाई थे। श्रीगोपेश्वरजी के बहूजी सेवा में बहुत अनुकूल भगवद्भाव संवलित थे। श्री बहुजी महाराजलीला में पधारेंगे तब श्रीगोपेश्वरजी को बहुत विरह होगा। ऐसा श्रीहरिरायजी ने दो महिने पूर्व ही जान लिया था। श्रीहरिरायजी ने मन में विचार किया था कि श्रीगोपेश्वरजी विप्रयोग कर बहुत दुःख पायेंगे। श्री बहुजी, महाराज की सेवा में बहुत सहायता करते थे। श्रीगोपेश्वरजी अकेले सेवा किस प्रकार करेगे, यह दुःख होगा। यह विचार कर श्रीहरिरायजी ने पत्र भिजवाने चाहिये ऐसा विचार किया। शिक्षा के पत्र को कोई पढ़ेगा उसके श्री आचार्यजी की कृपा से सकल दुःख निवृत्त होंगे। हृदय में भगवद् भाव उत्पन्न होगा। यह विचार कर सारे शास्त्र, पुराण, श्री भागवत सर्व के सिद्धान्त संयुक्त (४१ पत्र संस्कृत में ही लिखे, कारण की उस समय पत्र संस्कृत में ही लिखने की रीति थी) पत्र लिखकर नित्य एक पत्र श्रीहरिरायजी स्वकीय जन के साथ श्रीगोपेश्वरजी के पास भेजते थे। श्री गोपेश्वर जी अपनी बैठक में एक नियत स्थान पर पत्र रख देते थे। उन पत्रों को पढ़ते नहीं थे। वे यह जानते थे कि मेरे अग्रज का स्नेह मेरे उपर बहुत है इस कारण शिक्षा के लिये लिखते हैं। हम तो भगवत्सेवा करते हैं इसके अलावा कुछ जानते नहीं है। यह सोचकर नियत स्थान पर पत्र धरते थे। ऐसे करते श्रीहरिरायजी ने ४१ पत्र भेजे। उन सभी को श्रीगोपेश्वरजी ने धर दिया किंतु पढ़ा नहीं। श्रीहरिरायजी ने अपने मनुष्य से पूछा कि भाई पत्र बांचते हैं? तब स्वकीय जन ने विनती की महाराज हमारे सामने तो एक स्थान पर धर देते हैं। पढ़ते नहीं है। कुशल पत्र लिखकर हमको विदा कर देते हैं। श्रीगोपेश्वरजी पीछे पढ़ते हों उसकी खबर नहीं है। हमारे आगे तो नहीं पढ़ते हैं। तब श्रीहरिरायजी ने विचार किया कि यदि नहीं बांचते हैं तो ४१ पत्र भेजे हैं, वे बहुत हैं। एक पत्र को भी बांचेंगे तो सकल दुःख निवृत्त हो जायगा। इसके पश्चात्

श्रीहरिरायजी ने पत्र नहीं लिखे। कुछ दिनों बाद श्रीगोपेश्वरजी की बहुजी ने लीला विस्तार किया, इससे श्रीगोपेश्वरजी को बहुत ही विरह हुआ। तीन दिनों तक भोजन नहीं किया।

सभी समझाकर थक गये। किसी की नहीं मानी। श्रीगोपेश्वरजी ने कहा अब अकेले मेरे से सेवा नहीं होगी। घर का परित्याग कर वन में जाऊंगा, उस समय श्रीहरिरायजी का कृपा पात्र एक सेवक हरि जीवनदास था, उसके उपर श्रीगोपेश्वरजी भी बहुत कृपा रखते थे। हरि जीवनदास वैष्णव ने श्री गोपेश्वर जी के पास आकर बहुत समझाकर विनती की। श्रीगोपेश्वरजी ने एक की भी नहीं मानी। तब हरि जीवनदास ने कहा इस समय श्रीहरिरायजी घर होते तो समझाते और की बात नहीं है। पीछे हरि जीवनदास ने श्री गोपेश्वर जी से पूछा कि श्री हरिराय जी के कोई पत्र आये हैं ? तब श्रीगोपेश्वरजी ने कहा पहले बहुत पत्र आते जो गवाक्ष में रखे हैं। अब दश पांच दिन से तो नहीं आते हैं। तब हरि जीवनदास ने गवाक्ष में से ४१ पत्र निकालकर श्रीगोपेश्वरजी के संमुख धरे और विनती की महाराज एक पत्र पढ़िये तो सही। तब श्रीगोपेश्वरजी ने अपने हस्तकमल से एक पत्र लिया, वह भगवदिच्छा से प्रथम पत्र हाथ में आया। तब श्रीगोपेश्वरजी ने उस पत्र को पढ़ा, पढ़ते ही सारा दुःख दूर हो गया। भगवद् भाव हृदय में बढ़ा। तब श्रीगोपेश्वरजी ने उठकर हरि जीवनदास वैष्णव को अपने हृदय से लगाकर कहा कि तू आया तो हमने ये श्रीहरिरायजी के पत्र बांचे, उससे मेरा सर्व दुःख दूर हो गया। पीछे श्री गोपेश्वर जी ने ४१ शिक्षापत्र थे, उन सबको पढ़ा। श्रीगोपेश्वरजी ने हरि जीवनदास से कहा कि इन शिक्षापत्रों की टीका मैं करूं, तू नित्य मेरे पास बैठ, तब हरिजीवनदास ने विनती की, महाराज इस उपरांत और क्या है ? मैं बैठूंगा। परन्तु आप स्नान कर भोजन करो। सर्व सेवक वैष्णव दुःखी हैं, तब श्री गोपेश्वर जी ने प्रसन्न होकर स्नान किया। पीछे आपने भोजन किया। तब सारा परिवार प्रसन्न हुआ। सेवक वैष्णवों को सुख हुआ। पीछे हरि जीवनदास को पास बैठाकर श्रीगोपेश्वरजी भाव मग्न होकर श्री आचार्यजी, श्री गुसांईजी श्रीहरिरायजी का

स्मरण कर नमस्कार कर शिक्षापत्र की टीका करने लगे, उस शिक्षा पत्र की टीका प्रारम्भ से लिखी है।

श्री हरिराय महाप्रभु द्वारा विरचित बड़े शिक्षापत्र से पुष्टिमार्गीय वैष्णववृंद भलीभांति सुपरिचित हैं। इस ग्रंथ के प्रतिदिन भगवद् वार्त्ता में नित्य प्रति दो श्लोक पढ़े जाते हैं। शिक्षापत्र पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाला यह अद्‌भुत ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वेदशास्त्र पुराण आदि के प्रमाण तो हैं ही किन्तु इसके साथ ही साथ श्री आचार्यजी महाप्रभु कृत ग्रंथों के सभी संदर्भ स्थान–स्थान पर दिये गये हैं। इस कारण पुष्टि सिद्धांतों का मूल उद्देश्य का स्पष्टीकरण विशेष रूप से सप्रमाण हो गया है। शिक्षा पत्र में सुबोध, सरल और सुकोमल वाणी है तथा दृष्टांत सहित विवेचन है। यह प्रत्येक वैष्णव के लिये परमोपयोगी है।

अध्यक्ष
विद्या विभाग

अथ श्रीहरिराय चरण उपदिष्ट चौरासी शिक्षा (वचनामृत)

एक समय वैष्णवों ने श्रीहरिरायजी से प्रार्थना करके कहा कि महाराजाधिराज हमारा मन सेवा में नहीं लगता है। सेवा करते समय मन में संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। इसलिये महाराज इसका क्या उपाय करना चाहिए। आप ऐसा उपाय बताओ जिससे हमारा मन प्रभु की सेवा में लग जाय। संसार में नहीं लगे। इस प्रकार उन वैष्णवों ने विनती की, तब श्रीहरिरायजी ने इन वैष्णवों की विनती सुनकर आपने कृपा तथा अनुग्रह करके अपने श्रीमुख से कहा, जो वैष्णव हो, उनके लिए हम ऐसा उपाय बताते हैं जिससे तुम्हारा मन प्रभु की सेवा में ही आसक्त रहे। संसार में आसक्त नहीं रहे, हम तुमको चौरासी प्रकार की शिक्षा बताते हैं। इस शिक्षा को तुम अपने हृदय में धारण करना जिससे तुम्हारा मन प्रभु की सेवा में ही रहेगा। संसार से मन दूर रहेगा। तब सभी वैष्णवों ने हाथ जोड़कर श्री हरिरायजी से विनती (प्रार्थना) की। महाराजाधिराज हमको चौरासी प्रकार की शिक्षा दें। तब श्रीहरिरायजी अपने श्रीमुख से चौरासी शिक्षा कहने लगे।

1. वैष्णव को सदा प्रसन्न रहना, अमंगल उदासीन कभी नहीं रहे।
2. श्रीठाकुरजी के मंदिर में नित्य महोत्सव जानना।
3. अपने माथे जो सेव्य स्वरूप बिराजते हों, उनकी सेवा आप (स्वयं) करे, सेवा किसी के भरोसे नहीं छोड़े।
4. किसी से विरोध नहीं करे, सबसे मधुर वचन बोलें।
5. विषय और तृष्णा का त्याग करे।
6. भय और स्नेह से सेवा करे।
7. अपनी देह को अनित्य जाने।
8. वैष्णव का संग करता रहे।
9. वैष्णव का स्वरूप और भगवत् स्वरूप को भिन्न नहीं जाने।
10. अपनी बुद्धि स्थिर रखे।
11. जहां वैष्णव हो वहां स्वयं चलकर जाये।

12. भगवद् दर्शन में आलस्य नहीं करे।

13. श्रीठाकुरजी के दर्शन करने में आलस्य करने से आसुरी भाव उत्पन्न होता है।

14. भगवद् सेवा अर्थ उद्यम करना चाहिए।

15. प्रसाद थोड़ा लेना।

16. नींद कम (थोड़ी) लेना।

17. क्रोध नहीं करना।

18. जहां बहिर्मुख चर्चा हो, वहां नहीं बैठना।

19. अवैष्णव का संग नहीं करना।

20. वैष्णव मंडली में नित्य जाना।

21. प्रभु सेवा में अवैष्णव को नहीं लाना।

22. धीरज नहीं छोड़ना।

23. अपना मन श्रीठाकुरजी के चरणारविंद में रखना।

24. भगवदीय से नम्रतापूर्वक होकर रहना।

25. भगवदीय से दास भाव रखना।

26. सेवा के समय में बकवाद नहीं करना।

27. प्रीति से भगवद् सेवा करना।

28. सेवा कर प्रभु से कुछ नहीं मांगना।

29. चरणामृत नित्य लेना।

30. प्रभु के नाम से कुछ वस्तु लावें, वह प्रभु को ही समर्पित करिये।

31. नित्य सेवा स्मरण में ही रहना।

32. मार्ग की रीति से सेवा करना।

33. उत्सव के दिन उत्सव करना।

34. भगवदीय से छल छिद्र नहीं करना।

35. नूतन वस्तु प्रभु को समर्पित करिये।

36. प्रिय वस्तु पाने पर संतुष्ट नहीं होना।

37. दुःखी एवं अप्रिय वस्तु पाने पर असंतुष्ट नहीं होना।

38. सुख और दुःख समान जाने।

39. भगवद् वार्ता नित्य नियम से करना।

40. नवरत्न, यमुनाष्टक, श्रीसर्वोत्तमजी आदि ग्रंथों का पाठ अवश्य करें।

41. एकादशी जयंती पर व्रत अवश्य करना।

42. श्री ठाकुरजी के लिये पवित्रता से सामग्री करना।

43. असमर्पित वस्तु नहीं लेना।

44. किसी से द्वेष नहीं रखना।

45. करुणायुक्त होना रहना।

46. सबसे मित्रता रखनी, मन उदार रखना।

47. अहंता ममता को छोड़नी।

48. क्षमावंत होकर रहना।

49. बाहर भीतर शुद्धता से रहना।

50. आलस्य रहित होकर रहना।

51. सर्वभोगादि् का परित्याग करके रहना।

52. किसी का पक्षपात नहीं करना।

53. किसी वस्तु की वांछना नहीं करना।

54. जो कुछ सहज में आकर प्राप्त हो, उसमें ही प्रसन्न रहना।

55. किसी वस्तु में आसक्त नहीं रहना।

56. शत्रु मित्र में समान बुद्धि रखना।

57. मद्, मत्सरता रहित रहना।

58. अपमान से मन में दुःख नहीं करे।

59. निंदास्तुति में समान भाव रखे।

60. स्थिरचित्त रख मन इन्द्रियां अपने वश में रखना।

61. इन्द्रिय के सुख में प्रीति नहीं करना।

62. स्त्री, पुत्र, गृहादिक में आसक्त नहीं रहना।

63. स्त्री, पुत्र आदि के दुःख सुख में व्याकुल नहीं हो।

64. कुटिलता रहित रहना।

65. मिथ्या भाषण सर्वथा नहीं करना।

66. शांत चित्त रहना।

67. संसार के प्रति उदासीन रहना।

68. परोक्ष में दारा (स्त्री) से वार्त्ता नहीं करना।

69. प्राणीमात्र पर दया रखना

70. मन, वचन, देह से सबका भला करना।

71. किसी के हृदय को दुःखी नहीं करे।

72. मन में चपलता नहीं रखना।

73. कोमल अंतःकरण रखना।

74. निंदित कार्य सर्वथा नहीं करना।

75. गुरू की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना।

76. किसी अज्ञानी के कहने से पुष्टिमार्ग से मन चलायमान नहीं करना।

77. मन में अभिमान नहीं करना।

78. जिस वचन से किसी के मन में उद्वेग हो, ऐसा वचन कभी नहीं बोलना।

79. सत्य और श्रोता का प्रिय हो ऐसा वचन कहना।

80. श्री पुरूषोत्तम सहस्रनाम आदि श्रीवल्लभाचार्यजी कृत ग्रंथों का पाठ अवश्य करना।

81. श्रीठाकुरजी की सेवा स्मरण परम फल जानना।

82. अन्याश्रय सर्वथा नहीं करना।

83. श्रीठाकुरजी का ही आश्रय करना।

84. श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी तथा उनके वंशजन के समान अन्य किसी को नहीं समझना और उनके समान दूसरे किसी को समझे तो आसुरावेश होता है और जीव का उद्धार नहीं होता है।

इस प्रकार श्रीहरिरायजी ने चौरासी प्रकार की शिक्षा श्रीमुख से कही, हमने जो ये चौरासी प्रकार की शिक्षा कही है, जो वैष्णव इन शिक्षाओं को अपने मन में धारण करेगा, उसका वैष्णव धर्म बढ़ेगा। प्रभु की सेवा में मन स्थिर रहेगा। संसार के प्रति वैराग्य रहेगा। श्रीठाकुरजी उसके ऊपर प्रसन्न होंगे। अथ वे निजानंद का दान करेंगे।

इति श्रीहरिरायजी कृत चौरासी शिक्षा (वचनामृत) सम्पूर्णम् ।

श्री हरिराय विरचित

बड़े शिक्षापत्र

मूल श्लोक, हिन्दी श्लोकार्थ तथा व्याख्या सहित

।।श्री कृष्णाय नमः। श्रीगोपीजन वल्लभाय नमः।।

मूलं – सदोद्विग्नमनाः कृष्ण दर्शने क्लिष्टमानसः ।
लौकिकं वैदिकं चापि कार्यं कुर्वन्ननास्थया ।।१।।
निरुद्ध वचनो वाक्यमावश्यकमुदाहरन्।
मनसा भावयेन्नित्यं लीलाः सर्वाः क्रमागताः ।।२।।

श्लोकार्थ – जीव के एक ओर हमेशा मन में व्याकुलता हो, और दूसरी ओर मन श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये आर्तियुक्त हो, आसक्ति रहित होकर लौकिक, वैदिक कार्य करता हो, वाणी संयमित कर बोलता हो, ऐसा जीव हमेशा प्रभु की सर्व लीलाओं की क्रम से नित्य भावना करता रहे।

व्याख्या – जीव का मन जिस समय लौकिक, वैदिक उलझन से उत्पन्न व्याकुलता से क्लेश युक्त हो उस समय प्रभु के दर्शन करने के लिये जाने से प्रभु को अप्रसन्नता होती है। क्योंकि प्रभु आनंद स्वरूप है, वे जीव का मुख क्लेश युक्त देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं। संसार के कार्य सिद्ध नहीं हो अथवा बिगड़ जाय उससे मन में क्लेश नहीं करना, लौकिक, वैदिक कार्य मन में तुच्छ जानना। प्रभु की सेवा संबंधी कार्य बन जाय तब मन को प्रसन्न रखना। यदि प्रभु की सेवा नहीं होती है तो मन में क्लेश रखना, यह पुष्टिमार्ग की रीति है। जैसे सेवा व्रजभक्त करते, श्री ठाकुरजी गोचारण को वन में पधारते उस समय वियोग में वेणु गीत, युगल गीत का गान करते, पीछे जब श्री ठाकुरजी व्रजभक्तों को सुखदानार्थ व्रज से पधारते तब व्रजभक्त आनंद से दर्शन करते थे। वैसे ही पुष्टिमार्ग में सेवा समय सेवा–दर्शन करे और अनोसर में श्री ठाकुरजी संबंधी वियोगार्ति करे। श्रीकृष्ण के मुखारविन्द का ध्यान करे। जब सेवा का समय हो तब आतुरता से श्रीकृष्ण फलात्मक पुरुषोत्तम के दर्शन करे। पश्चात् लौकिक कार्य वैदिक कार्य गृहस्थाश्रम का धर्म है इसलिये लौकिक, वैदिक अपकीर्ति निवृत्यर्थ तथा वैदिक मर्यादा के लिये अवश्य करे परन्तु लौकिक,

वैदिक में मन आसक्त नहीं रखना। मन एक श्रीकृष्ण में ही रखना। इस कारण मन में क्लेश रखकर दर्शन नहीं करना। प्रसन्नता से दर्शन करना चाहिए। सूतक में मंदिर की सेवा नहीं हो सके तो भाव कर मानसी सेवा करना, यह मर्यादा है। क्योंकि सूतक में मंदिर में सेवा करने से मंदिर छू जाता हैं। अपने वचन का निरोध करना, बहुत नहीं बोलना, आवश्यक कार्य हो उतना ही बोलना, मुख्य सिद्धान्त तो यह है कि भगवत्संबंध बिना सर्वथा नहीं बोलना परन्तु लौकिक, वैदिक कार्यार्थ गृहस्थाश्रम में बिना बोले काम नहीं चलता है। इसलिये जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना। मुख्य सिद्धान्त तो यह है कि भगवद् संबंध विना सर्वथा नहीं बोलना परन्तु लौकिक वैदिक कार्यार्थ गृहस्थाश्रम में बिना बोले काम नहीं चलता है। इसलिये जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना। क्योंकि वाणी का निग्रह हो तो मुखरता दोष नहीं आता है। बहुत बोले तो भगवाद् भाव हृदय में स्थिर नहीं रहता है। वाणी द्वारा बाहर निकल जाता है। भगवद् धर्म की ऐसी सूक्ष्म गति है। इसलिये वाणी निरोध से सब सिद्ध होता है। मन का यह धर्म है कि जो अनेक स्थान पर भटकता है। मन में विचार करे कि श्री ठाकुरजी की अपार लीला है अनेक प्रकार की है, उसमें क्रम सहित मन लगा देना चाहिए। क्योंकि मन का गमन पवन से भी अधिक है। इसलिये मन को कोटि उपाय से रोकना चाहिए। परन्तु रोकने पर मन रूकता नहीं है, अतः श्री ठाकुरजी की लीला में लगा दे।

जन्माष्टमी, अन्नकूट, होली, हिंडोरा आदि वर्ष दिन के उत्सव उनकी अनेक लीला का भाव कर पुष्टिमार्ग की रीति से मन लगाकर भावना करे तथा नित्य लीला प्रातःकाल से श्री ठाकुरजी श्री नंदराय जी के घर में जागते हैं, कुंज में श्री स्वामिनी जी के यहां भी जागते हैं तथा खंडिता, मंगला भोग, मंगला आर्ति श्रृंगार, ग्वाल, पालना, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, शयन, पर्यन्त ऋतु अनुसार तथा शयन के बाद शुद्ध मन करके रास लीला, मान लीला, जलस्थल विहार, इत्यादि के मन से विचार करे तथा श्रीआचार्यजी के कुल श्रीगुसांईजी के स्वरूप का विचार, श्रीठाकुरजी का प्राकट्य विचार, लीला सामग्री वागा वस्त्र का भाव क्या है ? यह मन में विचार कर भावना करे उनके करने से भगवदावेश होता है। अष्ट प्रहर लीला का स्मरण मन में रखना। भावना के दो प्रकार हैं। एक उत्तम एक

मध्यम। उत्तम प्रकार यह है जो प्रथम स्नान कर शुद्ध होकर भाव सहित गुरू के समीप जाय। प्रथम गुरू की सेवा कर पीछे गुरू के संग मंदिर में जावे वहां गुरू जो आज्ञा दे वह तथा विनती कर सेवा करे आप स्वयं चलकर सेवा करे तो प्रभु को श्रम नहीं होगा तथा आनंदात्मक प्रभु शीघ्र ही प्रसन्न होंगे। यह उत्तम प्रकार जानना। मध्यम प्रकार यह है कि प्रभु को अपने हृदय में पधरावे, प्रभु दयालु हैं परन्तु प्रभु को श्रम हो यह पुष्टि की रीति नहीं हैं। इस क्रम से सेवा करे

मूलं – **सेवाऽपि कायिकी कार्या निरुद्धेनैव चेतसा ।**
दैहिकं कर्म निखिलं प्रभु सेवोपयोगिनाम् ।।३।।
यथोपकरणादीनां रक्षा तद्वद्विधीयताम् ।
भार्यादिष्वनुरागोऽपि सेवाहेतुक एव ही ।।४।।

श्लोकार्थ – कायिकी सेवा भी निरोध युक्त चित्त से ही करनी और प्रभु सेवा में उपयोगी जो पदार्थ हैं उनकी जिस प्रकार रक्षा हो वैसे ही समग्र दैहिक कर्म करना। भार्यापुत्रादिक से स्नेह सेवा निमित्त रखना, जिससे सेवा में अनुकूलता आये।

व्याख्या – सेवा श्रीठाकुरजी की अपने देह से करनी और किसी से नहीं करानी, कदाचित् अपने शरीर से सब सेवा नहीं हो सकती है तथा अपने श्री ठाकुरजी को श्रम होता हो तो सहायता के लिये ओर से करानी। पुष्टिमार्गीय वैष्णव हो उससे करवानी। अवैष्णव से सेवा सर्वथा नहीं करानी, जहां तक जो सेवा अपने देह से हो सकती है वहां तक ओर से नहीं करानी, आलस्य करके लौकिकावेश नहीं करना। अपनी काया से श्री ठाकुरजी की सेवा करे तो शरीर इन्द्रिय मन सब श्री ठाकुरजी के सन्मुख हो, भगवत्संबंध से बहिर्मुख नहीं हो। इसलिये अपने शरीर से नियम सहित भगवत्सेवा अवश्य करनी। यह नियम रखना कि इतनी सेवा करके लौकिक वैदिक कार्य खानपान करना। जिस भांति जैसी प्रीति खानपान का नियम है वैसी प्रीति से सेवा जो वैष्णव का मुख्य धर्म है वह नियम करके रखना। यह दास का धर्म है। मैं सेवा बिना कैसे रहूं इस प्रकार मन में विचार कर ज्ञान कर मन को समझाना और लौकिक, वैदिक अनेक ठोर मन भटकता है वहां से निरोध कर सेवा करना। प्रथम तो मन का निरोध रखे। यदि मन लौकिक, वैदिक में जाय तो भगवत्सेवा में उद्वेग

हो, तब सेवा में श्रद्धा घट जाय, इसलिये मन का निरोध करना। सेवा संबंधी कार्य के अलावा नहीं बोलना लौकिक वाणी कहे तो मुखरता दोष होता है। सेवा में भगवद् भाव रूपी रस का तिरोधान हो इसलिये मिथ्या वाणी का निरोध करना। वैसे ही मिथ्या क्रिया का भी निरोध करना। भगवत्सेवा के समय लौकिक, वैदिक कार्य कुछ भी आ जाय तो सर्वथा नहीं करना। यदि सेवा संबंधी कार्य छोड़कर वैष्णव और कार्य करे तो उस कार्य में सिद्धि नहीं हो तथा लौकिकावेश हो। इस प्रकार मन वाणी क्रिया ये तीनों ही का निरोध कर भगवत्सेवा करे।

दैहिक, वैदिक, लौकिक कर्म बहुत हैं, इस संसार में रहकर नहीं करे तो संसार में अपकीर्ति हो, सेवा में प्रतिबंध हो, इसलिये लौकिक, वैदिक कार्य भी लोकों को दिखाने के लिये करे, श्री ठाकुरजी की सेवा से पहुंच कर अनोसर में आसक्ति विना करे इस प्रकार प्रभु के अंगीकार योग्यवस्त्र सामग्री करे पाकादिक सामग्री की रक्षा के लिये और श्रीठाकुरजी की सेवार्थ सब कार्य करे इस प्रकार वैष्णव सेवा करे तो प्रभु अनुभव कराते हैं। जो स्त्री भगवत्सेवा में सहायक हो तो सेवा भली भांति से हो। इस भांति भगवत्सेवार्थ भार्या जो स्त्री है उसमें अनुराग रखना। अपने विषयादिक के लिये अनुराग सर्वथा नहीं करना। उसमें दृष्टांत देते हैं। महादेव जी की स्त्री सती थी उसने महादेव जी का कहना नहीं माना और श्री रामचन्द्र जी की परीक्षा लेने के लिये श्री जानकी जी का स्वरूप धारण किया। यह बात महादेव जी ने जानी, महादेव जी तो भगवद् भक्त हैं, इस कारण उसी समय सती का त्याग किया। पीछे स्वामी दक्ष प्रजापति (अपने पिता) के यज्ञ से अपनी देह भस्म कर हिमाचल के गृह में प्रकट हुई। वहां अनेक प्रकार से तपस्या की तब भी महादेव जी का मन सती पर प्रसन्न नहीं हुआ। तब श्री ठाकुरजी ने महादेव जी से कहा कि तुम मेरा इतना कहना करो, पार्वती को अंगीकार करो। तब महादेव जी पार्वती को ब्याह कर अपने घर ले आये तब पार्वती ने भगवद् लीला महादेव जी से पूछी तब प्रसन्न हुए। इसलिये वैष्णव होकर लौकिक विषय के अर्थ स्त्री पर प्रसन्न नहीं हो। भगवत्सेवार्थ अनुराग करे जिस प्रकार भगवत्सेवा भली भांति से हो वही करना, इस भांति सेवा हो तो लौकिक ही करना।

बड़े शिक्षापत्र १

मूलं – प्रातिकूल्ये यथा त्यागः प्रभ्वसंबंधिवस्तुनः ।
धनेषु निस्पृहः सेवोपयोगित्वेन रक्षणम् ।।५।।

श्लोकार्थ – श्रीठाकुरजी के कार्य में जो वस्तु कार्य में नहीं आवे उसका त्याग करना, जैसे भार्यादिक जो सेवा में प्रतिकूल हो तो उसका भी त्याग करना। धन में इच्छा नहीं रखना। परन्तु (धन हो तो सेवा भली भांति से हो इसलिये) सेवोपयोगी धन की रक्षा करना।

व्याख्या – यदि स्त्री प्रतिकूल हो, भगवत्सेवा में प्रतिबंध करे तो उस स्त्री का त्याग करे, उसमें अनुराग नहीं करे क्योंकि जो प्रभु संबंधी नहीं हो उसका त्याग ही उचित है। जो प्रभु संबंधी स्त्री नहीं हो, तो भगवद् भाव में उसका मन लगाये। पुष्टिमार्ग में श्री आचार्य कुल द्वारा नाम निवेदन हो, मर्यादी हो तो श्री ठाकुरजी का स्पर्श कराये। सेवक हो मर्यादी न हो तो ऊपर की सेवा कराये। प्रतिबंध करे तो शीघ्र उसका त्याग करे धन में आसक्ति नहीं रखे। निःस्पृह होकर रहे, धन रक्षा नहीं करे यह कलिकाल है इस काल में जीव का धीरज तत्काल छूट जाता है। जो धन की रक्षा नहीं करे तो धन सब पूरा हो जाय, पीछे जीव का धैर्य नहीं रहे, तब धन के लिये बहुत दुःख प्राप्त हो ऐसा नहीं करे धन की रक्षा अपने सुख के लिये नहीं करे यह ध्यान में रहे कि यह प्रभु का है। इसलिये प्रभु की सेवा के लिये रक्षा करे हृदय में पूर्ण वैराग्य हो तो धन की रक्षा नहीं करे यदि वैराग्य दृढ़ नहीं हो तो भगवत्सेवार्थ जानकर रक्षा करे भगवत्उत्सवादि में लगावे। जो भगवदर्थ नहीं लगावे और लौकिक में लगावे तथा धन में मन को आसक्त कर भगवत्उत्सव में गुरू के वहां वल्लभकुल में वैष्णवों में नहीं लगावे तो आसुरावेश हो, इसलिये मन कर के आसक्ति रहित होकर धन की रक्षा कर भगवत्सेवा गुरू सेवा में विनियोग करे इस भांति विवेक से वैष्णव रहे तो भगवद् भाव हृदय में बढ़े।

मूलं – विवाहादिषुकार्येषु वध्वाः सेवार्थमानसः ।
भगवत्संगिसंगोऽपि स्वप्राणप्रेष्ठवार्त्तया ।।६।।

श्लोकार्थ – स्त्री के विवाहादिक कार्य में प्रभु की सेवा के अर्थ चित्त रहे तथा अपने प्राणप्रिय जो ठाकुरजी उनकी भगवत्कथा के निमित्त भगवद् भक्ति का संग करना चाहिए।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि जो धन है उसको लौकिक में नहीं खर्च करे विवाहादिक कार्य में धन खर्चे बिना कैसे चले ? वहां कहते हैं कि जो अपना विवाह तथा पुत्रादिक का विवाह हो तो सेवा का विचार करे जो भगवत्सेवा में मनुष्य हो तो सेवा भली भांति हो। यह विचार कर जितना द्रव्य विवाहादिक कार्य में आवश्यक लगाना हो तो श्री ठाकुरजी की आज्ञा लेकर वह द्रव्य खर्चे। इस भांति प्रभु की आज्ञा मांग कर दास भाव से लौकिक कार्य करे भगवदीय का संग करे किन्तु लौकिक वैदिक की चाहना (स्वार्थ) के लिये नहीं करे केवल अपने प्राणप्रेष्ठ जो श्री ठाकुरजी हैं उनकी वार्ताकरणार्थ भगवदीय का संग अवश्य करे वह भी निरपेक्ष भाव से करना। अपनी बड़ाई के लिए भगवद् धर्म कुछ नहीं करना। दैन्य युक्त हो अपना धर्म जानकर करना।

मूलं – वियोगानुभवं कुर्वन् सेवाऽनवसरे पुनः ।
मूर्तौ भगवतो दृष्टिर्भाव्या तत्तस्य दर्शनम् ।।७।।

श्लोकार्थ – सेवा के अनवसर (अनोसर में) वियोगानुभव कर निर्वाह करे व्रजभक्त वेणुगीत, युगल गीत से विप्रयोग का अनुभव करते, वैसे करे और श्री ठाकुरजी के स्वरूप में यह साक्षात् श्रीकृष्ण चंद्र हैं ऐसी भावना करे तब उसको साक्षात् श्री पूर्ण पुरूषोत्तम के दर्शन होते हैं। (जब तक सानुभाव नहीं हो तब तक जैसी साक्षात् श्रीकृष्ण की सन्निधि में भाव और मर्यादा रखे, वैसी भगवत्स्वरूप की सन्निधि में भी रखे।)

व्याख्या – भगवत्सन्मुख सेवा में संयोगात्मक लीलारस का अनुभव करे सामग्री तथा वस्त्रादि धरे उनका भाव विचार करे, जब सेवा से पहुंच कर अनोसर करे तब वियोगानुभव करे जैसे व्रजभक्त वेणु गीत, युगल गीत में किया है। उसी भांति विचारिये कि अब प्रभु कौनसी कुंज में पधारे होंगे। क्या लीला भक्तों के संग करते होंगे। उसका स्मरण करते विकल हो, मैं बड़ा दुष्ट हूं, प्रभु का दर्शन नहीं होता है। तब यह श्लोक श्रीगुसांईजी का है उसके भाव का विचार करना।

चित्तेन दुष्टो वचसाऽपि दुष्टः कायेन दुष्टः क्रियया च दुष्टः ।
ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराधः कतिधा विचार्यः ।।

मैं चित्त से दुष्ट, वचन से दुष्ट, शरीर से दुष्ट, क्रिया से दुष्ट, ज्ञान से दुष्ट, भजन से दुष्ट, इस प्रकार सब तरह से दुष्ट हूं। एक भी शुद्ध नहीं है। इसलिये मेरे अपराध को कितने प्रकार से विचारोगे। इस भांति दीनता कर वियोगानुभव करे जब सेवा का समय हो तब शीघ्र ही स्नान कर जल्दी अपरस में पुष्टिमार्गीय रीति से मंदिर जाकर ठाकुरजी के रसात्मक श्रीमुख श्रीअंग के आनन्दमय दर्शन कर सकल विरह को दूर करे तथा भाव सहित दर्शन करे जैसे व्रजभक्त श्री नंदरायजी के घर आकर श्री ठाकुरजी का दर्शन करते थे। उसी भाव का स्मरण करे जो व्रजभक्तों की कृपा से इसको भी भाव का दान हो।

मूलं – स्पर्शस्तत्रैव भावेन सर्वास्तत्रैव तत्क्रियाः ।
भावात्मनो ह्यनुभवः सर्वो भावेन नान्यथा ।।८।।

श्लोकार्थ – भगवत्स्वरूप में भाव से ही स्पर्श करे, वैसे ही सब देह संबंधी क्रिया उसी में करे क्योंकि जो भावात्मा का सर्व अनुभव भाव से हो, अन्यथा नहीं हो।

व्याख्या – ऊपर दर्शन का प्रकार कहा उसमें नेत्र इन्द्रिय का शुभ हुआ। पीछे स्नान कर सेवा में सर्वेन्द्रिय का विनियोग होता है। प्रथम मंगला से पहुंचकर पीछे श्री ठाकुरजी को स्नान करावे। अंग वस्त्र कर ऋतु अनुसार बागावस्त्र धारण करावे। इस भांति सेवा में भगवत्स्वरूप का स्पर्श भाव से करे जो हृदय शुद्ध हो तो व्रजभक्तों की भावना करे इस भाव का विचार करे जो अपने घर से व्रजभक्त वस्त्र आभूषण खिलौना लेकर श्री नंदराय जी के घर प्रातःकाल आकर सेवा करते हैं। स्नान कराते हैं। शृंगारादिक करते हैं। जो शुद्ध हृदय नहीं हुआ हो वहां तक राजा जैसा भय मन में रखे। क्योंकि प्रभु ईश्वर के ईश्वर हैं। अपराध पड़ेगा तो दण्ड देंगे। इस भांति भय संयुक्त अंग स्पर्श करे अगर शीतकाल हो तो अपना हाथ सेक कर श्री अंग महाकोमल हैं ऐसे विचार कर स्पर्श करे तब हृदय में भाव प्रकट हो। इस भांति मंगला से शयनपर्यन्त शरीर की सारी क्रिया भाव सहित करे जितनी वस्तु सेवा में हो सभी की भाव सहित स्वरूपात्मक जानकर सेवा करे भाव बिना अन्यथा नहीं करे सर्वात्म भाव से श्री ठाकुरजी की सेवा करे तो स्वरूपानंद का अनुभव हो।

मूलं – हृदयस्यात्यशुद्धत्वान्न तत्रावेशसंभव ।
स्वमूर्त्तावतिशुद्धायामाविश्यानुभवंहरिः ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र

यावत्साधनसंपत्तिः कारयत्यखिलान्निजान् ।
शुद्धंविधाय हृदयं पश्चात्तत्राविशेत्स्वयम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – हृदय का अति अशुद्ध होने से उसमें प्रभु का आवेश असंभव है। जितनी साधन सम्पत्ति हो, उतना श्रीप्रभु अपनी मूर्ति अतिशुद्ध है उसमें सारे अपने भक्तों को अनुभव कराते हैं। पीछे भक्त का हृदय शुद्ध कर उसमें आप प्रवेश करते हैं। पाठान्तर के अनुसार – हृदय का अति अशुद्धपना है, इसलिये उसमें प्रभु का आवेश संभव नहीं है। जब तक निजजनों को सारी साधन सम्पत्ति प्रभु सिद्ध कराते हैं तब तक अतिशुद्ध अपनी मूर्ति में प्रवेश कर अनुभव कराते हैं और साधन सम्पत्ति से भक्तों का हृदय शुद्ध करने के पश्चात् उसमें आप (प्रभु) प्रवेश करते हैं।

व्याख्या – भगवत्सेवा में अपन हृदय तथा इंद्रिय को अति शुद्ध रखे। लौकिकावेश विषय की भावना नहीं करे लौकिक देह सम्बन्धी के सुख–दुःख मन में नहीं रखे। लौकिक वैदिक सुख दुःख हैं वे देह सम्बन्धी हैं और भगत्सेवा संबंधी सुख–दुःख हैं वे आत्म संबंधी जन्म–जन्म का है। श्री ठाकुरजी का स्वरूप अति शुद्ध है इसलिये लौकिक माया के गुण प्रभु के विषय में कुछ भी विचार नहीं करते हैं। प्रभु का श्रीअंग करपाद मुखोदरादि सर्व आनंद रूप हैं। शुद्ध मन कर अनुभव करने योग्य हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर उनसे रहित हैं। सर्व दुःख का हरण करने वाले हैं। परमानंद के दाता हैं। ऐसे श्रीठाकुरजी की अलौकिक गुण संयुक्त मन में भावना करे, सर्वस्थान से अपने मन को खींच कर एक श्री ठाकुरजी के चरणारविंद में मन लगाकर भगवत्सेवा भाव सहित करे तब प्रभु अपना अनुभव कराते हैं। इस संसार में आसुरी पदार्थ हैं और देवी पदार्थ हैं। उसमें देवी के दो प्रकार हैं। एक मर्यादा और एक पुष्टि, उसमें आसुरी और देवी के दो भेद मिल कर तीनों का भेद पृथक्–पृथक् कहते हैं। उस भेद को हृदय में रखे तो अज्ञान नहीं हो दुःख सुख प्राप्त नहीं हो। अब भगवत्सेवा में साधन सम्पत्ति रूप पुष्टि पदार्थ का निरूपण करते हैं।

प्रथम अपना देह जो भगवत्सेवा में लगा रहे तो दैवी जानना, यदि भगवत्सेवा में आलस्य हो तथा कदाचित् कोई वैष्णव के संग से सेवा करे और रोग आदि बाधा करे तब

जानना कि यह आसुरी देह है। दैवी मन हो तो सेवा करते हुए प्रभु के स्वरूप का अनुभव हो। यदि आसुरी मन हो तो सेवा करते हुए में अनेक लौकिक में भटके तथा उसको स्वरूपानंद का अनुभव नहीं हो।

देह सम्बन्धी स्त्रीपुत्रादिक कुटुम्ब भगवत्सेवा में सहायक हो, उसको देवी जीव जानना। जो भगवत्सेवा में विरोध करे तो आसुरी जानना जो कर्म मार्ग में रूचि हो तो मर्यादामार्गी जानना।

इसी प्रकार द्रव्य (धन) जो भगवत्सेवा में विनियोग हो तो देवी जानना। कर्म मार्ग दान, होम, श्राद्धादिक के खर्च हो तो मर्यादा जानना। लौकिक में जाये तथा चोरी हो जाय, दंड हो तो आसुरी जानना। इसलिये जो पदार्थ भगवत्सेवा में विनियोग हो, उन सब को शुद्ध जानना। जो भगवत्सेवा में विनियोग नहीं हो उसको अशुद्ध जानना। इस भांति जो प्रभु की सेवा संबंधी शुद्ध पदार्थ हैं उनको हृदय में धारण करे तथा मेरे काम के ये ही हैं तब प्रभु स्वयं शुद्ध हृदय में प्रवेश कर स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं। सेवा संबंधी नहीं हो ऐसे पदार्थ का त्याग कर दें।

भगवत्संबंधी पदार्थ, सामग्री, वस्त्रादिक का भाव हृदय में रखकर भगवत्सेवा करे

मूलं – दत्वा दैन्येन संतुष्टो नित्यं देहमलौकिकम् ।
स्वयं प्रविश्य भावात्माऽनुभवं कारयेत्स्वकम् ।।११।।

श्लोकार्थ – दैन्य से प्रसन्न हुए प्रभु नित्य अलौकिक (सेवोपयोगी) देह देकर भावात्मक आप उसमें प्रवेश करके अपना अनुभव कराते हैं।

व्याख्या – ऊपर कहे अनुसार सेवा करे और दैन्य मन में नहीं हो तो श्री ठाकुरजी संतुष्ट नहीं होते हैं। इस कारण दीनता कर सेवा करना श्री ठाकुरजी को प्रसन्न करना, तब श्री ठाकुरजी प्रसन्न होते हैं। क्योंकि भगवान् षड्गुण पूर्ण ईश्वर के ईश्वर हैं। किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते हैं। एक प्रीति दीनता ही प्रसन्न करने का उपाय है। उसको भगवदियोंने गाया है –

"प्रीतम प्रीतही तें पाइये।" यद्यपि रूप गुण शील सुधरता इन बातन न रिझैये। ।।१।। सत्कुल जन्म कर्म शुभ लक्षण वेद पुराण पढैयें। गोविन्दप्रभु

बिनस्नेह सुं वालो रसना कहा नचैयें ।।२।।

इसलिये भक्त दीनता कर जो कुछ प्रीति से समर्पे उसको प्रभु अंगीकार करते हैं। जैसे पद्मनाभदास ने छोला समर्पे उनको प्रभु ने अंगीकार किये। जब अत्यन्त दैन्य करे तब प्रभु संतुष्ट होते हैं तब जीवों पर कृपा करते हैं। अलौकिक देह जो नित्य सेवा योग्य है उसकी सिद्धि कर आप हृदय में पधारते हैं।

भावात्मक प्रभु तब अपने स्वरूप का अनुभव कराते हैं। तब सारा जगत् लीलामय दिखाई देता है। किसी प्राणी मात्र में ईर्ष्या नहीं हो तब पुष्टिमार्गीय सिद्ध होता है।

मूलं – एवंविधं फलं नित्यं चिंतयन् चेतसा सदा ।
कुर्यादत्यादरं कृष्णसेवायामेव सर्वथा ।।१२।।

श्लोकार्थ – पूर्व कहा उसी अनुसार भगवत्सेवा में नित्य (अविनाशी) फल का निरंतर चित्त से विचार कर प्रभु सेवा में ही आग्रहपूर्वक अति आदर करे

व्याख्या – ऐसे पुरूषोत्तम फलात्मक उनका चिंतन चित्त में सदा (सर्वकाल) किया करे तो कभी अन्य संबंध न हो। जो नित्य स्मरण नहीं करे तो अन्य संबंध हो, उसके कहने से आसुरी बुद्धि हो जाती है। इसलिये ऊपर कहा उसी प्रकार दैन्य से क्लेश – आतुरता संयुक्त चिंतन करे और अति आदरपूर्वक भगवत्सेवा करे लौकिक में दिखाने के लिये प्रतिष्ठार्थ सेवा नहीं करे पुष्टिमार्गीय वैष्णव का मुख्य धर्म यही है। दास्य भाव से फल सर्वोपरिजान कर सेवा करे अति आदरपूर्वक सदा सेवा करे (यह नहीं विचार करे कि आज सेवा नहीं की तो कल करूँगा) परन्तु नित्य नियमपूर्वक अपने देह को अनित्य जानकर देह इन्द्रिय का सुख छोड़ कर भगवत्सेवा करे यह सर्वोपरि सिद्धान्त है।

मूलं – साक्षात्परोक्षरूपत्वात्सेवा पूर्वविलक्षणा ।
यथा गायंत्य इत्यत्र भावः शबलितो मतः ।।१३।।

श्लोकार्थ – साक्षात् परोक्ष रूप है, इसलिये सेवा पूर्व से विलक्षण है अथवा संयोग विप्रयोगात्मक जो सेवा है वह अपूर्व विलक्षण है। जैसे व्रजभक्तों को प्रथम स्वरूपानंद का अनुभव हुआ। पीछे श्री ठाकुरजी अंतर्हित हुए तब **"गायंत्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्यु रुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।।** यह पंचाध्यायी के तीसवें अध्याय के श्लोक चार में निरूपण

किया है कि जो सब मिलकर श्रीठाकुरजी का ही गुणगान करते हुए बावरे की तरह एक वन से दूसरे वन में ढूंढ़ने लगे, फिर तदात्मक हो उनकी लीला करने लगे। उसमें संयोग–विप्रयोगात्मक भाव निरूपण किया है, वैसे ही भाव रखे।

व्याख्या –साक्षात् और परोक्ष दोनों समय के स्वरूप संवलित होकर सेवा करे प्रथम सेवा समय साक्षात्स्वरूप की सेवा कर संयोग रस का अनुभव करे अनोसर में कुंज की लीला विचार, विचार वियोग रस स्वरूपक अनुभव करे जैसे व्रजभक्त रासपंचाध्यायी में अपने घर से श्री ठाकुरजी के पास आकर स्वरूपानंद का अनुभव करे पीछे श्री ठाकुरजी अंतर्धान हो विप्रयोग रस का अनुभव करावें।

क्योंकि जो प्रथम श्री ठाकुरजी स्वरूपानंद का अनुभव नहीं कराते तो अंतर्धान में विप्रयोग दुःख भक्तों को बहुत नहीं होता। जैसे लौकिक में धन प्राप्त करे तथा फिर नष्ट हो जाय तो दुःख बहुत मन में आवे। परन्तु जिसके पास जन्मते ही मूल में धन नहीं हो वह दुःख को क्यों प्राप्त करे उस भांति गोपीजनों ने थोड़ा–सा अनुभव संयोग रस का किया। उसके पीछे अंतर्धान में विप्रयोग रस का अनुभव किया। उसके पीछे श्री ठाकुरजी प्रकट हुए तब जल स्थल क्रीड़ा सिद्ध हुई। वैसे ही पुष्टिमार्ग की सेवा है। वैष्णव भगवत्सेवा में साक्षात् स्वरूपानंद का अनुभव करे, उस समय सेवा संबंधी संयोग के कीर्तन करे, और जब अनोसर हो तब परोक्ष दशा जानकर विप्रयोग के कीर्तन (वेणु गीत, युगल गीत, गोपिका गीत) अति आतुरता से (गान) करे परोक्ष की सेवा हो तो सब सिद्ध करे इस भांति संयोग–विप्रयोग विचार कर सेवा करे तो आगे भाव वृद्धि हो। वह प्रकार आगे श्लोक में कहते हैं –

मूलं – तदुत्तरं यथा भावः केवलो विरहात्मकः ।
फलं तथैव चात्रापि फलता केवलस्य हि ।।१४।।

श्लोकार्थ – पूर्व श्लोक में जो भाव निरूपण किया है वह भाव प्राप्त होने के पश्चात् जैसा केवल विरहात्मक भाव हो, वैसा ही यह पुष्टिमार्ग में भी फल होता है। क्योंकि जो केवल विरहात्मक भाव फल रूप है।

व्याख्या – ऊपर कहा उस प्रकार भगवत्सेवा गुणगान करे, तो संयोग–विप्रयोग दोनों भाव वेष्टित होकर करे, तो उसके करने से उत्तर दल जो केवल विरहात्मक भाव, उसका दान प्रभु करे, वह फल पुष्टिमार्ग में सर्वोपरि है। इस उपरान्त कोई ओर फल नहीं हैं। जहां उत्तर दल विरहात्मक भाव का दान श्रीआचार्यजी ने दिया तब सर्वफल की सिद्धि हो चुकी।

विप्रयोग में सभी पदार्थ प्रभु रूप ही दिखते हैं। तब भगवत् सेवामय संयोग भी विप्रयोग होता है। प्रभु के दर्शन में पलक बीच आती है तो विप्रयोग हो, विकल हो, प्रेम लहरी में यह जाने कि प्रभु मेरे को छोड़कर कहां गये। यह साक्षात् विरह वनांतर की लीला स्मरण कर विकल हो यह विचार करे कि प्रभु अब नंगे पैर गाय चराने कैसे जायेंगे। कोमल चरण है। कहीं द्वारका नहीं चले जायं। मैं प्रभु बिना कैसे काल बिताऊंगी। इस प्रकार कोटानकोटि विप्रयोग की लहरी संयोग समय मन में रहे। लौकिक देह संबंधी भोग सब छूट जाये तब जानना कि प्रेम लक्षणा भक्ति की प्राप्ति हुई। यह मुख्य रस है।

मूलं – फलाशायां फलं कृष्णवदनं हृदि चिंत्यताम् ।
फलं कृष्णः सदानंदो भक्तभावात्मकत्वतः ।।१५।।

श्लोकार्थ – कदाचित् फल की आशा है तो श्री ठाकुरजी का मुखारविंद फल रूप है। ऐसा विचार हृदय में करना। क्योंकि सदा आनंद रूप श्रीकृष्ण भक्तों के भावात्मक है इसलिये फल रूप हैं।

व्याख्या – ऊपर कहा कि जो सेवा गुण गान शुद्ध भाव से करे तो वह करते करते केवल विप्रयोग सिद्ध हो, वह विप्रयोग सर्वोपरि है। वहां कोई पूर्व पक्ष करे जो सदा विप्रयोग दुःख ही रहे तो इसमें फल क्या सिद्ध हुआ? कुछ फल की आशा करे या नहीं करे? वहां सिद्धान्त कहते हैं कि वहां विप्रयोग ही परम फल है। कोटानकोटि सुख या विप्रयोग समान नहीं है। यह भाव व्रजभक्त ही जानते हैं। ब्रह्मादिक, शिवादिक को भी अगम्य है। सेवा गुण गान करे उसमें कुछ लौकिक वैदिक फल की आशा तथा अपने उद्धार की आशा रखे उसको पुष्टिमार्गीय मुख्य फल नहीं होता है। इसलिये यही फल मन में चाहे जो श्रीकृष्णचन्द्र के वदन कमल के दर्शन कब हों! क्योंकि जो श्री ठाकुरजी के मुखारविंद रूप श्रीआचार्यजी हैं इसलिये श्रीआचार्यजी के दर्शन की अभिलाषा मन में रखे। इससे भगवत्सेवा में साक्षात् मुखारविंद दर्शन बार–बार करे यही सर्वोपरि फल है, यह हृदय में

जाने। इसलिये श्रीकृष्ण के वदनचंद्र का चिंतन वियोग में भी करे अनोसर में वियोग श्रम बहुत करे तब केवल विप्रयोग भावात्मक फल सिद्ध हो। तब श्रीकृष्ण का वदन चंद्र सब जगह दिखता है। इस कारण विरह है वह फल रूप है और श्रीकृष्ण है, वह फलात्मक व्रजभक्तों के भावात्मक परम तत्व हैं। ऐसे जानकर सेवा स्मरण करे

मूलं – न तत्र ज्ञान संबंधो यतोऽत्रापि न वै चितिः ।
सच्चिदानंदरूपस्तु प्रसिद्धः पुरुषोत्तमः ।।१६।।

श्लोकार्थ – वहां ज्ञान संबंध नहीं हैं। क्योंकि वहां जो चिति जो चैतन्य नाम ज्ञान नहीं है, और पूर्ण पुरुषोत्तम ही सच्चिदानंद स्वरूप श्रुतिस्मृत्यादिक में प्रसिद्ध हैं।

व्याख्या – ऐसे रसात्मक श्रीकृष्ण एक अनन्य भक्तों के अनुभव योग्य हैं, वहां कोई कहे कि पुराण शास्त्र में ज्ञान मार्ग को बड़ा कहा है। उसमें प्रभु की प्राप्ति कही है और तुम भक्ति कर प्राप्ति कहते हो। उसका क्या कारण है? वहां सिद्धान्त कहते हैं कि जो शुद्धाद्वैतीय ज्ञान मार्ग में ज्ञानी तेजोमय स्वरूप की भावना करता है। उन ज्ञानी को स्वरूपानंद से संबंध किसी काल में नहीं हैं। स्वरूपानंद के चिंतन योग्य ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानी का संबंध तो अक्षर में है। सब जगह अग्नि की तरह व्यापक ब्रह्म है। उसी में लीन होता है। उसी में लय होता है। उनको भक्ति रस की प्राप्ति कभी नहीं होती है। इसलिये शुद्धाद्वैतीय ज्ञानी के आगे भी इस स्वरूप का भाव नहीं कहना। श्रीकृष्ण है जो सच्चिदानंद स्वरूप रसात्मक है। जीवन में सत् और चित् दो धर्म हैं, आनंद का तिरोधान है और श्री ठाकुरजी परमानंद रूप है। श्री भगवत गीता में कहा कि जो श्रीकृष्ण पूर्ण पुरूषोत्तम है। वह वेदशास्त्र सब स्थान पर प्रसिद्ध है। इसलिये एक श्रीकृष्ण ही को सबसे पर पूर्ण पुरुषोत्तम जानना। ब्रह्मादिक शिवादिकों मर्यादा भगवद् भक्त जानना। स्वतंत्र एक श्रीकृष्ण ही को जानना।

मूलं – पूर्वाऽवस्थाफलं कृष्णः केवलश्चोत्तरो मतः ।
तस्यैवाऽऽस्यं कृपापूर्णः प्रभुः श्रीवल्लभाभिदः ।।१७।।

श्लोकार्थ – पूर्वावस्था (संयोगात्मक पूर्वदल) के फलस्वरूप श्रीकृष्ण है और (विप्रयोगात्मक/उत्तर दल केवल फलरूप हैं। साधन और फल दोनों एक श्रीकृष्ण ही हैं।) उनके ही मुखारविंद कृपा पूर्ण श्री वल्लभप्रभु हैं।

व्याख्या – कोई कहते हैं कि तुम श्री ठाकुरजी की सेवा करके फल की कुछ वासना मन में नहीं रखते हो वह क्यों ? वेद में जितनी क्रिया कही है उसका फल भी कहा है। जो कुछ फल नहीं हो तो क्रिया व्यर्थ कही है। यह वेदशास्त्र की मर्यादा है। यह संदेह होता है वहां कहते हैं कि जो जीव का श्रीआचार्यजी द्वारा ब्रह्म संबंध हुआ और वह जीव (वैष्णव) पुष्टिमार्ग की रीति से भगवत्सेवा करने लग गया तब वह सेवा करने में साधन ही श्रीकृष्ण और सेवासिद्ध होने के पश्चात् फल भी श्रीकृष्ण ही हैं।

इसलिये पुष्टिमार्ग में साधन ही में फल की प्राप्ति हुई और वेद मर्यादा में क्रिया साधन रूप पृथक् है और फल हुआ तब मर्यादा की क्रिया का नाश हुआ। पुष्टिमार्ग में साधन में भी श्रीकृष्ण सेवा और फल में भी श्रीकृष्ण सेवा है। तब श्रीकृष्ण कब प्राप्त हो ? जब श्रीठाकुरजी के मुखारविंद रूप श्री आचार्य श्री महाप्रभु की पूर्ण कृपा हो तब यह जीव शरण आये। पुष्टिमार्ग में भगवत्सेवा में रूचि हो, श्रीआचार्यजी की कृपा बिना पुष्टिमार्ग में जीव कभी शरण नहीं आवे और पुष्टिमार्ग में प्रवेश कभी नहीं हो यह निश्चित सिद्धान्त जानना। श्रीआचार्यजी की कृपा किस प्रकार से होती है, उसका आगे वर्णन करते हैं।

मूलं – तदाश्रयः सदा कार्यो मनोवाक्कायवृत्तिभिः ।
स्वकीयता तदीयेषु तद्भिन्ने भिन्नता मता ।।१८।।

श्लोकार्थ – मन वाणी और काया की वृत्ति करके उनका आश्रय सदा कर्तव्य है और जो तदीय (भगवदीय) है उसमें अपनेपन का ममत्व तथा जो उनकी शरण नहीं आये हैं उसमें भेद बुद्धि रखे।

व्याख्या – श्रीआचार्यजी कृपा करे उसका उपाय कहते हैं। जो मन, वचन, कर्म कर एक श्रीआचार्यजी के चरण कमल का आश्रय करे तब श्रीआचार्यजी अनन्य सेवक का भाव देखकर प्रसन्न होते हैं और श्रीआचार्यजी का आश्रय हृदय में दृढ़ नहीं हो तो कोटानकोटि साधन किया करे पर रंचक भी फल सिद्धि नहीं हो। अन्य संबंध से नाश हो जाता है।

श्रीगुसांईजी ने विज्ञप्ति के एक श्लोक कहा है –

"अन्य संबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते"

अन्य संबंध का गंध भी गरदन का ही बाध करता है। अन्य संबंध हो तो सिर ही कटे। जैसे संभरवाले दामोदरदास की वार्ता में प्रसिद्ध है कि स्त्री ने अन्याश्रय किया तो

पुत्र म्लेच्छ हुआ। अन्य संबंध भक्तिमार्ग में महाबाधक है। श्रीआचार्यजी का दृढ़ आश्रय हो और साधन थोड़ा बने तब भी सकल कार्य सिद्ध हो। आश्रय दृढ़ रखना यह वैष्णव का परम धर्म है। श्रीआचार्यजी का दृढ़ आश्रय कब जानना जब श्रीआचार्यजी तदीय अनन्य भक्त चौरासी वैष्णव, अष्टसखा आदि को जिनके हृदय में श्रीआचार्यजी का दृढ़ आश्रय सिद्ध हुआ, उनको श्रीआचार्यजी ने प्रसन्न होकर अपना अनुभव करवाया है। मन, कर्म, वचन से एक श्रीआचार्यजी को जानते हैं ऐसे भगवदीय से सत्संग करे और ऐसे भगवदीय में यह भाव रखे कि जो इनको श्रीआचार्यजी ने कृपा करके दान दिया है वह अहर्निश इनके हृदय में श्रीआचार्यजी बिराजते हैं। इसलिये श्रीआचार्यजी में और भगवदीय में कुछ भिन्नता नहीं है। जैसे अग्नि के पुंज में से चिंगारी उड़ती है वही अग्निरूप है। वैसे भगवदीय भी भगवद् रूप हैं। इसलिये ऐसे भगवदीय में और श्रीआचार्यजी में भिन्न बुद्धि रखे तो उस जीव को पुष्टिमार्ग का फल कभी नहीं हो तथा श्रीआचार्यजी प्रसन्न नहीं होते हैं। जैसे रामानंद ने अपनी स्त्री से कहा कि **"गोबर जल्दी उठा ले नहीं तो वैष्णव उठा ले जायेंगे।"** यह सुनते ही श्रीआचार्यजी ने क्रोध कर त्याग किया, कितनेक (बहुत) जन्मों का अंतराय हुआ। इसलिये भगवदीय में और श्रीआचार्यजी में भेद बुद्धि नहीं रखे।

मूलं – तदीयेषु च तद्बुद्धया भरः स्थाप्यो विशेषतः ।
यथा दूतीषु भवति विषयिणां मतिस्तथा ।।१६।।

श्लोकार्थ – जैसा भाव श्रीआचार्यजी में है उससे विशेष भाव भगवदीय में रखे। जैसे कामी पुरूष है उनकी बुद्धि दूति के विषय में रहती है। वैसे भगवदीय में बुद्धि रखे। अर्थात् कामी पुरूष पर स्त्री से जिस दूती द्वारा वह प्राप्त हो उसका सम्मान बहुत करता है, वैसे ही भगवदीय का सम्मान विशेष आदरपूर्वक करे

व्याख्या – तदीय में लौकिक बुद्धि नहीं रखे तथा यह जाने कि तदीय जन प्रसन्न होंगे तब श्रीआचार्यजी प्रसन्न होकर दान करेगे। उसको लौकिक दृष्टान्त से कहते हैं – जैसे कामी पुरुष हो वह दूति द्वारा परस्त्री को बुलाता है, काम तो उसका परस्त्री से उसका सिद्ध होता है। परन्तु बीच में दूती प्रसन्न होकर करे तो काम सिद्ध हो नहीं तो सिद्ध नहीं हो। इसलिये दूती जिस तरह प्रसन्न रहे वही कामी पुरूष करता है। दूति उस कार्य को सिद्ध करती है उस पर अधिक स्नेह होता है। वैसे ही जीव जब भगवान् से मिले तब ही

इस जीव का कार्य सिद्ध हो। परन्तु भगवान् श्री भगवदीय के संग बिना नहीं मिलते हैं। भगवदीय द्वारा भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसलिये भगवदीय में और भगवान् में समान बुद्धि स्थापित करे

मूलं – **धनं गृहं यथा कृष्णे तथा भक्तिस्थितेऽपि च ।**
विनियोक्तव्यमेवं हि प्रभोर्भावो भविष्यति ।।२०।।

श्लोकार्थ – धन गृहादिक जैसे श्रीठाकुरजी में विनियोग करे वैसे ही भक्त में भी विनियोग करे किसलिये कि प्रभु की प्रसन्नता हो।

व्याख्या – भगवदीय में भाव हुआ यह कब जाने ? जैसे धन गृहादिक श्रीकृष्ण को समर्पण करता है, भाव सहित भगवत्सेवा करता है। वैसे ही भाव सहित भगवदीय की सेवा करे, धन गृहादिक मन वचन कर्म से स्नेह संयुक्त भगवदीय में विनियोग करे, तब भगवान् प्रसन्न होते हैं।

मूलं – **तदीयाश्चेत्स्वतस्तुष्टास्तुष्टः कृष्णो न संशयः ।**
तदीयास्तु निजाचार्यचरणैकपरायणाः ।।२१।।

अनन्यभजनास्तुष्टाः कामलोभविवर्जिताः ।
निरपेक्षा विरक्ताश्च सर्वभूतहिते रताः ।।२२।।

निर्मत्सरा कृष्णसेवाकथादिविहितादराः ।
एवं विधास्तदीयाश्चेत्संगादपि विशेषतः ।।२३।।

श्लोकार्थ – भगवदीय स्वतः प्रसन्न हो तब प्रभु प्रसन्न हो उसमें संशय नहीं है। अब भगवदीय के लक्षण कहते हैं – श्री आचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय जिनको दृढ़ हो।

अनन्य भक्ति करने वाले (अन्याश्रय रहित) संतोष करने वाले, काम लोभ से वर्जित, निरपेक्ष (जिसको किसी की अभिलाषा नहीं) विरक्त (भगवच्चरणारविंद विना और सबसे आसक्ति रहित) सर्वप्राणिमात्र के हित में प्रीति वाले। ईर्ष्या रहित, प्रभु की सेवा कथादिक में आदर करने वाले ऐसे भगवदीय मिले तब उनके संग से ही विशेष फल है।

व्याख्या – ऊपर कहे भावपूर्वक धन, गृह श्रीकृष्ण को समर्पण करे वैसे ही भाव सहित भगवदीय को समर्पण करे वहां कोई कहे कि जो भगवान् की सेवा तो आवश्यक है वह

करनी चाहिए। भगवदीय की सेवा करने से क्या होता है? वहां सिद्धान्त कहते हैं कि भगवदीय की सेवा कर उनको प्रसन्न करना चाहिए। जिससे भगवदीय संतुष्ट हो। जब भगवदीय संतुष्ट नहीं हो तब तक भगवान् भी संतुष्ट नहीं होते हैं। ऐसे जानकर भगवदीय को सर्व प्रकार से संतुष्ट करने, उनको संतुष्ट करने पर निश्चय ही भगवान् संतुष्ट होंगे। वहां कोई कहे कि जो वैष्णव जानकर अपने से बने वह सेवा करे और वैष्णव कठिन आज्ञा करे और अपने से नहीं बने तब वैष्णव संतुष्ट नहीं हो तो क्या करे? इस प्रकार जो कहे वहां सिद्धान्त कहते हैं – जैसे राजा के बालक की सेवा करे तो उस बालक को ज्ञान नहीं हो, वह अनेक वार्ता कहे वह अपने से पूरी नहीं हो तो वह बालक प्रसन्न नहीं हो। किंतु राजा तो अपने मन में जानता है कि इसने मेरे बालक की सेवा बहुत की है। इससे जितना संभव था उतना किया है, यह जानकर राजा तो प्रसन्न ही होता है। ऐसा जानकर अपने शुद्ध भाव से बने उतनी वैष्णव की सेवा करे तब भी वैष्णव प्रसन्न नहीं हो तो कुछ चिंता नहीं, भगवान् तो प्रसन्न ही होंगे। अब वैष्णव कितने प्रकार के हैं, वह कहते हैं, जो ऐसे वैष्णव हैं, उनकी सेवा करे (१) श्रीआचार्यजी के चरणारविंद की भक्ति में परायण हो, अहर्निश इस लोक परलोक में श्रीआचार्यजी के शरण की कामना हो। ऐसे भगवदीय की सेवा करे, सत्संग करे तो जीव की अनन्यता श्रीआचार्यजी में हो। (२) श्रीठाकुरजी की सेवा कर संतुष्ट रहे और देवतांतर का भजन स्वप्न में भी नहीं जाने। तब श्री ठाकुरजी कृपा कर प्रसन्न हों। (३) किसी वस्तु की कामना नहीं है तथा तीनों लोक पर्यन्त ब्रह्मानंद मोक्ष पर्यन्त तुच्छ जाने। (४) लौकिक काम, क्रोध, मद, मत्सर, विषय वासना की गंध जिसमें नहीं हो और लोभ नहीं हो, जो सारा धर्म द्रव्य के लिये बेचे, क्योंकि इस कलियुग में द्रव्य से सकल कार्य सिद्ध होते हैं। उस द्रव्य में जिसका रंचक भी लोभ नहीं हो, उसको भगवदीय जानना। (५) निरपेक्ष भाव से भगवत्सेवा करे, कुछ लौकिक, वैदिक कामना मन में नहीं रखे। किसी राजा द्रव्य वाले की अपेक्षा मन में नहीं रखे। (६) मन से विरक्त रहे, स्त्री कुटुम्ब, गृह, देह संबंधी सारे जगत में दृढ़ वैराग्य जाने। किसी से भी अपने स्वार्थ के लिये कुछ याचना नहीं करे यह ध्यान रहे कि श्रीकृष्ण ही सर्व कार्य सिद्ध करेगे। मेरा धर्म तो भगवत्सेवा ही करने का है। (७) सर्वभूत प्राणिमात्र में हित रखे, किसी का बुरा करने का सर्वथा विचार नहीं रखे, मन, वचन, कर्म, से सब का हित ही करे (ऐसे भगवदीय का संग अवश्य ही कर्तव्य है जिनकी सेवा स्नेहपूर्वक करे) (८) मत्सर (जो ओर का उत्कर्ष नहीं देख सके वह) नहीं करे

बड़े शिक्षापत्र

अपने से और वैष्णव थोड़ा भगवद् धर्म करता हो तो भी उसकी बड़ाई करे धन्यवाद दे। यह नहीं जाने कि जो मैं बहुत धर्म करता हूं। यह विचार करे कि मेरे में तो रंच भी भगवद् धर्म नहीं हैं इस भांति दीनता रखे। (६) श्रीकृष्ण की सेवा ही आदरपूर्वक करे श्रीकृष्ण की कथा भी आदरपूर्वक सुने। क्योंकि भगवत्सेवा करने से सभी इन्द्रियां भगवत्परायण हो और श्रीकृष्ण की कथा सुनने से भगवत्सेवा में रुचि उत्पन्न हो (इसलिये भगवत्कथा भी उतनी आदरपूर्वक सुनना भगवत्सेवा भी करना) इस भांति कह आये हैं ऐसे नवगुणों से परिपूर्ण भगवदीय हो उनका संग अवश्य नियमपूर्वक करे इस भांति शुद्ध मन से उत्तम भगवदीय का संग करे उनकी सेवा करे भगवदीय कहे उसमें मन में विश्वास रखे। स्नेहपूर्वक सब करे इस प्रकार वैष्णव रहे तो श्रीआचार्यजी प्रसन्न होकर आनंद दान करे।

मूलं – सर्वथा शुद्धभावानां स्वीकृतानां कृपालुना ।
सर्वं श्रीवल्लभाचार्यप्रसादेन भविष्यति ।।२४।।

श्लोकार्थ – दयालु श्री ठाकुरजी, श्री मदाचार्यजी और भगवदियों ने अपने किए हुए ऐसे शुद्ध भाव वालों के श्रीमदाचार्य जी के प्रसाद से सर्वकार्य भी सिद्ध होंगे।

व्याख्या – ऊपर जितना प्रकार कहा है वह सब शुद्ध भाव से करे श्रीकृष्ण की कथा का श्रवण भी शुद्ध भाव से करे। सेवा भी शुद्ध भाव से करे। गुरू सेवा भी शुद्ध भाव से करे, वैष्णव की सेवा शुद्ध भाव से करे सब भगवल्लीला में शुद्ध भाव रखे। सर्व सामग्री में शुद्ध भाव रखे। तब भगवदीय प्रसन्न होकर कृपा करे तो प्रभु भी कृपा करे

वहां कोई कहे कि जो इतना धर्म महाकठिन, इस कलियुग में जीव से कैसे बन सकता है। जीव से तो एक धर्म भी महाकठिनता से सिद्ध होता है। इस भांति संदेह करे वहां सिद्धान्त कहते हैं कि जो श्री वल्लभाचार्य जी इस कलियुग के जीवों पर कृपा करने के लिये प्रकट हुए हैं। यह पुष्टिमार्ग सर्वोपरि प्रकट किया है।

श्रीआचार्यजी महाप्रभु की कृपा से सब सुलभ हैं। जीव स्वभाव से दुष्ट है। श्रीआचार्यजी महाप्रभु कृपा करे उसको सब सुगम है। इसलिये मन में एक श्रीआचार्यजी के चरण कमल का आश्रय दृढ़ रखे सभी कार्य आश्रय से ही निश्चित रूप से सिद्ध होंगे। निश्चय पुष्टिमार्ग में फल है, वह श्री महाप्रभुजी दान करेगे। इस प्रकार प्रथम शिक्षापत्र में अंगीकृत जीवों की कर्त्तव्यता का निरूपण है। ऐसे प्रथम शिक्षापत्र का भाव यथा बुद्धि कहा है।

बड़े शिक्षापत्र २

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रज भाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र २

इस द्वितीय शिक्षापत्र में श्री हरिराय जी निरोध की सिद्धि के प्रकार का निरूपण कर रहे हैं। ऊपर कहे उस रीति से प्रथम शिक्षापत्र का भाव हृदय में धारण करे तो उस जीव के ऊपर श्री आचार्यजी महाप्रभु निश्चय ही कृपा करे। पुष्टिमार्ग में रस रूप फलात्मक श्रीकृष्ण है, उसका दान करे। यह इस दूसरे शिक्षापत्र में कहते हैं। श्रीकृष्ण का स्वरूप हृदयारूढ़ हो, जैसे स्वरूप का अनुभव हो।

मूलं – यशोदोत्संगललितः कचग्रथितवेणिकः ।
मुक्ताफललसद्भालचलत्कुटिलकुंतलः ।।१।।

श्लोकार्थ – अठारह श्लोक पर्यन्त स्वरूप का ही वर्णन है। श्रीयशोदाजी के उत्संग (गोद) में शोभित हैं, केश वेणीरूप गूंथे हुए हैं। मुक्ताफल से भाल सुशोभित है। चलायमान कुटिल (वक्र) केश हैं।

व्याख्या – श्री यशोदोत्संग लालित यह केवल भावात्मक स्वरूप है। वसुदेव जी के यहां जो मथुरा में प्रकट हुए हैं, वह केवल रसात्मक नहीं हैं। वे अनेक कार्यार्थ, भूमिभार हरणार्थ, मोक्षदानार्थ प्रकट हुए हैं। श्रीयशोदाजी के वहां जो स्वरूप प्रकट है वह केवल व्रजभक्तों को आनंददानार्थ है। वह श्री यशोदोत्संग लालित जो रसात्मक है वही यह श्री आचार्यजी के पुष्टिमार्ग में सेवनीय हैं। उसमें भी दो प्रकार हैं – कल्प–कल्प में द्वापर युग आता है, तब श्री नंद यशोदा प्रकट होते हैं। यशोदोत्संग लालित पुष्टिमार्ग में सेव्य नहीं हैं।

कल्प–कल्प में कभी अंशावतार होते हैं और सारस्वत कल्प में जो स्वयं प्रभु आप पधारे हैं, वेद की ऋचा का वरदान दिया है। वह सारस्वत कल्प के यशोदोत्संग लालित यह पुष्टिमार्ग में सेव्य है। यह श्रीगुसांईजी के वचन हैं – **"जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम् तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः"** यशोदोत्संग लालित

बड़े शिक्षापत्र

श्रीकृष्ण को परम तत्व जानना। श्री यशोदोत्संग लालित बिना ओर को जाने उसको आसुर मानना। सर्वलीला सर्ववस्तु के कारण रूप यशोदोत्संग लालित है, उनका श्रीयशोदाजी अति स्नेह से उत्संग (गोद) में लिये लालन पालन करते हैं, परम आनंद में मग्न हैं। श्रीगुसांईजी **"मंगलमिह श्रीनंदयशोदानामसुकीर्त्तनमेतद्रचिरोत्संगसुलालित पालितरूपम्"** ऐसे मंगल मंगल ग्रंथ में कहा है उस रीति से यशोदाजी से मंगल रूप को पाकर गोद में ले आप ही मंगल रूप हुई। ऐसे स्वरूप का ध्यान करती है। श्रीयशोदाजी उत्संग में पुत्र को लेकर सुन्दर घुंघराले बालों को संवार कर वेणी गूंथती हैं। अथवा श्रीयशोदाजी अपनी गोद में प्रभु को लेकर अनेक मेवा, मिठाई अरोगाती हैं। अनेक खिलोनों से खिलाती हैं। कुमारिका घर में जो भक्त हैं वे वेणी गूंथती हैं। अथवा श्रुतिरूपा श्रीचंद्रावली जी पधार कर बाल भाव से गूंथती हैं अथवा मुख्य स्वामिनी जी श्री वृषभानुजा पधार कर बालभाव से गूंथती हैं।

अथवा श्री ठाकुरजी के बालभाव का हठ है उससे श्रीयशोदाजी वृषभानु कुमारिकाओं को अपने पास बिठाकर दोनों स्वरूप की वेणी गूंथती हैं। इस भांति अनेक भाव हैं। ये श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से अनुभव होते हैं। इस भांति वेणी संवार कर के सुन्दर भाल पर मोती की लड़ शोभा देती है। ऐसा जान पड़ता है मानो नीलकमल के ऊपर बराबरी जल की बूंद आ रही है। श्याम चंद्रमा के ऊपर तारागण की पंक्ति आ रही हैं।

शीतल मंद सुगंध वायु से कुंतल जो अलक चलायमान हैं वह परम अद्‌भुत शोभा देते हैं। मानो मुखकमल के मकरंद वश होकर अलि (भौंरा) जो भ्रंवर के छोटे पुत्र की पंक्ति की पंक्ति आकर पान करते हैं तथा मुख चंद्रमा पर अलक से सर्प के बच्चे आये हैं। इस भांति शिखा से नख पर्यन्त सिंगार का भाव हृदय में विचार करते हैं।

मूलं – मुक्ताफलावलीभालप्रांतकर्णविभूषितः ।
कस्तूरिकातिलकयुगभालभूषातिसुंदरः ।।२।।

श्लोकार्थ – मोतियों की मालाओं से भाल के मध्य से कर्ण तक सुशोभित हैं। कस्तूरी से तिलकयुक्त भाल के भूषण की शोभा से अति सुन्दर है।

बड़े शिक्षापत्र २

व्याख्या – मुक्ता फल की लड़ भाल से कर्ण तक बंधी हुई धारण कर रखी है। ऐसा लगता है मानो श्याम मेघ में दो बक की पंक्ति परम शोभा देती हैं। सुन्दर कस्तूरी का तिलक भाल पर विराजित हैं। शृंगार रसात्मक श्री ठाकुरजी के भाल पर स्वतः सिद्ध सर्वकाल में कस्तूरी का तिलक है। उससे श्री चंद्रावली जी आप अपने भाव संबंधी श्रीठाकुरजी को किया है। कस्तूरी का तिलक और मुख्य श्री स्वामिनी जी ने अपने भावरूप सुवर्ण का भूषण भाल पर धराया है। इस भांति सारे आभूषण भावात्मक हैं।

मूलं – काश्मीररागविलसत्कपोलद्वयचित्रितः ।
स्फुरच्छ्रुतियुगप्राप्तकुंडलद्युतिमंडितः ।।३।।

श्लोकार्थ – केसर के रंग से दोनो कपोल चित्रित हैं और दोनो कानो में चमकते हुए कुण्डलों की कांति से कपोल चमकते हैं।

व्याख्या – केसर कुंकुमादि – अंगराग से कपोल चित्रित हैं। दोनो कपोल में कमल पत्र परम शोभायमान हैं। यह कमल पत्र श्री स्वामिनी जी के मनोरथ का है। क्योंकि जो कमल पत्र है वह जब ब्याह होता है तब ही धरते हैं। श्री स्वामिनी जी अपना मनोरथ करती है। अपने श्री अंग के वर्ण रूप केसर से कमल पत्र दोनो कपोल में संवार कर यह बताया है कि हमसे ही ब्याह होगा। अथवा श्रीयशोदाजी श्री ठाकुरजी को श्री स्वामिनी जी की गोद में पधराकर आप गृहकार्य करती हैं तब श्रीस्वामिनीजी एकांत स्थान में पधरा कर श्रीठाकुरजी से प्रार्थना करती है कि हमारा चिरकालका विरह तुम दूर करो तब श्री ठाकुरजी किशोर वय को अंगीकार कर श्री स्वामिनी जी के सारे मनोरथ पूर्ण करते हैं। तब श्री स्वामिनी जी दोनों कपोल पर कमल पत्र अपने हाथ से संवार कर ब्याह का मनोरथ पूर्ण करती है। नित्य इसी भांति हमको सुख दिया करो **"दिन दूल्हे मेरो कुंवर कन्हैया'** इस पद के अनुसार अनेक लीला गोप्य कर पीछे श्रीठाकुरजी को गोद में ले श्री स्वामिनी जी श्रीयशोदाजी के पास आकर कहती हैं कि यह तुम्हारा पुत्र अति चंचल है यह किसी प्रकार रहता नहीं है। ठोर ठोर फिरता है। एक स्थान पर इसका मन लगता नहीं है। खिलाकर लायी हूँ। तब श्रीयशोदाजी श्री स्वामिनी जी के ऊपर प्रसन्न होकर श्रीठाकुरजी को अपनी

गोद में ले लेती हैं। विधि से आंचल पसार कर यह प्रार्थना करती है कि जो वृषभानु कुमारी से मेरे पुत्र का ब्याह हो यही मांगती हूं। पीछे मेवा मिठाई से श्री स्वामिनी जी की गोद भर देती है। इस भांति श्री ठाकुरजी के कपोल चित्रित हैं और दोनों श्रुति जो कर्ण हैं उसमें कुंडल शोभायमान हैं। वे कुंडल अति चंचल हैं, वे कभी मकराकृति कुंडल धरते हैं, कभी मयूराकृति कुंडल धरते हैं। उसमें मकराकृति में स्वकीय भक्त के मनोरथ और मयूराकृति में परकीय सामने भक्त खड़े हैं। उनकी कांति गंडस्थल पर झलकती है। वह कोटि कंदर्पों की छवि को हरण करती हैं। नीलमणि की कांति को लजाती हैं।

मूलं – चिबुकांतलसद्वज्रभूषः सांजनलोचनः ।
नयनप्रांतविलसन्मषीबिंदुसुशोभनः ।।४।।

श्लोकार्थ – चिबुक के मध्य में शोभित हीरा का भूषण है। अंजन मुक्त नेत्र हैं और नेत्र प्रांत के पास शोभित मषी के बिंदु में सुशोभित हैं।

व्याख्या – सुन्दर चिबुक पर हीरा का भूषण शोभित हैं। परम उज्ज्वल श्री चंद्रावली जी का भाव है। उसका मधुराष्टक की टीका में विस्तार से वर्णन है। श्री स्वामिनी जी अधरामृत का पान करते रस के आधिक्य से मुख कमल से अधर रस स्रवित होता है। वह चिबुक पर आता है। उसका चंद्रावली जी आस्वादन करती है। इस भाव से चिबुक भूषण बिराजते हैं। नयन कमल में अंजन श्रृंगार रस से ही होता है। वह नयन कटाक्ष दश–दिशा के भक्तों के ऊपर पड़ता है। उससे व्रजभक्त मोहित होकर के अपना गृहकार्य भूल जाते हैं। क्योंकि जो नेत्र अति कुटिल हैं, अति चपल हैं, अति अरूण घूर्णायमान हैं, अनेक भाव से भरे हुए हैं। श्री गुसांईजी ने ललित त्रिभंग ग्रंथ में वर्णन किया है – दश दिशा के भक्तों को नेत्र ही द्वारा रसपान कराते हैं। श्रीयशोदाजी ने मषी बिन्दु का भ्रुव पर चिह्न दिया है। मेरे पुत्र को किसी की दृष्टि नहीं लगे। वह मषी बिन्दु परम शोभित हैं। सबके मन को हरण करता है।

मूलं – लालामिषाधररसस्रावणज्ञानबोधकः ।
बाल्यभावाऽतिसुलभरसबोधनतत्परः ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र २

श्लोकार्थ – लार के मिष से अधर रस का स्रवन करना, उसके करने से ज्ञान करने वाले और बाल्य भाव से अति सुलभ रस को बताने में तत्पर है।

व्याख्या – आरक्त अधर से रस स्रवित हो रहा है। श्रीयशोदाजी यह जानती हैं कि बालक के लार गिरती है। श्रीयशोदाजी मुख चुंबन करती हैं। तब बाल लीला के अधर रस का आस्वाद होता है क्योंकि पुष्टि लीला में अधर रस पान बिना अंगीकार नहीं होता है और श्रीठाकुरजी तो नित्य लीला में सबका अंगीकार कराने के लिये पधारते हैं। तब श्रीयशोदाजी का वृद्ध गोपीजनों का तथा श्री नंदराय जी को अधरामृत कैसे प्राप्त हो? इसलिये बालभाव से लार झरती है। सखाओं को ग्वाल मंडली में झूठा खिलाते हैं, व्रजभक्तों को क्षण–क्षण में अधरामृत कराने से ही जीवन है। वेणु द्वारा अधर रस से पशु–पक्षी सभी की बुद्धि ठीक रहती है। अन्य संबंध नहीं होता है। बाल्यभाव में श्री स्वामिनी जी को अधरामृत पान बहुत सुलभ है। क्योंकि श्रीयशोदाजी से कहकर श्री ठाकुरजी को पधराकर ले जाती है। तुम्हारे पुत्र को खिलाकर लावें। उस समय सब कोई यह जानते हैं कि जो बालक को खिलाने ले जाती हैं। किसी की विषम बुद्धि नहीं होती है। एकांत में ले जाकर गुप्त रीति से प्रार्थना करती है। श्री ठाकुरजी तो सदा रसदान में तत्पर हैं। इससे सकल भक्तों के मनोरथ सिद्ध करने हैं।

मूलं – **मुखांबुजनिजांगुष्ठप्रवेशनपरायणः ।**
भक्तिप्रविष्टस्य गतिक्रिया शक्तिविबोधकः ।।६।।

श्लोकार्थ – अपने मुखारविंद में अपने अंगुष्ठ प्रवेश कराते हैं। भक्ति में प्रविष्ठ ऐसे जीव की गति और क्रिया शक्ति को जताते हैं।

व्याख्या – श्री ठाकुरजी सुन्दर पालने में पोढ़े हैं, अपने अंगुष्ठ को बारंबार मुख में प्रवेश करते हैं। चरण कमल के अंगुष्ठ दोनो श्रीहस्त से पकड़कर अपने मुख में प्रवेश कराते हैं। उस करने से यह जताते हैं कि चरणारविंद में कोटानकोटि भक्तों के मन लग रहे हैं। उन भक्तों के मन में यह ताप अनेक काल से रहता है – जो हमको अधरामृत का पान कभी नहीं हुआ वह रस किस भांति का है। भक्तों की आर्ति प्रभु सह नहीं सकते हैं इसलिये बाल भाव से कोई जानता नहीं हैं। चरणारविंद के भक्तों को अधरामृत रस का पान कराते हैं

बड़े शिक्षापत्र

अथवा प्रभु यह विचार करते हैं जो मेरे चरणारविंद में ऐसा क्या रस है जो सारे भक्त चरणारविंद को पूजते हैं। ध्यान धरते हैं। उस रस को मैं भी तो देखूं। इसलिये बालभाव से आप ही चरणारविंद के रस का आस्वादन करते हैं। व्रजभक्त चारों ओर वेष्टित हो रहे हैं, उनको प्रभु नेत्रों के कटाक्ष से आगत स्वागत करते हैं। रस संकेत बताते हैं। अथवा कभी श्रीहस्त का अंगुष्ठ मुख में रखते हैं। उसको करने से अंतर्गृहता देह छोड़कर श्री ठाकुरजी के पास आई है उनको श्रीहस्त से पकड़ कर श्री मुखारविंद में धारण करते हैं। वह कभी एकांत में उन भक्तों को बाहर निकालकर रमण कर पीछे पुनः मुखारविंद में धर लेते हैं। लोगों को दिखाने के लिये बालक अंगुष्ठ चूसते हैं। श्री स्वामिनी जी आदि को अनेक रमण बंधादिक क्रिया का बोधन होता है। इस भांति श्री ठाकुरजी जिसका जैसा अधिकार है उसको वैसा ही रसपान कराते हैं।

मूलं – ग्रीवालग्नलसन्मुक्ताफलमालविभूषणः ।
तदुत्तर लसत्स्वर्णमणिमालातिमोहनः ।।७।।

श्लोकार्थ – कंठ में लग्न शोभित मोतियों की माला भूषित है और उसके ऊपर सुवर्ण के मणिका की माला है। वह अति मोह उत्पन्न करती है।

व्याख्या – ग्रीवा से लगी मोतियों की माला परम शोभा दे रही है। उसी के पास सुवर्ण के मणिका की और मणिमाला गूंथी हुई श्रीकंठ में धारण की है। उसको करने से अपने भक्तों को यह बताया कि मैं तुमको अहर्निश कंठ में रखता हूं। मुक्ता की माला सुवर्ण तथा मणिमय अनेक भक्तों के भावात्मक हैं इसलिये प्रभु ने प्रेम से धारण किया है।

मूलं – उरःस्थललसत्स्वच्छवक्रवैयाघ्रभूषणः ।
मुक्ताफलस्वर्णमालायुततुंदिलितोदरः ।।८।।

श्लोकार्थ – हृदय में शोभायमान स्वच्छ और वक्र बधनखा के भूषण वाले और मुक्ता फल वाले माला और सुवर्ण माला सहित फूला हुआ सुन्दर उदर वाले हैं।

व्याख्या – उरः स्थल के ऊपर के हरि का नख (बधनखा) परम शोभा देता है। श्री

यशोदाजी ने अपने पुत्र की रक्षार्थ धराया है और व्रज भक्तों को अनेक लीला का सूचन कराते हैं। नखदान रासादि लीला विहार में होती है। बधनखा वक्र है उसका अभिप्राय यह है कि कितने ही भक्तों के हृदय टेढ़े हैं उनको अपने वश करना है। इसलिये बधनखा टेढ़ा अपने हृदय में धरकर यह जताया है कि मैं भी त्रिभंगी टेढ़ा हूं। इस भांति भक्तों के मन सीधे कर अपने हृदय में भक्तों को रखे हैं। अनेक भक्तों के घर श्री ठाकुरजी पधारते हैं। तब वहां द्वार ऊपर रखवाली चाहिए तब नख से लीला संबंधी आधि दैविक नृसिंह जी प्रकट कर द्वार ऊपर रखवाली रख भक्तों के संग निर्भयता से लीला विहार करते हैं। इसलिये द्वार पर सिंह हैं वह पुष्टि लीला संबंधी है इसी कारण श्री ठाकुरजी ने नख भूषण हृदय में धारण किया है। इस भांति सारे आभूषण व्रजभक्तों के लीला संबंधी अनुकूल है। इसलिये श्री ठाकुरजी प्रेम से पास रखते हैं। जो व्रजभक्त की लीला में प्रतिकूल हो उसको तत्काल श्री ठाकुरजी त्याग करते हैं। इसलिये पुष्टिमार्ग में अंगीकार व्रजभक्तों की कृपा से होता है और कोई उपाय नहीं है। इस भाव से बाघनख प्रभु धारण करते हैं। उस नख भूषण के पास मुक्ता फल और सुवर्ण के मणिकायुक्त गूंथी ऐसी सुन्दर माला ऊपर विराजमान हैं। वह सुवर्ण मणिका श्री स्वामिनी जी के भाव तथा मुक्ताफल श्री चंद्रावली जी के भाव से श्री ठाकुरजी अपने हृदय में धारण करते हैं।

मूलं – बाहुमध्यलसद्रत्नजटितांगदसुंदरः ।
पटगुच्छलसत्स्वल्पकरकंकणभूषणः ।।६।।

श्लोकार्थ – दोनों भुजा के मध्य रत्न जड़ित बाजूबंध से सुन्दर हैं पटगुच्छ सहित शोभायमान छोटी श्रीहस्त में कंकण के आभरण धारण कर रखे हैं।

व्याख्या – सुन्दर बाहू के बाजूबंध रत्न जड़ित हैं वह नवरत्नयुक्त जड़ाव दोनों भुजा में शोभा देता है। वामभुजा में श्री स्वामिनीजी का भावात्मक तथा दक्षिण भुजा में श्री चंद्रावली जी का भावात्मक है। पाट के गुच्छों में पिरोये ऐसे छोटे हलके दोनों कर में कंकण परम शोभायमान हैं।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – दशांगुलिलसद्रत्नजटिसोत्तममुद्रिकः ।
किंकिणीपटगुच्छातिविराजितकटिस्थलः ।।१०।।

श्लोकार्थ – दश अंगुलियों में विराजित रत्न जड़ित उत्तम मुद्रिका धारण कर रखी है। किंकिणी (क्षुद्रघंटिका) युक्त पाट गुच्छ से कटिस्थल अतिशोभायमान है।

व्याख्या – दोनों श्रीहस्त की दश अंगुली में रत्न जड़ित जड़ाव परम उत्तम मुद्रिका शोभित है। उन दश मुद्रिका का अभिप्राय यह है कि जो दश प्रकार के भक्तों के भावात्मक हैं। जिस रस के जो भक्त हैं उनको उसी अंगुली से नखदान कर परम सुख देते हैं। कटिस्थल पर जो पटगुच्छ में पिरोई किंकिणी बांधी है। भक्तों को किंकिणी नाद से अनेक लीला का स्मरण होता है।

मूलं – सनूपुरपदन्यासध्वनिमोहितगोपिकः ।
दिगंबरो नखविधुज्योत्स्नाजितनिशापतिः ।।११।।

श्लोकार्थ – नूपुर युक्त चरणारविंद धरने पर नूपुर के शब्द से व्रजभक्तों को मोहित करते हैं और आप वस्त्ररहित (बालभाव से) हैं, दशनखस्वरूप चन्द्रमा की किरण से चंद्रमा को जय करने वाले हैं।

व्याख्या – चरण कमल में परमसुन्दर नूपुर धारण किये है। उन नूपुर की ध्वनि को सुनकर अनेक गोपीजन मोह को प्राप्त करते हैं। बाल लीला का स्वरूप दिगम्बर निरावरण सर्वांग का दर्शन कराते हैं। श्री नवनीतप्रिय जी श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप में प्रकट के दर्शन होते हैं। दश नख चन्द्र चरणारविंद में धारण किया है। उन नख चंद्र के आगे चंद्रमा लज्जित होता है। चंद्रमा को जीते ऐसे नखचन्द्र भक्तों के हृदय के अज्ञान रूप अंधकार दूर करते हैं। यह श्री ठाकुरजी के नखचन्द्र एक एक नख कोटानकोटि अंधकार का नाश कर्ता है। दशनखचन्द्र जिन भक्तों के हृदय में रहते हैं उनके हृदय में प्रकाश होता है। उसमें क्या कहना ? नखचन्द्र ने अपने ज्योति से प्रकाश कर चन्द्रमा, सूर्य, दर्पण, मणि आदि सब के प्रकाश को जीता है और दशनख चन्द्र हैं उसमें वाम चरणारविंद के नख पुष्टि

भक्तों के हृदय का तिमिर दूर करता है और दक्षिण चरण के नख मर्यादा भक्तों के तिमिर को दूर करते हैं। इस भांति शिखा से नख पर्यन्त स्वरूप का वर्णन किया है।

मूलं – स्वरूपप्रतिबिंबैकदृष्टिहास्यमुखांबुजः ।
पंकांगरागरुचिरः सदा मुग्धशिरोमणिः ।।१२।।

श्लोकार्थ – स्वरूपक के प्रतिबिंब में ही दृष्टि लग रही है। उसके कारण हास्य युक्त मुखारविंद हो रहा है। श्रीअंग में कीच के लेप (अंगराग) करके शोभित हैं। (प्रतिबिंब में हास्य तथा श्रीअंग में कीच का लेप करने का तात्पर्य यह है जो) मुग्ध शिरोमणि है। (अर्थात् मुग्ध बालक नाट्य है।)

व्याख्या – ऊपर कथित ऐसे सुन्दर बाल स्वरूप की लीला श्री ठाकुरजी करते हैं। अपना प्रतिबिंब कभी मणि जटित आंगन में देखकर पकड़ने को दौड़ते हैं। प्रतिबिंब श्रीहस्त में नहीं आता है। तब मुखारविंद में हंसी आती है। कभी मणिजटित खंभ में अपना प्रतिबिंब देख बारंबार किलकिलकर हंसते हैं। व्रज की रज सर्वांग में लग रही है। वह परम शोभा देती है। मुग्ध लौकिक बालक की तरह अनेक लीला करते हैं। परन्तु मुग्धशिरोमणि है मानो कुछ भी नहीं जानते हैं। इस भांति व्रज भक्तों को सुख देते हैं।

मूलं – लीलान्यज्ञानरहितः सर्वलीलाविचक्षणः ।
कंदर्पकोटिलावण्यो मानिनीमानदर्पहा ।।१३।।

श्लोकार्थ – लीला करके अन्य ज्ञान रहित दिखाई देते हैं और आप तो सर्व लीला में विचक्षण हैं। कोटि कंदर्प (कामदेव) से अधिक लावण्य (श्रीअंग की शोभा) है और मानवती के मान का गर्व हरने वाले हैं।

व्याख्या – सभी लोगों को यह दिखाई पड़ता है कि केवल बालक है कुछ ओर लीला को नहीं जानते हैं। परम मुग्ध है, मातृचरण (श्री यशोदाजी)। श्री नंदराय जी, रोहिणी जी आदि वृद्ध गोपी सभी केवल बालकही जानते हैं और अंतरंग व्रजभक्त यह जानते हैं कि सर्वलीला में परम चतुर हैं। मातृचरण के आगे मुग्धता जताते हैं तो क्या हुआ ? यह भाव व्रजभक्त जानते हैं। कोटि कोटि कंदर्प जिनकी शोभा देखकर लज्जित होते हैं। ऐसे लावण्य युक्त जिनका श्रीअंग परम शोभायमान है। मानिनी जो श्री स्वामिनीजी उसके मान को हरण

करते हैं। यह विलक्षण रीति है जो एक कालावच्छिन्न सारी लीला का अनुभव कराते हैं। श्रीगुसांईजी ने पलना में कहा है जो – **"मानिनी मानहरणम्"** श्री यशोदाजी के आगे पलना में झूलते हैं उसी समय मानिनी (श्री स्वामिनी जी) का मान हरण करते हैं। ऐसे विरुद्ध धर्माश्रय अलौकिक बालक हैं।

मूलं – स्वगोपिकागूढचौरः कृतसंकेतगोपनः ।
परमानंदसंदोहः सदा दुःखविवर्जितः ।।१४।।

श्लोकार्थ – अपनी गोपिकाओं के भाव को गूढ़ रखने वाले हैं तथा गोपी के भाव चोर ने वाले हैं। किये गये संकेत को गुप्त रखने वाले हैं। उत्तम आनंद के समूह रूप हैं। सदा दुःख रहित हैं।

व्याख्या – अपनी गोपिका (श्री स्वामिनीजी) का गूढ़ भाव है उनके घर चोरी का संकेत करते हैं। पीछे ओर गोपीजन के आगे स्वामिनी का संकेत छिपाते हैं कि यह नहीं जाने तो अच्छा है। अथवा समस्त गोपी गोपीजन के घर श्री ठाकुरजी गूढ़ भाव से छिपकर पधारते हैं। दूध, दही, माखन और सारी सामग्री अरोगते हैं। पीछे वह गोपीजन आते हैं। तब उनसे एकांत में संकेत करते हैं। पीछे कोई गोप आता है। अथवा मातृचरण श्री यशोदाजी आती हैं। उनके आगे वह संकेत को छिपाते हैं तथासमस्त भक्तों के संग संकेत करते हैं। वह एक–एक भक्त के आगे संकेत छिपाकर रखते हैं। यह जानते हैं कि हमको ही श्री ठाकुरजी मिले हैं और को नहीं। इस भांति रमण करते हैं अथवा समस्त भक्तों के मध्य में श्री स्वामिनी जी बैठी हैं तब श्री ठाकुरजी (सेन) संकेत में श्री स्वामिनी को गूढ़ भाव से और कोई नहीं जाने इस भांति जताते हैं। अमुक ठोर पर आने का संकेत है। तब श्री स्वामिनी जी कुछ मिष बनाकर श्री ठाकुरजी के पास पधारती हैं। पीछे अनेक भांति लीला कर सब सखियों के आगे रस लीला गुप्त करते हैं। परम आनंदरूप है इसलिये समस्त भावों को परमानंद का दान करते हैं और सर्वकाल दुःख रहित है।

मूलं – असमक्षो दुःखितानां प्रपंचसुखिनामपि ।
दयानिधिर्मुग्धभावः स्वीयवाक्यैककारकः ।।१५।।

बड़े शिक्षापत्र २

श्लोकार्थ – चिंतामुक्त युक्त हृदय वालों को तथा प्रपंच के स्वल्प स्वल्प सुखों में आसक्त है उन दोनो को प्रभु दर्शन नहीं देते हैं। आप दया निधि हैं एवं मुग्ध भाव प्रदर्शित कर रहे हैं और अपने भक्तों के वचन पूर्ण करते हैं।

व्याख्या – लौकिक प्रपंच के अनेक प्रकार के काम, क्रोध, मोह, मद, मात्सर्यादि माया संबंधी दुःख है उन सभी को मिटाने वाले हैं। जो अविद्या रूपी पूतना थी उसको श्री ठाकुरजी ने मारकर समस्त भक्तों की अविद्या दूर की थी। क्योंकि भक्तों का सामर्थ्य अविद्या दूर करने का नहीं था। इसलिये श्री ठाकुरजी ने अपने भक्तों के अर्थ व्रज में अवतार धारण किया। इसलिये सभी की अविद्या दूर कर अनेक लीला रस का अनुभव कराया, परम सुख दिया, दुःख का नाश किया क्योंकि वे दयानिधि हैं भक्त दुःख पावे उसको नहीं सह सकते हैं। लोगों को दिखाने के लिये मुग्ध भाव को अंगीकार किया है। मानो कुछ जानते ही नहीं। क्योंकि जो भक्तों पर ईश्वर भाव प्रकट हो जाय तो वात्सल्य भाव छूट जाता है। ईश्वरता से करे सो यह जाने कि सारे जगत् के पोषणकर्ता हैं इनको मैं भोग क्या धरूँ ? आभूषण, वस्त्र, खिलौना क्या दूं ? सब कुछ श्री ठाकुरजी का ही है। इस भांति स्नेह छूटे तो पुष्टिभक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये श्री ठाकुरजी मुग्ध लौकिक बालक की तरह लीला करते हैं। भूखे होते हैं तब रूदन करते हैं हट करके माता से भोजन मांगते हैं। इसलिये भक्तों के ऊपर कृपा करने के लिये मुग्ध भाव को श्रीठाकुरजी ने धारण किया है। मुग्ध भाव में थोड़ी–सी वस्तु से संतुष्ट होते हैं। ईश्वरता सहित प्रभु मांगे तो भक्तों से दिया नहीं जाय, जैसे राजा बलि से तीन पग धरती मांगी वह राजा बलि से नहीं दी गई। इसलिये मुग्ध भाव हो व्रज भक्तों को सुख देते हैं। अपने व्रज भक्त जो अंगीकृत हैं उनके वाक्य के पूर्ण कर्ता हैं। उसको श्री भागवत् में कहा है। कोई व्रजभक्त कहता है कि पीठा उठाकर लाओ, कोई कहता है पादुका लाओ, तुमको माखन देऊँगी, कोई कहता है नाचो, तब श्री ठाकुरजी सब का क़हना करते हैं। जिस प्रकार व्रज भक्त सुख पाते हैं वही श्री ठाकुरजी करते हैं।

मूलं – **प्रपंचनाशनस्वीयनिरोधकृतितत्परः ।**
बालभावग्रहपरः क्षणक्षणविलक्षणः ।।१६।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – आप भक्तों का प्रपंच नाशपूर्वक निरोध करने में तत्पर हैं और बालभाव को ग्रहण करते हैं तथा क्षण–क्षण में विलक्षण हैं।

व्याख्या – श्री ठाकुरजी अपने निज भक्तों के लौकिक गृहाद्यासक्त मन है वहां से छुड़ाकर अपने में लगाते हैं। इसलिये व्रजभक्तों के घर श्रीठाकुरजी चोरी करने के लिये पधारते हैं। व्रजभक्तों के दूध, दही, माखन की चोरी कर उनके मन में श्री ठाकुरजी ने अपना ध्यान कराया कि अब चोरी करने को प्रभु आते होंगे और वेणुनाद कर सर्व भक्तों का मन हर लिया। उस करने से पति, पुत्र, गृहादि देह संबंधी सभी को भूल जाते हैं और अविद्या रूप पूतना को मार कर समस्त भक्तों की अविद्या दूर करते हैं। अपने भक्तों के निरोध करने में तत्पर हैं, इन्द्रयज्ञ व्रजवासी करते वह इन्द्र का यज्ञ छुड़वाते हैं। गिरिराज की पूजा करा आपने सारी सामग्री अंगीकार की, संयोगात्मक सारी लीला कर बाहर की सारी इन्द्रियों का निरोध किया और वनांतर देशान्तर लीला कर मन इंद्रियों का निरोध किया। जैसे रास पंचाध्यायी में प्रथम मुरली बजाकर घर से व्रजभक्तों को बुलाकर रमण कर सर्वांग विहार कर बाहर की सारी इन्द्रियां शुद्ध कर पीछे अंतर्धान होकर अंतकरण में रमण कर उसको शुद्ध कर प्रभु हृदय में बिराजे। इस प्रकार संयोग विप्रयोग भक्तों को देकर निरोध सिद्ध किया तथा बालभाव का मिष कर व्रजभक्तों के घर पधारते हैं। उसका कारण यह है जो व्रजभक्तों के गोपादिक मर्यादा प्रवाही है उनको रहस्य लीला का ज्ञान न हो, बालक देखकर किसी की विषम बुद्धि नहीं हो। इस भांति व्रजभक्तों के पास श्रीठाकुरजी आकर के अनेक लीला क्षण में करते हैं। जिन भक्तों का ऐसा मनोरथ है उनको उसी भांति अनेक चेष्टा कर लीला कर सकल मनोरथ पूर्ण कर फिर बाल भाव को अंगीकार कर घर पधारते हैं।

मूलं – क्षणं क्रुद्धः क्षणं हृष्टः स्वल्पवस्तुषु तोषितः ।
स्वकीयहृदयाभिज्ञ स्तदन्यज्ञानवर्जितः ।।१७।।

श्लोकार्थ – क्षण में क्रोध युक्त और क्षण में हर्ष युक्त हो जाते हैं। अपने भक्त थोड़ी वस्तु देते हैं उसमें संतुष्ट होते हैं। अपने भक्त के मनोरथ को जानने वाले हैं उसके अलावा और कुछ नहीं जानते हैं।

व्याख्या – बाल लीला कर एक क्षण में क्रोधित हो जाते हैं। थोड़ी–सी श्री यशोदाजी गृहकार्य में लगी तो दही का माट फोड़ डाला। माखन बंदरों को लुटा दिया। भूमि पर लोटे, कोटि–कोटि उपाय से श्री यशोदाजी मनाती हैं। फिर भी मानते नहीं हैं। कभी चंद्रमा देखकर हठ करे, कभी तनिक भोजन–माखन में देरी हो तो सहन नहीं कर क्रोध करने लगते हैं। कभी हंस देते हैं, स्वल्प वस्तु से संतुष्ट हो जाते हैं। श्री नंदरायजी खिलौना तथा फूल फलादि लाते हैं उनको देखकर बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं। व्रजभक्त नूतन सामग्री, नवनीत थोड़ी सी कुछ वस्तु नई लाकर श्री ठाकुरजी को देते हैं उससे श्री ठाकुरजी अत्यन्त संतुष्ट होते हैं। अपने स्वकीय व्रजभक्तों के हृदय में जैसा मनोरथ हो, उसी कार्य में श्री ठाकुरजी तत्पर हैं और बात जानते नहीं हैं। अपने निज भक्तों के हृदय के अभिप्राय बिना कुछ ज्ञान मन में रखते नहीं हैं। क्योंकि जो व्रज श्री यशोदाजी के घर प्रभु पधारे हैं। वह केवल व्रजभक्तों के सुखदानार्थ पधारे हैं। इसलिये पुष्टिमार्ग में प्रभु भक्ताधीन हैं।

मूलं – गूढलीलापरो भक्तगूढ़भावरसात्मकः ।
सेवनीयः सावधानैर्विपरीतगतिक्रियः ।।१८।।

श्लोकार्थ – गूढ लीला करने वाले और भक्तों के गूढ़ भाव के रसात्मक तथा विपरीत गति और क्रिया वाले श्री ठाकुरजी सावधानी से सेवा करने योग्य हैं। (इन अठारह श्लोक में जो स्वरूप गुण वर्णन किया) ऐसे श्री ठाकुरजी की बहुत सावधानीपूर्वक सेवा करनी चाहिए।

व्याख्या – भक्तों के साथ गूढ़ लीला परायण है। गूढ़ लीला से रासलीला उसमें अनेक प्रकार के रास दो–दो गोपी बीच–बीच माधो तथा सोलह गोपी के मध्य आठ कृष्ण होते हैं तथा भक्त, भक्त प्रतिभावान इस भांति अनेक रासलीला, मानलीला अनेक भांति के विहार अनेक भांति की जल क्रीड़ा, अनेक भांति के श्री वृंदावन में निकुंज किये हैं और व्रजभक्तों के घर बालस्वरूप से किशोर होकर अनेक लीला करते हैं तथा खिड़क में गाय दुहावन में अनेक लीला करते हैं। उस लीला समुद्र का पार नहीं है। इसलिये गूढ़ लीला परायण हैं। गूढ़ लीला के भाव की किसी को खबर नहीं हैं। रसात्मक श्री ठाकुरजी रसात्मक व्रजभक्त से रसमयी अनेक लीला करते हैं। ऐसे रसात्मक श्री यशोदोत्संग लालित हैं उसके विषय

में श्रीहरिरायजी श्रीगोपेश्वरजी को पत्र में लिखते हैं कि ऐसे प्रभु की सेवा अत्यन्त सावधानी से करनी है। क्योंकि प्रभु की विपरीत गति है। विपरीत क्रिया है। एक क्षण में प्रसन्न होते हैं। एक क्षण में क्रोध करते हैं। इसलिये लौकिक में मन नहीं रखना। प्रभु में मन रखना। भूल से प्रभु कभी अप्रसन्न न हो जाय यह भय रखकर सेवा करना।

मूलं – श्रीमदाचार्यकृपया तिष्ठति स्वगृहे हरिः ।
एवं विधः सदा हस्ते योगिनः पारदो यथा ।।१६।।

श्लोकार्थ – श्री मदाचार्य जी की कृपा से (पूर्वोक्त गुण विशिष्ट) हरि अपने गृह में बिराजते हैं। जैसे योगीजन के हाथ में पारद सावधानी से रहे तो कल्पतरू की तरह फल देता है। यदि सावधान नहीं रहे तो हाथ से निकल जाता है और फल नहीं देता है। वैसे ही अपने हाथ में सदा ही श्रीकृष्ण बिराजते हैं। उनकी सावधानी से सेवा करनी है।

व्याख्या – ऐसे व्रजभक्त के भावात्मक स्वरूप अपने घर में बिराजते हैं। वे श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से बिराजते हैं। अपने प्रेम (स्नेह भक्ति) का और कुछ साधन बल मत जानना। ऐसे रसात्मक भावात्मक प्रभु की सेवा हम कहां करने के योग्य हैं? परन्तु श्री आचार्यजी की कांनि (मर्यादा) से प्रभु घर में बिराजते हैं। इस प्रकार का भाव अपने मन में सदा जानना। प्रभु कैसे हैं वह योगीजन के ध्यान में नहीं आता है। अनेक जन्म में अनेक साधन करते हैं उनको भी सपने में भी दर्शन दुर्लभ हैं। वे प्रभु श्री आचार्यजी महाप्रभुजी की कृपा से साक्षात् अपने घर में विराजते हैं। अपने मन में सदा यह विचार कर सावधानी से सेवा करे। मति (बुद्धि) से अपराध हो तो प्रभु अप्रसन्न हो जाते हैं।

मूलं – चिंतनीयोऽनवसरे सेवायाः सर्वथाधिया ।
यतो निरोधसंसिद्धिः सेवाया हार्दया भवेत् ।।२०।।

श्लोकार्थ – सेवा के अनोसर में बुद्धि से सर्वथा चिंतन करने योग्य है। इसलिये निरोध सिद्धि मानसी सेवा से होती है।

व्याख्या – ऐसे यशोदोत्संग लालित भावात्मक की सेवा मन लगाकर करनी उचित है। पीछे अनोसर हो तब ऊपर कह आये हैं तदनुसार उस भांति हृदय में चिंतन करना। सदा

अति स्नेह से सर्वथा धर्म जान सेवा करना। उसी भांति अनोसर में सर्वथा चिंतन करना। तब निरोध सिद्ध होता है। जैसे व्रज भक्तों को निरोध सिद्ध हुआ संयोग विप्रयोग रस का अनुभव हुआ। वैसे ही सेवा समय संयोग की भावना, अनोसर में विप्रयोग की भावना करे यह हार्दसहित सेवा करे तब निरोध होता है। यह बीस श्लोक का शिक्षापत्र है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने बीस श्लोक का निरोध लक्षण ग्रंथ किया है। उस भाव के अनुसार श्री हरिराय जी ने इस शिक्षापत्र में निरोध पुष्टिमार्गीय जीवों को जिस भांति सिद्ध हो वह प्रकार कहा है। जैसे निरोध लीला श्री भागवत् के दशम स्कंध में सर्वोपर है वैसे ही यह सर्वोपर निरोध प्रकार कहा है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र ३

अब तृतीय शिक्षापत्र में भगवद् भाव के साधक बाधक का निरूपण करते हैं। ऊपर कह आये हैं उस रीति से सेवा भी करे तथा अनोसर में चिंतन भी करे। परन्तु दुःसंग मिले तब एक क्षण में सारे धर्म का नाश हो जाता है। जन्म–जन्म का भाव दुःसंग से जाता रहता है। इसलिये इस समय में दुःसंग से कैसे बचना उसका निरूपण करते हैं।

मूलं – **निधिःप्राप्तः सुसंरक्ष्यो दुःसंगादिकतः सदा।**
त्यक्त्वाऽपि लोकसंकोचं यथा वह्निर्जलादिभिः ।।१।।

श्लोकार्थ – जो भगवद् भाव रूप निधि प्राप्त हुई है वह लोक के संकोच का भी त्याग करके निरंतर दुःसंग से अच्छी भांति से जल से वह्नि की तरह रक्षा करने योग्य है।

व्याख्या – जो निधि प्राप्त हुई है उसकी रक्षा करना कर्तव्य है। जैसे किसी कृपण को धन मिले वह उस धन की रक्षा यत्न से नहीं करे तो द्रव्य चोर ले जाते हैं। वैसे ही यह भगवद् भाव रूप निधि की प्राप्ति श्री आचार्यजी की कृपा से हुई है उस निधि की दुःसंग से रक्षा करना कर्तव्य है। उसमें दुःसंग अनेक प्रकार का है। लौकिक विषयादि तथा अन्य

मार्गीय का संग और देह संबंधी कुटुम्ब लौकिक वैदिक कार्य इन सभी से मन को निकालकर प्रभु में रखना। वहां कोई कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में रहना तब लौकिक वैदिक कार्य किये बिना कैसे रहा जा सका है ? वहां कहते हैं कि जो भगवत्सेवा पुष्टिमार्गीय धर्म तो अपने मन से स्नेहपूर्वक करे और लौकिक वैदिक लोगों को दिखाने के लिये (इच्छा रहित होकर) करे। सेवा समय सेवा छोड़कर नहीं करे सेवा में लौकिक संकोच नहीं करे जैसे दामोदरदास संभरवाले श्री द्वारिकानाथजी की सेवा करते तब जल अपने हाथ से भरकर लाते थे वहां दामोदरदास के ससुर ने कहा कि तुम जल भरकर लाते हो इस कारण हमको बहुत लज्जा आती है। इसलिये जल नौकरानी के पास से भरवा लिया करो। तब दामोदरदास ने कहा अब ऐसे ही करेगे। पीछे अपनी स्त्री से कहा चलो जल भर लावें, तब स्त्री तो भगवदीय थी इस कारण तत्काल पानी भरने को बरतन लेकर दोनो जने चले। जल भर कर ससुर के घर के आगे होकर निकले। तब ससुर दामोदरदास के पैरों में आकर गिरे और कहा कि मैंने भूल की कि तुमको कहा। अब तुम ही जल भरो। स्त्री से जल मत भरवाओ। तब दामोदरदास ने कहा कल से नहीं भरवायेंगे। इस भांति भगवत्सेवा में लोक संकोच सर्वथा नहीं करना चाहिए। छोटी बड़ी सब सेवा भावपूर्वक प्रेम से करना चाहिए। इस प्रकार दुःसंग को जानना। भगवद् भाव है वह तो अग्नि स्वरूप है और दुःसंग है वह जलवत् भाव का नाश कर्ता है।

मूलं – वह्निवत्भगवद्भावः सत्संगव्यवधानतः ।
नाशयेत् संसृतिं यद्वत्पात्रव्यवहितं जलम् ।।२।।

श्लोकार्थ – अग्निरूप भगवद् भाव सत्संग के व्यवधान से संसृति जो अहंताममतात्मक संसार रूप दुःसंग उसको पात्र के व्यवधानयुक्त जल की तरह नाश करता है। तात्पर्य यह है कि पात्र में जो जल हो, उसका नाश जैसे अग्नि करती है, वैसे ही सत्संग के व्यवधान में रहा जो संसारता का नाश भगवद् भाव करता है।

व्याख्या – भगवद् भाव अग्नि रूप है और सत्संग काष्ठ रूप है। जैसे अग्नि में काष्ठ (लकड़ी) डालें तो अग्नि और जल उठती है अथवा तेजपुंज होती है। वैसे ही भगवद्भाव सत्संग पाकर बढ़ता है और दृढ़ होता है। भगवद् भाव रूप अग्नि है वह दुःसंग रूपी जल

से नष्ट होती है, वैसे ही थोड़ी अग्नि हो उसमें जल डालने पर उस अग्नि का नाश होता है उसी प्रकार भगवद् भाव का नाश दुःसंग से होता है। वहां कोई कहे कि लौकिक में रहे बिना चलता नहीं है तब क्या करना ? वहां कहते हैं कि दुःसंग रूपी जल को सत्संग रूपी पात्र में रखे तब वह दुःसंग भगवद् भाव का नाश नहीं कर सकता है। जैसे अग्नि का जल से साक्षात्संबंध हो तो अग्नि का नाश हो और एक पात्र में जल भरकर अग्नि ऊपर धरे तो जल का नाश हो, अग्नि का नाश नहीं हो। ऐसे भगवद् भाव रूपी अग्नि का सत्संग रूपी काष्ठ से बढ़ती जाय इसलिये दुःसंग रूपी जल को पात्र में धर कर (अपने हृदय में अष्ट प्रहर विचार करे) जला दे तब ही बचे। आगे बड़े–बड़े भगवदीय दुःसंग से गिरे हैं, इसलिये दुःसंग से सदा ही डरते रहना चाहिए।

मूलं – जलवल्लौकिकं प्रोक्तं साक्षात्तन्मेलनेन तु ।
मूलतो नाशयेद्भावं यथा वैश्वानरं जलम् ।।३।।

श्लोकार्थ – लौकिक जलवत् कहा है उसका साक्षात् भाव से संबंध हुआ है। जैसे जल (साक्षात् संबंध से) अग्नि का नाश करता है, वैसे मूल से भगवद् भाव का नाश करता है।

व्याख्या – इस संसार में लौकिक दुःसंग है वह जलवत् है। इसलिये जल को पात्र बिना साक्षात्भगवद्भाव रूप अग्नि में नहीं डालना। जैसे साक्षात् जल डाले तो वैश्वानर जो अग्नि है उसका मूल से नाश हो जाता है। जैसे जड़भरत ने सारा लौकिक छोड़कर भगवद् भजन करने को वन में गये। वहां हिरनी जल पीने को आई वह सिंहनाद से कूद पड़ी जिससे गर्भ में से बच्चा जल में गिर गया। भरत को दया आई। यहां ही दुःसंग हुआ। भगवद् भाव, भगवद् भजन छूट गया तब ही हिरणी के संग से तीन जन्म का अंतराय हुआ। ऐसा दुःसंग बाधक है। श्री नंदरायजी अपने पुत्र की सेवा करते थे, वे अंबिका पूजन को गये। इस बात को श्री ठाकुरजी सह नहीं सके। इसलिये सुदर्शन सर्प ने आकर श्री नंदराय जी को ग्रस लिया। उस समय श्री ठाकुरजी ने छुड़ाया। इसलिये अन्यसंबंध तथा दुःसंग सिद्ध भक्तों को विशेष बाधक है। साधन दशा वाले भक्तों को लगे उसमें क्या कहना। इसलिये दुःसंग को यह जाने कि हमारे सर्वभाव का नाश ही करेगा। इस प्रकार दुःसंग से भाव की रक्षा करे

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – **अतः सदैव भेत्तव्यं लौकिकासक्तितो जनैः ।**
सत्संगमग्रतः कृत्वा नाशनीया न चान्यथा ।।४।।

श्लोकार्थ – ऊपर कहा उस प्रकार से भगवद् भाव की रक्षा करना, क्योंकि दुःसंग बाधक है। इसलिये लौकिक आसक्ति से सदा ही भगवदीय जन को डरते रहना चाहिए। प्रथम सत्संग कर लौकिकासक्ति नाश करने योग्य है, सत्संग नहीं करे तो पीछे लौकिकासक्ति का नाश नहीं हो सकता है।

व्याख्या – लौकिकासक्ति रूप दुःसंग से सदा भयभीत रहना। यह न जाने जब दुसंगासक्ति होगी तब मैं सत्संग कर लूंगा। जिस समय दुःसंग मिला उसी समय तत्काल लौकिकासक्ति हो भगवद्भाव का नाश होगा उससे दुःसंग मिले उससे पहले ही सत्संग किया उस समय दुःसंग बाधा नहीं करता है उसका दृष्टांत बताते हैं कि जो जीव के पीछे काल फिरता है जो पहले से स्मरण भजन करता रहता है, पीछे अंतकाल समयकाल बाधा नहीं करता है। जो यह जानता है कि अभी तो लौकिक कर लूं, पीछे भगवस्मरण करूँगा, उसका काल जब आता है तो उसको एक क्षण में खा जाता है। उस समय कुछ भी भगवद्धर्म नहीं हो सकता है। इसलिये पहले से ही सत्संग करे और भगवत्सेवा, स्मरण भी करे, जब लौकिक दुःसंग आये तब सत्संग के प्रताप से बच जाये। सत्संग बिना दुःसंग से बचने का और कोई उपाय नहीं है। यह निश्चय जानना चाहिए।

मूलं – **सतां परोक्षे सत्संग जातभावो विभाव्यताम् ।**
तद्विरुद्धवचो नैव माननीयं सतां क्वचित् ।।५।।

श्लोकार्थ – सत्संग में जो भाव उत्पन्न हुआ उसकी भावना सत्पुरुष के परोक्ष में करना और सत्पुरुष के वचन से जो विरुद्ध वचन हो उसको किसी समय नहीं मानना।

व्याख्या – ऊपर कहा गया है कि जो सत्संग करेगा उसको दुःसंग बाधा नहीं करेगा वहां कोई कहे कि सत्संग तो दो घड़ी या चार घड़ी करेगा। पीछे सेवा स्मरण लौकिक वैदिक कार्य सब करनां पड़ेगा। तब दुःसंग से किस प्रकार बचेगा ? इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं कि जो नित्य नियम कर जैसे भगवत् सेवा स्मरण करता है वैसे ही सत्संग एक घड़ी

दो घड़ी बने उतना ही करे पीछे सत्संग के परोक्ष में जो जो वार्ता सत्संग हुआ हो उसका स्मरण कर अपने धर्म को देखे। श्रीआचार्यजी श्रीगुसांईजी तो इस भांति कहते हैं – मैं क्या करता हूं जो विरुद्ध हो उसके त्याग में मन करे, जिस प्रकार श्रीआचार्यजी तथा श्रीगुसांईजी ने कहा है वह करना मन से नहीं करना। इस भांति मन को जो कोई भगवद्कर्म में लगा रखेगा वह दुःसंग से बचेगा। जो वार्ता भगवदीय के मुख से सुनी है उसमें दृढ़ विश्वास कर उस वार्ता की भावना मन में करनी तब मन ठिकाने रहे। जैसे गाय वन में से चरकर आती है पीछे घर आकर बैठकर चर्वण कर स्वाद लेती है वैसे ही वैष्णव का संग हो उस समय भगवद् धर्म का श्रवण करे पीछे सत्संग के परोक्ष में अपने हृदय में मनन करके भावना से रस का आस्वादन करे सत्संग के विरुद्ध वचन जितने हैं उनका विचार धर्म अधर्म का विचार मन में रखे। सत्संग के विरुद्ध वचन नहीं कहे। जिस में सत्संग छूट जावे ऐसा कभी नहीं करे।

मूलं – **भरतस्यापि दुःसंगे जाता हरिणजातिता ।**
केवलं कलिदोषाभिभूता अपि जनाः स्वतः ।।६।।

तत्संगनिरतैर्नैव भवितव्यं विशेषतः ।
अथवा सर्वतो मौनं तद्भावे विधीयताम् ।।७।।

श्लोकार्थ – जड़भरत को भी दुःसंग में हरिण जाति का होना पड़ा। इस समय के मनुष्यों को स्वतः कलियुग के दोषों ने जीत लिया है। अतः उनके संग में मन आसक्त नहीं करना चाहिए। उनसे संभाषण नहीं करना चाहिए या फिर मौन रहना चाहिए।

व्याख्या – दुःसंग का मन में भय रखे तथा अपना काल जाने। क्योंकि जो दुःसंग दोष हो तो हरि भगवान् दूर जाकर रहते है। इस विषय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय ग्रंथ में कहा है – **"विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** जहां दुःसंग कर देह विषयाक्रान्त हुआ, उस देह में भगवदावेश निश्चय ही नहीं होता है। इसलिये दुःसंग दोष महाबाधक है और यह जगत में भूतप्राणिमात्र है। उनमें सहज ही में दोष भरे हैं। क्योंकि यह कलिकाल महाकठिन है। अपने मन पर भी विश्वास नहीं करे मैं बहुत समझता हूं। मेरे

में दृढ़ ज्ञान, वैराग्य है मेरा मन मेरे वश में है। यह नहीं जानता है कि जिस समय दुःसंग मिलेगा उस समय ज्ञान, वैराग्य, विवेक, धैर्य, सब एक क्षण में जाता रहेगा। इसलिये अपने मन को, इंद्रिय को, देह को कलिदोष रूप ही जाने और यह भी जाने कि सत्संग के प्रताप से मैं बच रहा हूं। जिस समय दुःसंग मिलेगा उस समय मैं गिरूंगा ऐसा ज्ञान मन में रखे। इस कलियुग ने सारे प्राणिमात्र की बुद्धि का हरण कर लिया है। कलिका दोष सभी को लगा है। ऐसा जो दुःसंग दोष सर्वधर्म का नाशक है। उनसे अलग यह जीव रहे तब ही भगवद् भाव विशेष हो, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। वहां कोई कहे कि दुःसंग प्रबल हो, अपने वश में नहीं हो, अपने घर के पड़ोस में हो तथा कहीं जीविका हो वहां दुःसंग हो अथवा अपने कुटुम्ब में हो, अपने से यह दुःसंग निवारण नहीं हो, जीव का घर में रहे बिना तो काम चलता नहीं है। वहां दुःसंग प्रबल हो तो क्या करे ? वहां श्री हरिराय जी कहते हैं कि मुख्य तो यह ही है कि अपने समझाने से अपने उपाय से दुःसंग छूटता हो तो छुड़ा दे अथवा आप छोड़कर और जगह निर्वाह करे। अपने से किसी भांति दुःसंग न छूटे तो वहां मौन होकर रहे, बोले नहीं। जहां अपना कहना नहीं माने वहां अपने मन का भाव भगवद् धर्म वार्ता कभी नहीं करे उनसे मन अलग रखे क्योंकि जिसको भगवद् धर्म सुनने में श्रद्धा नहीं हो, उनके आगे भगवद् धर्म सर्वथा नहीं कहे। भगवान् में तथा भगवद् धर्म में भेद नहीं है, एक ही पदार्थ है। इसलिये भगवान् का अतिक्रम होता है यह विचार कर जहां दुःसंग प्रबल हो वहां वाद नहीं करना, मौन होकर रहना। मन में हरिशरण की भावना करना। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में कहा है –

"दुखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे। भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चाति क्रमे कृते।। अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः"

दुःख की हानि में तथा पाप में, भय में, कामादिक की अप्राप्ति में, भक्त के द्रोह में, भक्ति के अभाव में, भक्तों का अतिक्रम किया हो, उसमें अशक्य में वा सुशक्य में निश्चय ही हरिशरण है। इस भांति हरिशरण की भावना मन में कर चुप होकर रहना चाहिए।

मूलं – यो वदत्यन्यथा वाक्यमाचार्यवचनाज्जनः ।
संसृतिप्रेरको वाऽपि तत्संगो दुष्टसंगमः ।।८।।

बड़े शिक्षापत्र ३

श्लोकार्थ – जो जन श्री आचार्यजी के वचन में अन्यथा वाक्य कहे अथवा अहंता ममतात्मक संसार में आसक्ति करने की प्रेरणा करे उनका संग है उसको दुष्ट संग जानना चाहिए।

व्याख्या – अब कोई कहे कि दुःसंग अथवा भगवद् धर्म में विरोध किसको कहें, वहां कहते हैं कि श्री वल्लभाचार्यजी के वचन से सिद्धान्त से अन्यथा वचन कहे, उसके वचन अन्यथा (असत्य) जाने। श्री आचार्यजी से विरुद्ध धर्म में बोध करके चलावे तथा अन्य मार्ग की रीति कहे उनको दुष्ट माने। इसकी बात मानने से मेरे सर्वधर्म का नाश हो जायेगा। इसलिये अन्य मार्गीय के पास नहीं बैठना। अन्य संबंध हो जाय, अन्य मार्ग के धर्म को सुनना नहीं। अन्य मार्ग की क्रिया कुछ भी नहीं करना। गोविन्द दुबे की वार्ता में प्रसिद्ध है कि एक समय गोविंद दुबे मीरा बाई के घर गये वहां मीरा बाई ने आदर सम्मान कर गोविन्द दुबे को रखा। मीरा बाई भगवद् भक्त थी परन्तु श्रीआचार्यजी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग में नहीं थी। मर्यादा मार्ग में थी। यह गोविन्द दुबे की बात श्रीगुसांईजी ने जानी कि गोविंद दुबे मीरा बाई के घर हैं तब श्रीगुसांईजी ने एक श्लोक लिखा –

भगवत्पदपद्मपरागजुषो नहि युक्ततरं मरणेऽपितराम् ।
इतराश्रयणं गजराजधृतो नहि रासभमप्युररीकुरुते ।।

प्रभु के चरणाविंद की रज का सेवन करने वालों को मरण से अधिक कष्ट प्राप्त हो, तथापि ओर का आश्रय करना योग्य नहीं है। अरे गोविन्द दुबे जैसे हाथी की सवारी वाला ऐसा पुरुष गर्दभ की सवारी स्वीकार नहीं करता है। यह लिखकर एक व्रजवासी को दिया जो गोविन्द दुबे को देना। उस व्रजवासी ने गोविंद दुबे को जाकर पत्र दिया। तब गोविंद दुबे बांचते ही उठकर आ गये। इसलिये यह पुष्टिमार्ग है वह ऐसा है। श्रीगुसांईजी ने गोविन्द दुबे से कहा कि जो हाथी की असवारी की अब गधे की असवारी का मन हुआ है ? इसलिये पुष्टिमार्ग में अनन्य भाव रखना। पुष्टिमार्ग से अन्य धर्म चलावे उसको दुष्ट संग जानना। उसका तत्काल त्याग करना।

मूलं – यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम् ।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्संगः साधुसंगमः ।।६।।

श्लोकार्थ – जो सदा श्रीकृष्ण में कारण रहित प्रीति का बोध करे और निरपेक्ष तथा सात्विक हो उनका संग साधु पुरुष का संग जानना चाहिए।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि अन्य मार्गीय का संग नहीं करे, वहां कोई कहे कि फिर किनका संग करे ? वहां कहते हैं कि एक श्रीकृष्ण फलात्मक भावात्मक व्रजपति है उनमें नित्य नूतन प्रीति हो और अवतारादिक में नहीं हो ऐसा अनन्य भाव जिसका हो तथा एक श्रीकृष्ण के चरणारविंद की भक्ति बढ़ने का ही बोध करे और हृदय में यह भी वासना रहे कि श्रीकृष्ण के चरणकमल में प्रीति हो एवं अन्य प्रयोजन मन में नहीं हो। निरपेक्ष हो किसी की अपेक्षा नहीं रखे। मन में यह जाने कि एक श्रीकृष्ण ही कर्ता है और कोई नहीं है। किसी को भगवद् धर्म दिखाकर अपनी प्रतिष्ठार्थ अथवा लाभार्थ भगवद् धर्म नहीं करता हो। सात्त्विक हो, छल, कपट, काम, क्रोध, मद, मत्सर, हृदय में नहीं हो ऐसा धर्म जहां देखे वहां भगवदीय का संग करे।

मूलं – एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः ।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्त्तव्यः संगनिर्णयः ।।१०।।

श्लोकार्थ – ऐसे अपने (भगवदीयजन) और अन्य (लौकिक) इन सभी में संग का निश्चय कर फिर उत्तम कुल में जिन का जन्म है उनके विषय में संग निर्णय करना।

व्याख्या – सभी ओर से निर्श्चित हो लौकिक, वैदिक और देह संबंधी अनेक उपाधि गृहकार्य से मन निश्चिन्त हो। भगवत्परायण एतन्मार्गीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव को अपना जानना। श्री आचार्यजी महाप्रभु के शरण यह भी आया है, हम भी श्री आचार्यजी के शरण हैं। यह वैष्णव हमारा संबंधी है ऐसा स्नेह वैष्णव पर हो उनका संग करना कर्तव्य है। अन्य मार्गीय जो जीव है उनसे जिसका प्रयोजन नहीं हो। महत्कुल में जन्म हो। साक्षात् श्री वल्लभ कुल में यह सारा धर्म है। एक श्रीकृष्ण ही की सेवा, एक श्रीकृष्ण का ही आश्रय इन्हीं में है उनसे उनका सत्संग मन वचन क्रिया करना कर्तव्य है। अथवा श्रीआचार्यजी के अंगीकृत पुष्टिमार्गीय नाम, निवेदन, मर्यादा, सेवा श्रीकृष्ण में रति जिसकी हो, ऐसे भगवदीय से निश्चय ही सत्संग है। इस भांति सत्संग का निर्णय करना कर्तव्य है।

बड़े शिक्षापत्र ३

मूलं – श्रीमदाचार्य चरणे मतिः स्थाप्या सदा स्वतः ।
तत एव स्वकीयानां सिद्धिः कार्यस्य सर्वथा ।।११।।

श्लोकार्थ – सदा श्री आचार्यजी के चरणारविंद में अपनी मति स्थिर करनी उससे ही भगवदियों के कार्य की निश्चय ही सिद्धि होती है।

व्याख्या – श्री आचार्यजी के चरण कमल में जिसकी मति दृढ़ एकरस स्वस्थ हो, मन, वचन से एक श्री आचार्यजी के चरण कमल में जिनकी बुद्धि हो, उनका संग करना। श्री सर्वोत्तम जी की टीका श्री गोकुलनाथजी विरचित है उसमें लिखा है कि पद्नामदास जैसे भगवदीय विरले हैं। ऐसे भगवदीय के हृदय में श्री आचार्य जी महाप्रभु नित्य विराजमान हैं उनके संग से सकल कार्य सिद्ध होते हैं। भीगे वस्त्र का सूखे वस्त्र से संबंध हो तो वह भी भीग जाय। वैसे ही भगवदीय के संग से भगवदीय हो, ऐसे स्वकीय भगवदीय का मिलना बहुत दुर्लभ है। जहां तक ऐसे भगवदीय का संग नहीं हो, वहां तक कार्य भी सिद्ध नहीं हो। इसलिये भगवत्सेवा स्मरण करना चाहिए। ऐसे भगवदीय से मिलने का ताप मन में रखना चाहिए। श्री आचार्यजी महाप्रभु कृपा करके मिलावे तब श्रद्धापूर्वक दीन होकर उनका संग मन लगाकर करे जब वे भगवदीय प्रसन्न होकर कृपा कर पुष्टिमार्ग का प्रकार लीलाभाव बतावें तब कार्य निश्चित रूप से सिद्ध हो। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में निरूपण किया है –

"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"

तादृशीय जन के साथ मिलकर निवेदन का स्मरण करे निवेदन का स्मरण तादृशीय वैष्णव से मिलकर करे तब हृदय में मार्ग स्फुरित हो। इसलिये सत्संग अवश्य करना कर्त्तव्य है।

मूलं – अवैष्णवत्वं मंतव्यं तद्विरुद्धजनेष्वपि ।
जीवेषु दोषवत्स्वेवं तथा तत्साम्यवस्तुषु ।।१२।।

श्लोकार्थ – पुष्टिमार्ग से विरुद्ध जो जन हैं उनमें तथा भगवदीय में दोष बुद्धि वाले जो जीव हैं उनमें भी ऐसे अवैष्णवत्व मानना।

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – वैष्णव और अवैष्णव कैसे जानें, उनका लक्षण कहते हैं। श्री आचार्यजी ने पुष्टिमार्ग प्रकट किया है और श्रीगुसांईजी ने प्रकाशित किया है। नामावली में नाम कहे हैं – **"पुष्टिप्रवर्त्तकायनमः"** यह श्रीआचार्यजी का नाम **"पुष्टिमार्ग प्रकाशकाय नमः"** यह श्री गुसांईजी का नाम है। इसलिये जो कोई पुष्टिमार्ग की रीति से विरुद्ध आचरण करे उसको अवैष्णव जानना। जो पुष्टिमार्ग की रीति के अनुसार चलता है उसको वैष्णव जानना। क्योंकि जो शुद्ध जीव होगा उससे शुद्ध क्रिया बनेगी। जीव जगत में तीन प्रकार के हैं। पुष्टिप्रवाह मर्यादा ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः । वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः"**। प्रभु इच्छा मात्र से मन के प्रवाह को तथा वचन से निश्चय वेद मार्ग का और काया से निश्चय पुष्टि को उत्पन्न करते हुए, श्री ठाकुरजी ने इच्छा करके मन से सृष्टि प्रकट की है। वह प्रवाही सृष्टि है। उसका मन कभी भगवद् धर्म में नहीं लगता है, सदा दुष्टाचरण ही करता है। वचन से श्री ठाकुरजी ने सृष्टि प्रकट की है वह मर्यादा सृष्टि वैदिक मार्ग में लगी रहती है और श्री ठाकुरजी ने अपनी काया से सृष्टि प्रकट की है वह पुष्टि जीव है। उनसे भगवत्सेवा हो इस रीति से तीन प्रकार के जीव हैं। इसलिये जीव स्वभाव से दुष्ट है, वह प्रवाही है, इस कारण वह दुष्टाचरण करता है। उसको निश्चय ही अवैष्णव जानना चाहिए।

मूलं – श्रीकृष्णः श्रीमदाचार्यस्तथा श्रीविट्ठलेश्वरः ।
तथा लीलास्थ सामग्रीर्नैतत्साम्यं कदाचन ।।१३।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण, श्रीमदाचार्यजी, श्री गुसांईजी और सब लीला सामग्री इन सभी के बराबर लौकिक में किसी दिन और कुछ नहीं हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी पुष्टिमार्गीय जीवों को शिक्षा देते हैं कि यह भाव मन में अहर्निश अवश्य रखना, अलौकिक पदार्थ में लौकिक बुद्धि आवे तो उसका सर्वस्व नाश हो, उसको कहते हैं, एक श्रीकृष्ण, श्री आचार्यजी और श्री विट्ठलनाथजी तथा लीला सामग्री व्रज भक्त आदि श्री आचार्यजी के पुष्टिमार्ग में सेवा सामग्री सब अलौकिक जानना, श्रीकृष्ण साक्षात् फलात्मक, रसात्मक श्री यशोदोत्संग लालित, सर्वांग सुन्दर, व्रजभक्तों के सर्वस्व,

बड़े शिक्षापत्र ३

जीवन धन वे ही श्रीकृष्ण अपने दैवी जीवों के उद्धारार्थ श्री आचार्यजी महाप्रभुजी रूप और अलौकिक अग्नि रूप से प्रकट हुए और अलौकिक मार्ग को प्रकट किया। वे ही श्री आचार्यजी अपना दूसरा ही रूप श्री गुसांईजी का धारण कर इस पुष्टिमार्ग का प्रकाश किया। जैसे श्रीकृष्णावतार में सारी लीला सामग्री (श्रीकृष्ण) श्री नंदरायजी, श्री यशोदाजी आदि सब अलौकिक बाल लीला रस में मग्न है, सखा, ग्वाल से भी अलौकिक सख्यभाव में मग्न है, गोपीजनों में अनेक भाव हैं। श्रुतिरूपा कुमारिका, मुख्य श्री स्वामिनीजी, वृषभानुजा और श्री यमुनाजी इनके अनेक यूथ, अनेक सखी यह सब अलौकिक श्री गिरिराज, वृक्षादि, पशु, पक्षी, व्रजभूमि, गुल्म, लता, औषधि, निकुंज आदि सब लीला सामग्री आभूषण वस्त्रादि सामग्री सब अलौकिक हैं। वैसे ही यह श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी के पुष्टिमार्ग में सेवा प्रकार, वर्ष दिन के उत्सव, नित्य सेवा का प्रकार, सामग्री, आभूषण, वस्त्र, सिंहासन, खंडपाट, पिछवाई, निज मंदिर, मणि कोठा, तिबारी डोल तिबारी, रसोईघर, पानघर, फूलघर, शाकघर, भंडार, चोक, सेवक, कीर्त्तनीया, परिचारक, आदि सब सेवा संबंधी पदार्थ अलौकिक जानना, इनको भावात्मक जानना, इनमें लौकिक करे तो महाअपराध हो, इस भाव से पुष्टिमार्गीय वैष्णव सेवा करे यह भाव मन में गुप्त रखे उसको आगे के श्लोक में कहते हैं।

मूलं – यदस्माभिः पुरा प्रोक्तं तच्चित्ते स्थाप्यतां सदा ।
न कुत्राऽपि च वक्तव्यं सांप्रतं विमुखाजनाः ।।१४।।

श्लोकार्थ – हमने जो आगे कहा है उसको सदा चित्त में स्थापित करना जो मार्ग के वक्ता हैं उनसे कहना और किसी के आगे मत कहना। क्योंकि आजकल सारे जन बहिर्मुख हो गये हैं।

व्याख्या – अब कोई पूर्व पक्ष कहे कि तुमने सब सेवा सामग्री अलौकिक बताया है। तुमने अपनी युक्ति से कहा है, या किसी ग्रंथ में भी है ? या किसी से सुना है ? इस भांति कोई कहे वहां श्रीहरिरायजी अपने छोटे भाई तथा अंगीकृत सेवकों को कहते हैं कि यह हमने बड़ों से सुना है श्री गोकुलनाथजी, श्री कल्याणरायजी आदि सभी भावरस के अनुभवकर्ता

के श्रीमुख से सुना है। अथवा श्री सुबोधिनीजी में श्री महाप्रभुजी ने सब भाव कहे हैं। तथा ग्रंथ में श्री गुसांईजी ने सारी लीला सामग्री का अलौकिक वर्णन किया है। इसलिये हम तुमको अतिस्नेह करके कहते हैं कि यह वार्ता अपने चित्त में सदा स्थापित करना। कभी किसी समय भूलकर लौकिक मत जानना और यह भाव किसी के आगे मत कहना। तुम्हारा अंगीकृत जिसका हृदय शुद्ध हो, हृदय में दृढ़ श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी के चरण कमल का विश्वास हो उनसे मिलकर अलौकिक पदार्थ का विचार करना कर्त्तव्य हैं।

विमुखजन जिसकी लौकिक बुद्धि है उनके प्रति कभी अलौकिक पदार्थ का भाव मत कहना। वहां कोई कहे कि समझे नहीं उसके आगे कहना। तब यह भी न जाने और तुम कहते हो नहीं कहना उसका कारण क्या? वहां कहते हैं।

मूलं – सामुख्यबोधनं नैव जायते बाह्यधर्मतः ।
एकोपि दोषः सुदृढः सर्वं नाशयति ध्रुवम् ।।१५।।

श्लोकार्थ – जिसमें बाह्य धर्म (अलौकिक से लौकिक बुद्धि) है उनके सामने भाव को प्रकट नहीं करना चाहिए क्योंकि एक भी दोष निश्चय ही सर्वधर्म (भाव) का नाश कर देता है।

व्याख्या – ओर के आगे अलौकिक प्रकार हैं वह नहीं कहना। इस पुष्टिमार्ग में भगवदीय बिना अन्य है उनको कहे तो अपना धर्म जाय, ओर के आगे कुछ कहने का आ बने तो ज्ञान वैराग्य का प्रकार कह देना। अलौकिक भाव को नहीं कहना। क्योंकि जो अपने हृदय का धर्म बाहर प्रकट करे तो धर्म का रस बाहर निकल जाता है तो प्रभु हृदय से जाते रहते हैं। इसलिये मुख्य धर्म का बाहर प्रकाश सर्वथा नहीं करना। क्योंकि जीव में एक दोष ऐसा दृढ़ है जो अलौकिक में लौकिक बुद्धि है वह निश्चय ही सर्वधर्म का नाश करती है। इसलिये अलौकिक पदार्थ में लौकिक बुद्धि सबकी है। कोटानकोटि कोई एक की अलौकिक बुद्धि होगी सारी वस्तु लीलामय देखोगे उनसे लौकिक क्रिया कभी नहीं बनेगी। इसलिये यह महादोष जगत में मिल रहा है जो लौकिक बुद्धि अलौकिक में हैं। उनके सर्वधर्म का नाश है कुछ अनुभव नहीं है। इस प्रकार पुष्टिमार्ग में रहे उनको श्री आचार्यजी की कृपा से भाव उत्पन्न हो, स्वरूपानंद का अनुभव हो।

मूलं – **अस्माभिरेवं लिखितं निरपेक्षैः स्वभावतः ।**
स्नेहेन सर्वथा चिते धीयतां यदि रोचते ।।१६।।

श्लोकार्थ – हमने निरपेक्ष हो स्वभाव में ऐसा लिखा है कि रुचे तो निश्चय स्नेह करके चित्त में धारण करना।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी अपने भाई श्री गोपेश्वर जी के प्रति तृतीय शिक्षापत्र सम्पूर्ण करते हैं। उसमें कहते हैं कि यह शिक्षापत्र हमने तुमको लिखा है तुम यह मत जानना कि भाई के संबंध से लिखा है। अथवा कुछ लौकिक स्वार्थ का भाव यह मन में हैं तुमको प्रसन्न करने अर्थ नहीं हैं। निरपेक्ष भाव से लिखा है। श्री महाप्रभुजी की निधि घर में बिराजती है। उनकी सेवा सामग्री में अलौकिक भाव हो तब आनंद का अनुभव हो, इसलिये लिखा है। इस कारण तुम्हारे चित्त में रुचे तो यह ऊपर जितना प्रकार कहा है वह चित्त में निश्चय ही धारण करने योग्य पदार्थ है। किसी के आगे प्रकाश करने योग्य नहीं है। यह मार्ग श्री आचार्यजी महाप्रभुजी का है। वह भावात्मक एवं गोप्य हैं। इसलिये स्नेह कर अपने चित्त में सर्वभाव से धारण करोगे।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी द्वारा व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३।।

बड़े शिक्षापत्र ४

अब चौथे शिक्षापत्र में भावना का निरुपण करते हैं, ऊपर कहा है कि सत्संग कर दुःसंग का त्याग करे जिसके हृदय में भगवान् पधारें वह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्ध धर्माश्रय है। उनके स्वरूप का ज्ञान हो उस स्वरूप का अब आगे सिद्धान्तपूर्वक निरुपण करते हैं।

मूलं – **प्रभोर्धर्माः श्रुतौ प्रोक्तास्तथा भागवतेऽपि च ।**
अप्राकृताः स्वरुपैकनिष्ठा भिन्ना न रूपतः ।।१।।

श्लोकार्थ – प्रभु के धर्म अप्राकृत (माया संबंध रहित) और एक स्वरूप में ही स्थित स्वरूप से भिन्न नहीं है। ऐसे श्रुति में तथा श्री भागवत में भी निरूपण किया है।

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – प्रभु श्रीकृष्ण हैं, उनके धर्म श्रुति में विस्तारपूर्वक कहे हैं और श्री भागवत् में भी प्रभु के सब धर्म कहे हैं। वह श्रुति के तथा श्री भागवत दोनों के वचन प्रमाण जानना। जिनके हृदय में श्रुति के वचन और श्री भागवत के वचन प्रमाण नहीं हैं उस जीव को आसुरी जानना। जिनके हृदय में श्रुति के वचन और श्री भागवत के वचन प्रमाण हैं उनको शुद्ध दैवी जीव जानना। वह श्रुति भी भगवान् के स्वरूप को अप्राकृत कहती है और भागवत श्री ठाकुरजी के स्वरूप को अप्राकृत कहती है। प्राकृत और अप्राकृत में यह तारतम्य है, जो अप्राकृत है वह सदा एक रस केवल आनंदमय है वहां लौकिक माया के गुण का प्रवेश नहीं है और प्राकृत है वह माया जन्य है। मायाकृत गुण काम, क्रोध, मद, मत्सर, सुख, दुःख सब लगते हैं। वे समय पाकर प्रकट होते हैं तथा समय पर नष्ट हो जाते हैं। इसको प्राकृत जानना। इसलिये प्रभु का स्वरूप अप्राकृत जानना। अप्राकृत प्रभु का स्वरूप जाना कब जा सकता है जब प्रभु के स्वरूप में और नाम में दृढ़ निष्ठा हो। श्री ठाकुरजी के स्वरूप की सेवा किये बिना रहा नहीं जाय और श्री ठाकुरजी के नाम श्री ठाकुरजी की लीला संबंधी कीर्त्तन बिना न रहा जाय, तब जानना कि श्री ठाकुरजी के नाम रूप में निष्ठा हुई। श्री ठाकुरजी संबंधी धर्म में सारी इन्द्रियां एवं मन लगा रहे तब यह जानना कि इस वैष्णव पर प्रभु ने कृपा की है।

मूलं – **कर्तृत्वसर्वरूपत्वसर्वाधारत्वमुख्यकाः ।**
व्यापकत्वविरुद्धात्मधर्माद्याः श्रुतिरुपिताः ।।२।।

श्लोकार्थ – कर्तापन, सर्वरूपपन तथा सर्वाधारणपन यह मुख्य धर्म और व्यापकत्व तथा विरुद्ध धर्माश्रयत्व आदि सर्वधर्म श्रुति में निरूपण किये हैं।

व्याख्या – श्रुति और श्री भागवत प्रभु को अप्राकृत क्रिया रूप कहते हैं। जो रूप श्री ठाकुरजी चाहें उसी रूप को अपने भक्तों के सुखदानार्थ धर लेते हैं। उसका वर्णन श्री भागवत में प्रसिद्ध है। जब हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लादजी को बहुत दुःख दिया। तब प्रभु ने नृसिंह रूप धरकर हिरण्यकश्यपु को मारा। प्रह्लाद की रक्षा की तथा श्री यशोदाजी का मुख्य बालभाव हैं उनके बालक होकर पलना में झूले और व्रजभक्तों का पतिभाव है उससे उनको रतिदान, मान मोचन भी करते हैं। एक कालावच्छिन्न सर्वलीला कहते हैं। क्योंकि

बड़े शिक्षापत्र ४

जो सर्व के आधार रूप मुख्य श्रीकृष्ण हैं कर्तुं अकर्तुं – अन्यथा कर्तुं सर्वसामर्थ्य युक्त है, सारे व्यापक हैं। सब स्थान पर श्रीकृष्ण की सत्ता है और सबसे पृथक् हैं, यही विरुद्धाश्रय जो सब में हैं और सबसे अलग है। इस भांति वेद, पुराण, श्री भागवत भगवान् का अलौकिक रूप निरूपण करते हैं।

मूलं – ऐश्वर्याद्या अंतरंगधर्मा भागवते तथा ।
तेऽपि स्वरूपभेदेन मर्यादापुष्टिभेदतः ।।३।।
सर्वेऽपि च विभिद्यंत इति श्रीमत्प्रभोर्वचः ।
अतोऽत्र पुष्टिमार्गीयमंतरंगं विशेषतः ।।४।।

श्लोकार्थ – ऐसा ऐश्वर्यादिक अंतरंग धर्म श्री भागवत में भी निरूपण किया है। वह मर्यादा और पुष्टि दो भेद से स्वरूप के भेद करके सर्वधर्म का भेद पाते हैं। ऐसे आपके वचन है। इसलिये यहां विशेष से अंतरंग पुष्टिमार्गीय धर्म है।

व्याख्या – श्रुति और श्री भागवत दोनों भाव के स्वरूप का भाव कहते हैं। एक भाव तो ऐश्वर्य का है। प्रभु को व्यापक सर्व के आधार रूप कहते हैं। वह मर्यादा भक्त ऐश्वर्य जान भजन करता है। श्रुति नेति–नेति कहती है। ब्रह्मा, शिव, शेषादिक, ऐश्वर्य भाव से भजन करते हैं। वह मर्यादा भक्त है और प्रभु के अंतरंग भक्त है। स्नेह भाव से भजन करते हैं। नंद, यशोदा, व्रज भक्तादि के पुष्टि भक्त हैं। श्री ठाकुरजी एक ही हैं। परन्तु भक्तों के भाव से अलग–अलग दिखाई पड़ते हैं। श्री भागवत में कहा है कि जब अक्रूरजी श्री ठाकुरजी को मधुपुरी में पधरा कर ले गये वहां जिसका जैसा भाव था वैसा ही दर्शन हुआ। कंस का वैर भाव था इसलिये कालरूप में दिखे। योगीजनों ने परमतत्व में देखे। मथुरास्थ स्त्री जन भक्त को परम कोमल सुकुमार में दिखे। जहां जैसा भक्तों का भाव वहां श्री ठाकुरजी उसी भाव से बिराजते हैं। मर्यादाभक्त ऐश्वर्य भाव कर आराधना करते हैं। यह जानते हैं कि प्रभु को भूख प्यास नहीं हैं, कोटि ब्रह्माण्ड के कर्त्ता हैं। पालन करते हैं, संहार करते हैं उनको हम क्या देंगे ? प्रभु हमारी रक्षा करते हैं यह भाव है उनसे प्रभु कुछ मांगते नहीं हैं। पुष्टि भक्त नंद, यशोदा व्रजभक्तादिकों का स्नेह भाव है जो एक क्षण में भूखे होंगे, शीत, उष्ण

लग रही होगी । ऐसा जिनका भाव है वहां श्री ठाकुरजी मांग कर अंगीकार करते हैं। यह भागवत में प्रसिद्ध हैं जिसका निरूपण है। ऐश्वर्य भाव से मर्यादा रीति है और स्नेह भाव में पुष्टि रीति है।

इस भांति स्वरूप भेद से अलग-अलग रस का अनुभव है। दोनों मार्ग प्रसिद्ध हैं। सर्वव्यापक भगवान् हैं। इस बात को शास्त्र, पुराण, श्रीभागवत कहते हैं। श्री सुबोधिनी जी आदि ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सर्वव्यापक प्रभु को कहा है। परन्तु अंतरंग पुष्टिमार्गीय भक्तों का भाव सर्वोपर है। क्योंकि जो ज्ञानी हैं तथा मर्यादामार्गीय भक्त हैं। भगवान् को सर्वव्यापक जानकर भजन करते हैं। उनको स्वरूपानंद का अनुभव नहीं हैं। केवल मोक्ष के अधिकारी हैं। पुष्टिमार्गीय भक्त हैं वे सर्वोपरि है। श्री ठाकुरजी के अंतरंग सदा सेवा, श्रृंगार भोग आदि करके स्वरूपानंद का अनुभव करते हैं। उनसे एक क्षण श्री ठाकुरजी दूर नहीं रहते हैं। इसलिये यह पुष्टि भक्ति विशेषकर सर्वोपर है।

मूलं – विरुद्धधर्माश्रयत्वं स्वमुखाय विचारयेत् ।
प्रभुः कुमार एवास्ति व्रजे मातृपदांकगः ।।५।।
श्रीभागवतवाक्येन कौमारं जहतुर्व्रजे ।
व्याख्यातं च तथैवाऽस्मदाचार्यैर्विवृतावपि ।।६।।

श्लोकार्थ – अपने सुख के अर्थ प्रभु का विरुद्ध धर्माश्रयत्व का विचार करे दोनों भैया व्रज में कुमार अवस्था को रखते हुए, ऐसे वाक्य से व्रज में मातृपदांकगः (श्री यशोदोत्संग लालित) प्रभु कुमार ही हैं। श्री मदाचार्यजी ने श्री सुबोधिनीजी में भी ऐसा ही व्याख्यान किया है।

व्याख्या – प्रभु का स्वरूप विरुद्ध धर्माश्रयी है। यह विचार भक्तजनों को हृदय में अवश्य करना है। वैष्णव का मुख्य धर्म यह ही है जो प्रभु को विरुद्ध धर्माश्रयी जाने, क्योंकि जहां तक भक्तों को विरुद्ध धर्माश्रयी का ज्ञान नहीं हो वहां तक प्रभु की लीला में असंभावना, विपरीत भावना होती हैं। वह भक्तिबीज का नाश करती है। उसका प्रकार कहते हैं। जो प्रभु की लीला में संदेह करे, जो दामोदर लीला में प्रभु की कटि छोटीसी और दो अंगुल का बीच में अंतर उसमें श्री यशोदाजी रस्सी जोड़ती जाय तब भी दो अंगुल घटे वह कैसे ?

बड़े शिक्षापत्र ४

यह दोष बुद्धि से असंभावना और माखन के लिये प्रभु ने क्यों रुदन किया तथा मानादिक लीला में प्रभु ऐसा दैन्य क्यों करते हैं। इस भांति दोष बुद्धि आये वह विपरीत भावना यह दोष कब जाय, जब श्री ठाकुरजी को विरुद्ध धर्माश्रयी जाने। यह मुख्य विचार वैष्णव को करना है। प्रभु कुमार पांच वर्ष के परम सुन्दर श्री यशोदाजी के अंक में विराजित हैं और भक्तों को सर्वलीला का अनुभव कराते हैं। प्रभु की सारी लीला नित्य है। आनंद रूप है। जैसे प्रभु आनंद रूप नित्य है, वैसे ही प्रभु की लीला है, उसका आगे वर्णन करते हैं।

श्री मद्भागवत में नित्य लीला कही है। जो कुमार लीला व्रज में रखकर पौगंड किशोर वय की लीला की है। **"कौमारं जहतुर्व्रजे"** (व्रज में कुमार अवस्था को रखा) जिससे मनुष्य का बालपना जाने के पीछे पुनः बालपना, इस जन्म में एक दिन भी नहीं आता है और श्री ठाकुरजी की सारी लीला नित्य है, बाल अवस्था में किशोर लीला करते हैं और किशोर अवस्था में बाल लीला करते हैं। इसलिये प्रभु को विरुद्ध धर्माश्रयी जानना। इसीलिये श्री भागवत में श्री शुकदेवजी ने कहा है कि कुमार लीला रखकर दूसरी लीला की। इस श्लोक के व्याख्यान में श्री आचार्यश्री महाप्रभु ने निबंध श्री सुबोधिनीजी सप्तार्थ विवेचन कर किया है। जो नित्यलीला स्थान स्थान पर संपादन की है। उसी भांति श्री आचार्यजी महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग में सेवा प्रकट की है। जिसमें वर्ष के जन्माष्टमी, दान, रास, होली, फूल मंडली, हिंडोरा, सब नित्य लीला का अनुभव साक्षात् होता है। इस भाव से वैष्णव नित्य लीला का भेद (अभिप्राय) जानकर स्मरण भजन करे

मूलं – व्रज एव कुमारश्च कुमारीभावविद्धरिः ।
एकादश समा स्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ।।७।।

एतद्वाक्यं मिश्ररूपं कुमारः केवलो हरिः ।
सामग यपि तथैवास्ति यतो गोप्यः कुमारिकाः ।।८।।

श्लोकार्थ – कुमारिका के भाव जानने वाले हरि व्रज में ही कुमार है और (श्री भागवत के तृतीय स्कंध के द्वितीयाध्याय के छब्बीसवें श्लोक में लिखा है।) ग्यारहवे में गूढ़ प्रतापवाले श्री बलदेवजी सहित वहां (व्रज में बसे) यह वाक्य मिश्र रूप है। स्मृति में व्यापक रूप तथा ऐश्वर्य ज्ञानादिधर्म सहित रूप का निरूपण है। दशमस्कंध में 'कौमारं जहतुर्व्रजे'

इस वाक्य में कुमार अवस्था व्रज में रखी ऐसा निरूपण है। और तृतीय स्कंध में 'एकादश समास्तत्रगूढार्चिः सबलोवऽवसत्'' इस वाक्य में ग्यारह वर्ष व्रज में बसे। ऐसे मिश्र व्यापक कौमार तथा पौंगड, किशोर अवस्था रूप प्रतिपादक वाक्य हैं। परन्तु वस्तुतः केवल कुमार हरि ही है, क्योंकि जो व्रजभक्त (ऋषिरूपा) कुमारिका है और सामग्री भी वैसे ही है।

व्याख्या – व्रज में प्रभु कुमार हैं इसलिये जो कुमारी सोलह हजार अग्नि कुमारिका पांच–पांच वर्ष की है उनके भावनीय भावना में पांच वर्ष के प्रभु हैं क्योंकि रसशास्त्र में यह कहा है कि जो जैसा भाव स्त्री का हो वैसा ही पति हो तब रस विशेष हो, इसलिये कुमारिका को प्रभु कुमार रूप से भाव वृद्धि करते हैं और ग्यारह वर्ष की लीला व्रज में सदा है उसमें बाल लीला से पौंगड किशोर सब ही करते हैं। कुमारिका ने गूढ़ भाव से कात्यायनी देवी का अर्चन किया (गूढ़ भाव से छिपाया) इससे जो हमारे भाव को श्री नंदरायजी श्री यशोदाजी आदि व्रज में कोई नहीं जाने क्योंकि जो गूढ़ भाव प्रकट होने से रस जाता रहता है। इसलिये सब से छिपकर कात्यायनी का अर्चन कुमारिका ने किया। उसको करके श्री ठाकुरजी को अपने वश किया। कुमारिका के गूढ़ भाव को प्रभु ने जानकर चीर हरण कर सर्वांग दर्शन कर अलौकिक देह संपादन किया। पीछे वस्त्र भी अलौकिक करके दिये। वरदान दिया कि शरद ऋतु में रास कर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेगे। इसलिये रास में कुमार से ग्यारह वर्ष के किशोर वय धरकर कुमारिकाओं का जैसा–जैसा मनोरथ था वह सब सम्पूर्ण किया। इस भांति गूढ़ भाव से कात्यायनी का अर्चन कर कुमारिकाओं ने प्रभु को वश किया। इस भांति दो वाक्य हैं, दो प्रकार का भाव है, श्रुति वाक्य से ऐश्वर्य भाव तथा श्री भागवत के वाक्य से कुमार भाव से मिश्रित दो रूप प्रभु के हैं। वह केवल कुमार रूप हरि कुमारिका के भाव करके हैं। यद्यपि प्रभु की स्थिति सब जगह है। प्रभु के व्यापक धर्म ऐश्वर्य ज्ञानादिक विचार कर मर्यादा मार्गोक्त प्रभु सभी जगह है। परन्तु गोप कुमारिका के पास ही रस रूप प्रभु हैं। कुमारिका के भाव बिना रसरूप प्रभु वहां नहीं हैं, क्योंकि जो भावात्मक रस रूप प्रभु पात्र बिना और ठोर रहते नहीं हैं। इसलिये भाव रूप पात्र कुमारिका का है। इसलिये कुमारिका के पास भावात्मक प्रभु है।

मूलं – एवं सतीदृशे रूपे रासलीलादिरूपणम् ।
विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधायैव हि युज्यते ।।६।।

श्लोकार्थ – जब ऐसे मिश्ररूप हैं (व्यापक, कुमार, पौगंड, किशोर ऐसे निरूपण किया है।) तब ऐसे रूप में रासलीलादिक का निरूपण है। वह विरुद्ध धर्माश्रयत्व बोध के लिये ही कही है।

व्याख्या – जो रसात्मक प्रभु कुमारिका के ही पास है। उसका रासलीला में वर्णन है। वह वेणु बजाकर सारे व्रजभक्तों को बुलाकर पीछे श्री ठाकुरजी ने सारे व्रज भक्तों से रमण किया। तब सभी को सौभाग्यमद हुआ। एक गुणातीत अग्नि कुमारिका को मद नहीं हुआ तब श्री ठाकुरजी इस कुमारिका को लेकर पधारे। पीछे उसको भी सौभाग्य मद हुआ तब वहां से अंतर्धान होकर ये गुणातीत भक्त के हृदय में पधारे। यदि प्रभु हृदय में न हो तो एक क्षण में दशमी अवस्था (मरण) भक्तों की हो जाती है। जब गुणातीत कुमारिकाओं ने बाहर प्रकट प्रभु को नहीं देखा उसी समय मूर्च्छा खाकर गिरी तब प्रभु ने दोनों भुजाओं से उठाया है। तब वह भक्त बोली, "हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वाऽसि क्वाऽसि महाभुज ! दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्।" (हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रिय ! कहां हो कहां हो, हा बड़े भुजा वाले ! आपकी दासी और दीन मेरे को हे सखे ! सन्निधान बताओ) तुम पास हो इसीलिये आपने महाभुजा से उठाकर रक्षा की है। इसलिये दर्शन दो। पीछे सारे भक्तों ने पुनः पुलिन में आकर गुणगान किया। पीछे निःसाधन होकर रूदन किया तब उन्हीं के भीतर में से बाहर प्रकटे, इसलिये कुमारकिका के पास ही प्रभु हैं और ऐश्वर्य धर्म करके सब स्थान पर व्यापक है। इस भांति विरुद्ध धर्माश्रय का बोध किया। वह वैष्णवों को अवश्य जानना चाहिए।

मूलं – इदं हि पुष्टिमार्गीयं तदेव ज्ञायते बुधैः ।
गीतगोविंदाद्यपद्येऽप्येतदेव निरूप्यते ।।१०।।

श्लोकार्थ – यह पुष्टिमार्गीय तत्व है इसको ऐसे ही पंडित जानते हैं। क्योंकि जो गीत गोविन्द काव्य के प्रथम श्लोक में ही श्री नंदरायजी के वचन कुमार अवस्था सूचक लिखते हैं तथा श्री स्वामिनीजी के संग क्रीड़ा भी लिखी है, उसका ऐसा ही निरूपण किया है।

व्याख्या – जहां कोई कहे कि कुमारिका के पास ही प्रभु क्यों बसते हैं ? वहां कहते हैं कि कुमारिका पुष्टिमार्गीय है यह बुद्धि करके जानना। कुमारिका के धर्म जैसा धर्म आवे

तब जानना कि पुष्टिमार्ग धर्म आया। ऐसा धर्म दुर्लभ है। इसलिये अहर्निश कुमारिका के भाव की भावना मन में करना, दासत्व करने से कुमारिका की कृपा से भाव जब हृदयारूढ़ हो तब प्रभु का अनुभव हो। यह बुद्धि में निश्चय कर कुमारिका के भाव की भावना करना। श्री आचार्यजी के पुष्टिमार्ग में उन्हीं के भाव की सेवा है यह जानकर मार्ग की रीति से सेवा करना। श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी के चरण कमल का आश्रय लेकर उनके भाव रूप ही पिता पुत्र को जानना। गीत गोविंद में मानादिक विहार जयदेव ने निरूपण किया है, उसको कुमारिका के भाव की सब लीला जानना। इस प्रकार प्रभु कुमारिकाओं के परवश हैं। रस के अनेक ग्रंथ है। वे गीत गोविंद आदि में सब आये हैं। इसलिये कुमारिका की लीला इस प्रकार मन में जानकर भावना करना।

मूलं – अन्यथा नंदवचनं तादृशे युज्यते कथम् ।
अतस्तु पुष्टिमार्गीयविरुद्धगुणसंश्रयः ।।११।।

श्लोकार्थ – यदि प्रभु विरुद्ध धर्माश्रयी न होते तो नंदजी के वचन कैसे घटित होते? इसलिये प्रभु को विरुद्ध धर्माश्रयी जानना चाहिए।

व्याख्या – श्री नंदरायजी के वचन सत्य जानना क्योंकि जो गोड़ देश से सोलह हजार कुमारिका श्री नंदरायजी कंस को देने के लिये लाये वे कुमारिका पुष्टिमार्गीय थी। इसलिये प्रभु की सेवा में लगी। इसलिये नंदरायजी ने कंस को नहीं दी। कुमारिकाओं की बहुत सराहना कर पुत्र के सेवार्थ घर में रखी। इस कारण नंदरायजी के वचन की बड़े–बड़े तादृशीय सराहना करते हैं। इसलिये कुमारिका के स्नेह भाव श्री नंदरायजी से अधिक हैं। इस कारण श्री ठाकुरजी कुमारिका के वश में है। ऐसा पुष्टिमार्ग सर्वोपर है जिसमें श्रीकृष्ण भावात्मक रीति से सदा बिराजते हैं। उस पुष्टिमार्ग में प्रभु विरुद्ध धर्माश्रय स्वरूप से विराजमान हैं। अब आगे श्लोक में विरुद्ध धर्माश्रय का भाव प्रकाश (प्रकट) कर वर्णन करते हैं।

मूलं – रसमार्गीयधर्मास्तु ते बोधव्या विचक्षणैः ।
बालो रसिकमूर्द्धन्यः स्ववशोऽन्यवशः सदा ।।१२।।

बड़े शिक्षापत्र ४

श्लोकार्थ – विचक्षण जो चतुर पुरुष है उनके रसमार्ग के धर्म समझने योग्य है। श्री ठाकुरजी बालक हैं, तो भी रसिक के शिरोमणि है। अपने वश हैं, फिर भी सदा भक्तों के वश हैं।

व्याख्या – रसमार्ग की रीति में तथा मर्यादा में विरोध है और पुष्टि में विरोध नहीं है। पुष्टि में विलक्षण रीति है उसको कहते हैं। श्री रामचन्द्रजी के अवतार में धर्मस्थापन की रीति है। इसलिये एक पत्नीव्रत है और श्रीकृष्णावतार में समस्त व्रजभक्त गोप भार्या से रमण भी धर्म का स्थापन है। अन्य स्थान पर लोकवेद में जहां रसमार्ग तथा रसशास्त्र का वर्णन है। वहां धर्म मार्ग से विरोध है। क्योंकि जो रसशास्त्र में परकीया रमण में अधिक रस का वर्णन किया है। स्वकीया में कुछ न्यून भाव है। इसलिये वहां परकीया रमण हुआ। वहां धर्मस्थापन नहीं हैं और जहां पर धर्मस्थापन का वर्णन शास्त्र में है वहां परस्त्री का मन करके रमण का विचार करे तब भी दोष है। यह मर्यादा मार्ग की रीति है। पुष्टिमार्ग में श्री ठाकुरजी बिराजते हैं वे सारे धर्म की स्थापना करते हैं तथा समस्त व्रजभक्तों से रसशास्त्रोक्त रमण भी करते हैं। यह विलक्षणता है। पुष्टिमार्ग में श्री ठाकुरजी बालक हैं। पलना झूलते हैं और परम रसिकों के मुकुटमणि ग्यारह वर्ष के षोड्श वर्ष के एक कालावच्छिन्न हैं। अपने वश हैं। कोटानकोटि वर्ष से साधन करते हैं। उनको कभी दर्शन होता है। वेद नेति नेति कहते हैं। किसी के प्रभु वश में नहीं हैं। किन्तु सदा भक्त के वश में हैं। श्री यशोदाजी भक्ति करके बांधे हैं। सदा व्रजभक्तों के अधीन है। भक्त कहते हैं वही करते हैं। अन्यथा जानते नहीं। यह विरुद्धाश्रय जानना।

मूलं – **अभीतः सर्वथा मीतः साक्षेपो निरपेक्षकः ।**
चतुरोऽपि महामुग्धः सर्वज्ञोऽप्यज्ञ एव च ।।१३।।

श्लोकार्थ – निश्चय ही भयरहित है तब भी भययुक्त है। इच्छायुक्त है तब भी निरपेक्ष (इच्छा रहित) है, चतुर है तो भी महामुग्ध है। सर्वज्ञ है तब भी कुछ जानते नहीं है।

व्याख्या – प्रभु कैसे हैं ? भय से रहित हैं क्योंकि जो काल के काल हैं रंचक भृकुटि विला से कोटानकोटि ब्रह्माण्ड को रचते हैं और नाश भी करते हैं। सारे देवता डरते रहते हैं उनको भय लेशमात्र भी नहीं है और भययुक्त हैं। उन श्री ठाकुरजी ने मिट्टी खाई तब

बड़े शिक्षापत्र

श्री यशोदाजी लकड़ी लेकर डराती हैं कि तेने माटी क्यों खायी ?

तब श्री ठाकुरजी डर कर नेत्र में जल भरकर कहते हैं कि मैया मैंने माटी नहीं खाई है। इस भांति भक्तों से डरते हैं। जो अप्रसन्न होकर कभी मान मति नहीं करते हैं, ऐसे प्रभु हैं। प्रभु को किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है अक्षर ब्रह्म जैसा घर है, लक्ष्मी जैसी रानी है। कौस्तुभमणि आभूषण इत्यादि अलौकिक पदार्थ हैं। एक क्षण में सर्वसिद्ध करे ऐसी माया जैसी दासी है उनको किसकी अपेक्षा है और भक्तों की रंचक वस्तु भी हो उसको लेने की अपेक्षा है। व्रज में श्री यशोदाजी तथा व्रजभक्तों से नवनीत, खिलौना आदि के लिये अपेक्षा करते हैं। प्रभु चतुर शिरोमणि है कोटि ब्रह्माण्ड में जो कोई मर्यादा बिना चले उनको दण्ड देते हैं। क्षण–क्षण की क्रिया और सभी के मन का भाव जानते हैं और भक्तों के आगे महामुग्ध है। बालक है। भक्त देते हैं वही अरोगते हैं। आप कुछ जानते नहीं हैं। सर्वज्ञ हैं। सब स्थान पर व्यापक हैं। सारी सत्ता प्रभु की है। उनसे तीन लोक में भी कुछ दूर नहीं हैं। भक्तों के आगे अज्ञ हैं कुछ जानते नहीं हैं। खेल में हार जाते हैं। चन्द्रमा को लेकर खेलने के लिये रुदन करते हैं। ऐसे विरुद्धाश्रयी प्रभु हैं।

मूलं – आत्मारामोऽपि गोपीनां सर्वदा रतिवर्द्धनः ।
पूर्णकामोऽपि कामार्त्तो ह्यदीनो दीनभाषणः ।।१४।।

श्लोकार्थ – आत्मा में रमण करने वाले हैं तब भी गोपीजन को सर्वदा रति के वर्द्धन करने वाले हैं। पूर्ण काम हैं तथापि काम करके आर्त हैं। दीन नहीं हैं तब भी दीन जैसे भाषण वाले हैं।

व्याख्या – प्रभु सदा आत्माराम हैं, अपने आत्मा में रमण हैं, बाहर नहीं तथा गोपीजन के संग नित्य रमण कर नित्य नूतन काम की वृद्धि करते हैं और प्रभु पूर्ण काम है साक्षात् मन मथ के मनमथ हैं। उनको किस वस्तु से काम हैं, सर्वकाम से पूर्ण हैं, तब भी काम कर अति आर्त्त हैं। तनिक भूख प्यास में मांगते हैं। गोपीजन के मानादिक भय से काम विरह कर व्याकुल हो सखी का वेश धरकर आप मनाते हैं। दीनता से रहित हैं। ईश्वर के ईश्वर हैं। त्रिलोकी जिनको नमन करती हैं। वे दीनता क्या करे तब भी भक्तों से दैन्य करते हैं। मैं तुम्हारा हूं। तुम बिना मैं ओर को नहीं जानता हूं। इस भांति अनेक प्रकार के दैन्य के वचन

कहते हैं। यह विरुद्धाश्रयत्व जानना।

मूलं – **स्वप्रकाशोऽप्यप्रकाशो बहिष्ठोन्तः स्थितः सदा ।**
अस्वतंत्रः स्वतंत्रोऽपि समर्थो न तथाऽपि च ।।१५।।

श्लोकार्थ – अपने ही तेज से प्रकाशयुक्त हैं तब भी (भक्तों के आगे) प्रकाश रहित हैं। बाहर बिराजते हैं। फिर भी सदा भक्तों के अंतकरण में बिराजते हैं। स्वतंत्र हैं तो भी (भक्तों के पास) परतंत्र हैं, सर्वसामर्थ्य युक्त हैं, तब भी (भक्तों के आगे) असमर्थ हैं।

व्याख्या – प्रभु अपना प्रकाश सारी त्रिलोकी में कर रहे हैं और जिनका तेज अभिमान हुआ उसको तत्काल नाश कर अपना ही प्रकाश रखा है तथा भक्तों के आगे अपना प्रकाश जानते ही नहीं, जो भक्त करे वही हो। भक्त कहे वही आप करे। बाहर स्थित है सदा सर्वदा व्रजभक्तों के संग अनेक लीला करते हैं और सर्व प्राणीमात्र के अंतकरण में सदा स्थित हैं, प्रभु सदा स्वतंत्र लीला करते हैं। अपनी इच्छा से एक क्षण में ब्रह्माण्ड उत्पन्न करते हैं तथा नाश करते हैं और भक्तों के वश में हैं। व्रजभक्त कहते हैं, यहां बैठो वहां ही बैठते हैं। भक्तों के आगे स्वातंत्र्य की बात नहीं करते हैं। भक्तों के मनोरथ अनुसार प्रभु कार्य करते हैं। प्रभु सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं। कर्तुं–अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं सर्वसामर्थ्यवान् हैं। भक्तों के आगे आप सामर्थ्य रहित हैं। व्रजभक्त गोद में लेकर मन में आवे वहां जाते हैं अपना मनोरथ पूर्ण करते हैं। वहां प्रभु सामर्थ्य रहित होकर रहते हैं। इस भांति प्रभु का स्वरूप विरुद्ध धर्माश्रयी है।

मूलं – **एवं हि पुष्टिमार्गीयं विरुद्धस्वगुणालयम् ।**
कृष्णं कृपालुं सततं शरणं भावयेद्धृदि ।।१६।।

श्लोकार्थ – ऐसे विरुद्ध अपने गुण के घर कृपालु पुष्टिमार्गीय श्रीकृष्ण के शरण की निरंतर हृदय में भावना करे।

व्याख्या – इस प्रकार विरुद्ध गुण के घर जो किसी से जाने नहीं जाय ऐसे रसात्मक भावात्मक प्रभु पुष्टिमार्ग में विराजते हैं। ऊपर कहे हैं ऐसे भक्तों पर परम कृपालु श्रीकृष्ण फलात्मक है। अपने हृदय में शरण की भावना निरन्तर रखे तब श्रीकृष्ण तो परम कृपालु हैं, वे कृपा करेगे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है **"तस्मात् सर्वात्मना**

नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम'' (इसलिये सर्वात्म से श्रीकृष्ण मेरे शरण है) तथा विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **''अशक्येवा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः''** (अशक्य में तथा सुशक्य में निश्चय हरिहि शरण) इत्यादि स्थान–स्थान पर श्री आचार्यजी ने कहा है। इसलिये शरण की भावना हृदय में कर्तव्य है। अष्टाक्षर का महामंत्र सर्वसिद्धिकर्त्ता जानकर अष्ट प्रहर स्मरण करे। इसके लिये विज्ञप्ति में श्री गुसांईजी ने कहा है – **''यदुक्तं तात चरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम। तत एवाऽस्ति नैश्चिंत्य मैहिके पारलौकिके''** (जो तात चरण – श्री मदाचार्यजी ने **''श्रीकृष्णः शरणं मम''** कहा है उससे ही यह लोक तथा परलोक में निश्चिंतता है) इसलिये श्रीकृष्ण जो परम कृपालु हैं उनकी भावना अपने हृदय में कर मन कर्म वचन से शरण जाय यह निश्चित सिद्धान्त है।

मूलं – असाधनः साधनवानसाधुः साधुरेव वा ।
शरणादेव निखिलं फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ।।१७।।

श्लोकार्थ – साधनरहित अथवा साधन करने वाला असाधु अथवा साधु की शरण में जाने से संशयरहित समग्र फल को प्राप्त होता है।

व्याख्या – किसी जीव से एक साधन भी नहीं होता है और किसी जीव से अनेक प्रकार के साधन होते हैं। कोई जीव साधु हैं, परम सुशील हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सरता रहित हैं। कोई असाधु है, काम, क्रोधादिक् दोष से भरा है और कोई जाति देवता, मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चांडालपर्यन्त, पशु, पक्षी आदि अखिल में से कोई जीव श्री ठाकुरजी के शरण जाते हैं उनको निश्चय ही फल की प्राप्ति होगी। इसमें संदेह नहीं हैं। प्रभु की शरण यह सर्वोपर साधन है। जो प्रभु की शरण हुआ वह जीव सर्वधर्म कर चुका और अनेक साधन करता है पर प्रभु के शरण नहीं आया वहां तक फ़ल की प्राप्ति नहीं हैं। इसलिये प्रभु के शरण जाने से सारा फल सिद्ध होता है। यह सिद्धान्त निश्चय हुआ है।

मूलं – भक्तिमार्गे साधनं च फलं शरणमेव हि ।
सर्वधर्मपरित्यागः स्वतंत्रं चेत्फलं हि तत् ।।१८।

श्लोकार्थ – भक्ति मार्ग में साधन और फल शरण ही हैं इसलिये सर्वधर्म परित्याग (अनन्य भक्ति) हो तो यह स्वतंत्र फल रूप शरण होता है।

व्याख्या – भक्ति मार्ग में साधन ही श्रीकृष्ण की शरण है और फल भी श्रीकृष्ण शरण है। साधन फल पृथक् नहीं है। साधन ही फल रूप हैं। इसलिये शरण ही मुख्य फल है। भगवान् ने गीताजी में कहा है – **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"** (सर्व धर्म का त्याग करके एक शरण रूप मुझे प्राप्त हो)। इस श्लोक के ऊपर श्रीगुसांईजी ने अलग स्वतंत्र टीका की है। उसमें शरण की भावना का मुख्य कर निरूपण है। एक श्रीकृष्ण का आश्रय जिस जीव में हुआ वहां सारे धर्म सिद्ध हुए, उसमें सबसे मुख्य फल रूप श्रीकृष्ण का आश्रय है, यह भाव जानकर शरण अवश्य कर्तव्य है।

मूलं – **परोक्षे शरणं तादृङ्महापुरुषयोगतः ।**
कृपा चेत्तादृशानां हि तदा तद्द्वारकं भवेत् ।।१६।।

श्लोकार्थ – अनवतार दशा में जैसे महापुरुष के योग से शरण होते हैं। जब तादृशीय की कृपा हो तब तादृशीय द्वारा शरण होते हैं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण की अवतार दशा में प्रसिद्ध शरण हो और श्रीकृष्ण के परोक्ष में श्री आचार्यजी द्वारा सिद्ध हो, श्री आचार्यजी के परोक्ष में श्री आचार्यजी के ग्रंथ वचनामृत द्वारा शरण सिद्ध हो। श्रीकृष्ण की प्राकट्य दशा में तो प्रसिद्ध शरण हो। परोक्ष दशा में महापुरुष भगवदीय से मिलकर शरण का विचार करे यह पुष्टिमार्ग की रीति है। सेवा समय साक्षात् शरण और अनोसर में भगवदीय से मिलकर शरण की भावना करे क्योंकि जो तादृशीय भगवदीय की कृपा से उसी भगवदीय द्वारा शरण सिद्ध हो। उसमें संयोग, विप्रयोग दो प्रकार का शरण सिद्ध होता है। सेवा में तो संयोगशरण सिद्ध हैं, चरण स्पर्श करते ही तुलसी नित्य समर्पित है। यह साक्षात् शरण हुआ और अंतकरण में शरण भगवदीय द्वारा होता है।

मूलं – **तेषामपि तु पारोक्ष्ये तदुक्तैर्वचनैः स्वतः ।**
तत्प्रकाशितमार्गैकस्थितौ भवति सर्वथा ।।२०।।

श्लोकार्थ – ऊपर के श्लोक में कहे ऐसे महापुरुष के भी परोक्ष में उनने कहा वचनामृत करके स्वतः उनने प्रकट किये मार्ग में ही मुख्य स्थिति हो तब सर्वथा शरण सिद्ध हो।

व्याख्या – ऊपर कहे संयोग में साक्षात् शरण और परोक्ष में भगवदीय से मिलकर शरण सिद्ध हो। यहां भगवदीय महापुरुष श्री आचार्यजी हैं इन द्वारा शरण सिद्ध हो। श्रीआचार्यजी के परोक्ष में भगवदीय से मिलकर श्री आचार्यजी के वचनामृत ग्रंथ द्वारा शरण सिद्ध हो। श्री आचार्यजी ने पुष्टिमार्ग को प्रकट किया है। उसमें स्थित हो तब सर्वथा शरण सिद्ध हो। क्योंकि जो श्रीकृष्ण के परोक्ष में श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी श्री वल्लभकुल तथा उनके परोक्ष में (असन्निधान में) उनके वचन की भावना करे, सारे ग्रंथों का भाव कहे, सुने, उनके पुष्टिमार्ग में स्थित होकर शरण की भावना करे तो निश्चय ही शरण सिद्ध हो।

मूलं – संसारिणा सदा दुष्टसंगिनामन्नदोषतः ।
बहिर्मुखानां मत्तानां कुतो मार्गस्थितिर्भवेत् ।।२१।।

श्लोकार्थ – सदा दुःसंग करने वाले, अन्न दोष से बहिर्मुख, तथा उन्मत्त संसारियों की पुष्टिमार्ग में स्थिति कहां से हो।

व्याख्या – ऊपर कहा कि जो साक्षात् शरण और परोक्ष दशा में श्री आचार्यजी द्वारा शरण, उनके परोक्ष में उनके ग्रंथ वचनामृत द्वारा भगवदियों से मिलकर पुष्टिमार्ग में स्थित होकर शरण पर विचार करे, परन्तु दुःसंग हो तो सारा किया क्षण में जाता रहता है क्योंकि संसारी जीव है वह सदा दुष्ट है। इसलिये दुष्ट संग से निश्चय ही दुष्टता होती है। इसलिये संसारासक्त जीव है उनका संग कभी भी नहीं करे, संसारी को बहिर्मुख कब जानना। वहां कहते हैं – लौकिक विषयादिक में तन, मन, धन से उन्मत्त अष्ट प्रहर लौकिकावेश में रहे भगवद् धर्म में मन नहीं लगे, अभिमान, अहंकार मन में बहुत रहे, ऐसे संसारी जीव के हृदय में यह पुष्टिमार्ग कभी भी स्थित नहीं होता है। ऐसा बहिर्मुख हो उसका संग करे तो पुष्टि मार्ग से नष्ट हो जाता है। इसलिये संसारी बहिर्मुख का संग छोड़कर भगवदीय का संग कर शरण भाव की भावना करे।

मूलं – तदर्थं श्रीमदाचार्यचरणांबुरुहाश्रयः ।
सदा विधेयस्तेनैव सकलं सिद्धिमेष्यति ।।२२।।

बड़े शिक्षापत्र ४

श्लोकार्थ – उसके लिये श्री मदाचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय सदा कर्तव्य है। उसी से सर्वसिद्धि को प्राप्त होंगे।

व्याख्या – जो कदाचित् वल्लभकुल तथा तादृशीय वैष्णव का संग नहीं हो और कुछ ग्रंथ वार्ता में अभिनिवेश नहीं हो तो क्या करे, वहां कहते हैं कि जो दुःसंग (बहिर्मुख का संग) छोड़कर अपने से जितनी सेवा बन सके वह करे अपने हृदय में श्री आचार्यजी महाप्रभु का दृढ़ आश्रय रखे। श्री महाप्रभुजी के चरण कमल की भावना अष्ट प्रहर मन लगाकर करे तो सकल मनोरथ निश्चय ही सिद्ध हो। क्योंकि श्री आचार्यजी महाप्रभु अलौकिक अग्नि रूप है। जो वैष्णव श्री आचार्यजी महाप्रभु के शरण आकर उनके चरण कमल को सदा मन लगाकर आश्रय करता है, उनके सकल कार्य सिद्ध होते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है।

मूलं – तदाश्रयोऽपि मनसः संगाभावेन चेत्सताम् ।
तोषाभावेन शिथिलो यदि दैवाद्भविष्यति ।।२३।।

तदास्माकं गतिः का वेत्येवं चिंताऽस्ति मे हृदि।
लौकिकक्लेशसंबंधो हर्यंगीकृतलक्षणम् ।।२४।।

श्लोकार्थ – सत्पुरुष के संग के अभाव से, मन प्रसन्न नहीं रहने से कभी भी उनका आश्रय शिथिल होगा, तब हमारी क्या गति होगी। यह चिंता मेरे हृदय में है। लौकिक क्लेश का संबंध ही हरि की अंगीकृति का लक्षण है। (लौकिक क्लेश हो, तब वैराग्य हो जैसे अंग, चित्रकेतु, पिंगला, कदर्य, इनको क्लेश से ही लौकिकासक्ति छूटी है) यह मन में जानना।

व्याख्या – सदा मन से श्री आचार्यजी का आश्रय करे। सत्संग का अभाव हो, भगवदीय का संग नहीं हो तब भी मन से आश्रय नहीं छोड़े। अपने मन को सभी स्थान से हटाकर श्री आचार्यजी के चरण कमल में लगावे, निरन्तर तोषाभावकर आश्रय शिथिल नहीं करे क्योंकि जो भगवदीय के संग से आश्रय शीघ्र सिद्ध होता है। भगवदीय के संग बिना आश्रय शीघ्र सिद्ध नहीं होता है। भगवदीय का संग होगा तब ही आश्रय करूंगा ऐसा विचार कर आश्रय को शिथिल नहीं करे। भगवदीय किसको जाने, कब मिले, वहां तक आश्रय किये बिना दुर्बुद्धि हो जावे, इसलिये मन से आश्रय नहीं छोड़े। जो होनहार है वह तो होगी ही।

बड़े शिक्षापत्र

जैसा दैव ने रचा है वैसा होगा। मैं क्या करूं ? इस भांति मन में शिथिल भाव नहीं करे जैसे–तैसे अपने मन को खींचकर श्री आचार्यजी के चरण कमल में लगावे। श्री आचार्यजी ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में वर्णन किया है –

"अशूरेणापि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य भावनात्" (अशूर जो शूरवीर नहीं हैं उनको भी अपने असामर्थ्य की भावना से धैर्य कर्तव्य है।) इन्द्रिय देह तो लौकिक सुख चाहते हैं, भगवत्संबंध में आदिकाल से शिथिल ही है। इसलिये इन्द्रिय देह तो भगवद् धर्म से मन को शिथिल करना चाहते हैं। इस कारण इन्द्रिह देह तो असुर है। परन्तु मन में असुरत्व की भावना नहीं करे यह जाने कि नेत्र का मुख्य धर्म है प्रभु का दर्शन करना। हाथ का धर्म है जो सेवा करना। श्रवण से भगवत् कथा सुनना। मुख से भगवन्नाम लेना देह से आलस्य नहीं करना। तत्काल उठना। भगवद् धर्म में यह जानना कि आज बने वह आज कर लूं। कल न जाने क्या हो। इस भांति श्री महाप्रभुजी का आश्रय करे।

अब वैष्णव के लक्षण कहते हैं कि अपने एक श्रीकृष्ण को ही गति जाने। अन्याश्रय नहीं करे यह वैष्णव का मुख्य धर्म है। इसको कब जाने जब लौकिक क्लेश का संबंध हो तब मन में चिंता कर पीड़ित नहीं हो, क्योंकि जो हरि हैं वे अपने जन को लौकिक क्लेश अनेक प्रकार से देते हैं। तब भी यह जीव अपना धर्म नहीं छोड़े। हरि की ही शरण कर मन में चिंतन न रखे। यह अंगीकृत वैष्णव के लक्षण हैं। जैसे श्रीगुसांईजी के सेवक विट्ठलदास श्री नारायणदास के पास चाकरी को गये। तब नारायणदास ने विट्ठलदास को एक परगने पर भेजा। वहां कुछ पैसे कम हुए तब नारायणदास ने विट्ठलदास को कारागार दिया। नित्य मारने से विट्ठलदास के पीठ की खाल (चमड़ी) उतर गई। ऐसा दुःख पाया परन्तु यह नहीं कहा कि मैं वैष्णव हूं। पीछे श्रीगुसांईजी जब पधारे तब विट्ठलदास दर्शन को आये। तब श्री गुसांईजी ने पूछा कि तेरी यह दशा क्यों है। तब विट्ठदास ने कहा कि यह देह का दंड है वह भुगते ही छूटता है। तब श्री गुसांईजी ने नारायणदास से कहा कि इस भांति मारने पर तेरे को जीव पर दया नहीं आई ? इसलिये वैष्णव को परीक्षा के लिये हरि क्लेश देते हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में आश्रय के लक्षण कहे हैं कि इतने दुःख में हरिशरण रखे –

बड़े शिक्षापत्र ४

"ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःख हानौ तथा पापेभये कामाद्यपूरणे ।।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वार्थे शरणं हरिः ।।

इस लोक में परलोक में निश्चय ही हरि शरण है। दुःख की हानि में तथा पाप में, भय में कामादिक की अपूर्ति (अप्राप्ति) में, भक्त के द्रोह में, भक्ति के अभाव में, भक्त अपना अतिक्रम करे तब अशक्य में, सुशक्य में सर्व अर्थ में हरि शरण है। इत्यादि वचन का विचार कर्तव्य है। जितना लौकिक, वैदिक, देह संबंधी दुःख हो उसमें चिंतातुर नहीं हो। एक अपने प्रभु ही के शरण रहे। यह अंगीकृत वैष्णव के लक्षण हैं।

**मूलं – लोके स्वास्थ्यमिति श्रीमदाचार्यवचनामृतात् ।
तदीयैः स्वामिहार्दज्ञैस्तोषः कार्यस्तु तेन हि ।।२५।।**

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी के वचनामृत नवरत्न ग्रंथ में है उसमें आप आज्ञा करते हैं (जो लोक में तथा वेद में हरि स्वस्थता नहीं करेगे) उस से स्वामी के हृदय का अभिप्राय जानने वाले पुष्टिमार्गीय तदीयों को इस कारण से संतोष करना चाहिए।

व्याख्या – श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में वचनामृत कहे हैं –

"लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति"

(हरिलोक में तथा वेद में स्थिरता नहीं करेगे) इस वचन से अपने जनों की लौकिक, वैदिक में स्थिति भगवान् नहीं कराते हैं। प्रभु लौकिक छुड़ा कर अपना ही आश्रय सिद्ध कराते हैं। तब भगवदीय स्वामी के हृदय का अभिप्राय चिंतन करते हैं। जो लोक वेद, कार्य प्रभु ने सिद्ध नहीं किये हैं। प्रभु ने भला किया कि लौकिक, वैदिक से छुड़ाया है। यदि लौकिक सिद्ध होता है तो लौकिक कार्य के आवेश में प्रभु को भूल जाता। जो वैदिक सिद्ध होता तो वह वैदिक कार्य के आवेश में प्रभु को भूल जाता, इससे प्रभु ने जो किया भला ही किया। इस भांति स्वामी के हृदय के अभिप्राय को मन में भावना कर संतोष कर मन को प्रसन्न रखे, उसको तदीय कहते हैं।

मूलं – **अतो हि लौकिकः क्लेशो नांतरः क्रियतां क्वचित् ।**
बाह्यतस्तु प्रकर्तव्यो ह्यौदासीन्यप्रसाधनात् ।।२६।।

श्लोकार्थ – इसलिये अंतर में लौकिक क्लेश किसी समय नहीं करना और औदासीन्य की सिद्धि के लिये बाहर से कुछ करना चाहिए।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि जो श्री ठाकुरजी लौकिक वैदिक कार्य सिद्ध नहीं करे, तब भगवदीय मन में संतोष करके क्लेश नहीं करे प्रसन्न रहे। पीछे लौकिक, वैदिक कार्य नहीं करे तो गृहस्थाश्रम कैसे चले ? इस भांति कोई संदेह करे वहां कहते हैं लौकिक वैदिक सिद्ध नहीं हो तब भगवदीय यह जाने कि मुख्य धर्म तो भगवत्सेवा स्मरण भगदाश्रय ही है और मैंने लौकिक वैदिक कार्य में मन लगाया इसलिये प्रभु ने कार्य सिद्ध नहीं की वह भला ही किया। अब लौकिक वैदिक में मन नहीं रखूंगा। बने वही करूंगा। ऐसा विचार करे बाहर लोगों को दिखाने के लिये कुछ करे हृदय से उदासीन रहे भगवत्सेवा संबंधी कार्य में मन रखे। लौकिक वैदिक कार्य से अपने मन को खींच ले। इस भांति लौकिक में रहे, अपना धर्म किसी को नहीं जतावे। लौकिक वैदिक क्रिया लोगों को जतावे। इस प्रकार भगवदाश्रय करे तो प्रभु प्रसन्न रहे।

मूलं – **दुःखं दुःसंगजं चान्यल्लौकिकाभिनिवेशजम् ।**
सत्संगाभावजं चापि तथा मार्गस्थितेरपि ।।२७।।

तत्तु मत्प्रभुपादाब्जकृपया सर्वथा मम ।
तदीयानां च संगेन क्षणादद्दूरीभविष्यति ।।२८।।

श्लोकार्थ – एक दुःसंगजन्य दुःख है, दूसरा लौकिका वेशजन्य दुःख है। सत्संग के अभावजन्य भी दुःख है। तथा मार्ग की स्थिति का भी दुःख है। (पुष्टिमार्ग में स्थिति कैसे रहे यह दुःख है) यह मेरा दुःख तो मेरे प्रभु (श्री आचार्यजी) के चरणारविंद की कृपा से और तदीय के संग से क्षण में निश्चय ही दूर होगा।

व्याख्या – लौकिकावेश करावे ऐसा जो दुःसंग जिनका संग दुःख रूप जानना। उसका कहना कभी भी नहीं करना। यह भक्त की टेक है। जैसे प्रह्लादजी भगवद् भक्त हैं उनको

बड़े शिक्षापत्र ४

अपने प्रभु का स्मरण करने में पिता ही प्रतिबंधक हुए। प्रह्लादजी को बहुत समझाया तब भी प्रह्लादजी नहीं मानें। तब उन प्रह्लादजी को बहुत दुःख दिया। तू भगवान् का स्मरण मत कर, तब प्रह्लादजी ने अपना मरण समान दुःख सहा, परन्तु भगवदाश्रय नहीं छोड़ा। प्रभु ने प्रसन्न होकर प्रह्लादजी की रक्षा की और हिरण्य कश्यपु को मारा। वैसे ही वैष्णव को दुःसंग हो, वह तो लौकिक कार्य में लगावे। इससे इनका संग दुःख रूप जान त्याग ही करे और जो भगवद् धर्म में लगावे उसी का सत्संग करे यदि कदाचित् सत्संग नहीं मिले तो अपने पुष्टिमार्ग की रीति प्रमाण सेवा स्मरण नहीं छोड़े। दुःसंग को दुःख रूप जानकर सब से अलग बैठकर श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी का आश्रय मन में दृढ़ रखकर नित्य नियम से सेवा स्मरण करे यह पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त है। पुष्टिमार्गीय जितने जीव शरण आये हैं उन सभी के प्रभु श्री आचार्यजी महाप्रभु हैं। ऐसे श्री महाप्रभुजी के पद कमल की कृपा से सर्वथा तदीय का संग हो। इसलिये श्री महाप्रभुजी के चरण कमल की कृपा से तादृशीय भगवदीय का संग हो, उनके संग से श्री महाप्रभुजी एक क्षण भी दूर नहीं रहे। यह चौरासी वैष्णव की वार्ता में प्रसिद्ध है। जब श्री आचार्यजी ने काशी में आसुर व्यामोह लीला दिखाई तब एक वैष्णव ने काशी से भगवानदास के पास आकर सब समाचार कहे तब भगवानदास ने कहा कि तेरे को भ्रम हुआ होगा। श्री महाप्रभुजी ऐसा कभी नहीं कर सकते। तब उस वैष्णव ने कहा कि मैं अपनी आंखों से देखकर आया हूं। तब भगवानदास ने मंदिर के किंवाड़ खोलकर उस वैष्णव को श्री आचार्यजी के दर्शन कराये। आप बैठे पोथी बांच रहे हैं। तब उस वैष्णव के मन का संदेह गया। इसलिये तादृशीय वैष्णव से श्री आचार्यजी महाप्रभुजी एक क्षण अलग नहीं रहते हैं। ऐसे वैष्णव का संग अवश्य करे तब श्री आचार्यजी महाप्रभु हृदय में पधारते हैं। भगवदीय का संग ऐसा है।

मूलं – **ते दुर्लभा इति मनः खिन्नं भवति नित्यदा ।**
यदाप्रभुः कृपापूर्णः कृपयिष्यति दैन्यतः ।।२६।।
तदाचार्यपदासक्तांस्तानुपस्थापयिष्यति ।
अस्माकं तु गतिर्नान्या श्रीकृष्णः शरणं मम।।३०।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – ऐसे भगवदीय दुर्लभ है, यह देखकर निरन्तर मन खेदयुक्त हो गया है। जब दैन्य करके कृपा पूर्ण प्रभु कृपा करेगे तब श्री आचार्यजी के चरणारविंद में आसक्तिवाले वे भगवदीय को मिलायेंगे। परन्तु हमारे तो और कुछ गति नहीं हैं। एक **''श्रीकृष्णः शरणं मम''** यह साधन है। (द्वितीय श्लोक के पूर्वार्द्ध में) **''तदाचार्य पदासक्तिस्तानुपस्थापयिष्यति''** ऐसे किसी पुस्तक में पाठ है उसके अनुसार अर्थ – श्री आचार्यजी के चरणारविंद में आसक्ति होगी, वह आसक्ति ऐसे भगवदीय को मिला देगी।

व्याख्या – ऐसे भगवदीय मिलने अति दुर्लभ है, मैंने सब स्थान ढूंढ़े पर मेरे को नहीं मिले। इसलिये मन में दुःख पाता हूं तब भी मन में दैन्य आता नहीं हैं, श्री आचार्यजी महाप्रभु कृपा करे, मेरे को भगवदीय का संग नहीं हैं और दीनता भी नहीं हैं, यह दुःख है। जब श्री आचार्यजी की पूर्ण कृपा हो तब ही भगवदीय का संग हो। जैसे भगवदीय के संग से प्रभु कृपा कर हृदयारूढ़ हो, वैसे ही अत्यन्त दैन्य सिद्ध होने से प्रभु प्रसन्न हो हृदय में आवे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्री सुबोधिनी जी में कहा है कि प्रभु को प्रसन्न करने का एक ही परम साधन है वह है दैन्य। त्रिविध नामावली में पंचाध्यायी के प्रसंग पर नाम कहा है – **"दीनकृपाप्रकटितरूपाय नमः:'**। सारे साधन व्रजभक्तों ने किये, श्री ठाकुरजी की लीला की, गुणगान किया, पीछे निःसाधन होकर रूदन किया तब श्री ठाकुरजी प्रकट हुए। इससे दैन्य बड़ा पदार्थ है जब श्री आचार्यजी की पूर्ण कृपा हो तब दैन्य आवे। अब जिस प्रकार दीनतादि सर्वधर्म हृदय में स्थापित हो वह उपाय अंतिम श्लोक में कहते हैं। यह जीव जब श्री आचार्यजी के चरण कमल में मन, कर्म, वचन से आसक्त हो तब दीनतादि सारे धर्म हृदय में स्थापित हो, यह सर्वोपर उपाय है और कोई नहीं। क्योंकि जब जो जीव श्री आचार्यजी के शरण आकर मन, कर्म, वचन से इनके कर कमल का आश्रय करे तब श्री आचार्यजी महाप्रभु जो कृपानिधि हैं। दैवी जीवों पर कृपा कर उद्धारार्थ प्रकटे हैं। वे सभी भक्तों की आर्त्ति को दूर करेगे। श्री सर्वोत्तम ग्रंथ में श्री गुसांईजी ने श्री आचार्यजी के नाम कहे हैं – **"कृपानिधये नमः"**, **"स्मृतिमात्रार्त्ति नाशनाय नमः''** श्री आचार्यजी कृपा के निधि हैं और नाम स्मरण मात्र में ही सर्व आर्त्ति को हरते है। इसलिये श्री आचार्यजी की कृपा से दैन्य आदि सारे धर्म हृदय में आवे और मेरे में तो एक भी साधन नहीं हैं। एक – **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह ही गति है। श्री गुसांईजी

ने विज्ञप्ति में कहा है **"यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम। तत एवाऽस्ति नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिके"** (हमारे पितृ चरण) श्री महाप्रभुजी ने **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह बताया है उसको करके हमको इस लोक में और परलोक में निश्चिंतता है। यह हरिराय जी कहते हैं। श्री आचार्यजी श्री गुसांईजी के अनुसार मेरे भी एक अष्टाक्षर मंत्र **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह ही गति है। अष्टप्रहर इस भांति शरण की भावना करता हूं। इसलिये जो जीव पुष्टिमार्गीय हैं उनके भी श्री आचार्यजी का आश्रय कर अष्टाक्षर मंत्र कहा करना यह सिद्धान्त है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।४।।

बड़े शिक्षापत्र ५

अब पांचवे शिक्षापत्र में विरह भाव से भगवान् की भावना करनी चाहिए। उस भावना का साधन दैन्य है। दैन्य का साधन तापभाव है। इस विषय का निरूपण करते हैं। ऊपर कहे हुए प्रकार से श्री आचार्यजी का तन, मन, कर्म, वचन से दृढ़ आश्रय करने से ही दीनतादि धर्म सिद्ध होते हैं। तब पुष्टिमार्गीय वैष्णव अष्टाक्षर मंत्र का स्मरण कर के अपनी गति समझकर उसका स्मरण करता रहता है।

मूलं – सदा विरहभावेन भावात्मा भाव्यतां हरिः ।
कृष्णे हृदयदेशस्थः स्वामिनीनां कृपानिधिः ।।१।।

श्लोकार्थ – सदा विरह भाव करके भावात्मा हरि, श्री स्वामिनी जी के हृदय में विराजने वाले, कृपानिधि श्रीकृष्ण भावनीय हैं।

व्याख्या – सदा विरह की भावना भावात्मक हरि की करे वहां यह संदेह हो कि श्रीकृष्ण व्रज में प्रकट हुए हैं इस बात को सब कोई जानता है तथा तुम कहते हो कि भावात्मक श्रीकृष्ण की भावना करो। वह भावात्मक श्रीकृष्ण पृथक् है ? वे कहां रहते हैं। किस प्रकार से उनकी भावना करनी चाहिए। इस भांति संदेह करते हैं वहां कहते हैं कि श्रीकृष्ण के

क्रियात्मक और भावात्मक दो स्वरूप हैं। मथुरा से वसुदेव जी लेकर आये वह क्रियात्मक स्वरूप तथा श्री यशोदाजी के घर प्रकट हुए वह भावात्मक स्वरूप है। श्रीकृष्ण की दो लीला है। बाल लीला और किशोर लीला, बाल लीला श्री गोकुल में और किशोर लीला श्री वृंदावन में है। इसलिये बाल लीला के भाव सेवा करे तथा किशोर लीला के भाव से स्मरण करे श्री गुसांईजी कहते हैं –

सदा सर्वात्मना सेख्यो भगवान् गोकुलेश्वरः ।
स्मर्त्तव्यो गोपिकावृन्दैः क्रीडन् वृंदावने स्थितः ।।

सदा सर्वात्त्म भाव से श्री गोकुल के ईश्वर भगवान् सेव्य हैं और वृन्दावन में स्थित व्रजभक्तों के यूथ के साथ कीड़ा करने वाले भगवान् स्मरण करने योग्य हैं। इत्यादि वचन के अनुसार बाल लीला श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप में तथा रासलीलादि श्री गोवर्द्धननाथजी के स्वरूप में हैं। वह विप्रयोगात्मक स्वरूप श्री स्वामिनीजी के हृदय में रहता है। जब श्री स्वामिनीजी के भाव की भावना करे कि स्वामिनीजी प्रभु को किस भांति लाड़ लड़ाती हैं तथा किस भांति गुणगान करती है। प्रभु के संग किस भांति लीला करती है, इस भाव का विचार करे तो श्री स्वामिनीजी कृपानिधि प्रसन्न होकर भाव का दान करे तब भावात्मक प्रभु का अनुभव होता है। प्रभु के अनुभव का उपाय नहीं है। क्योंकि जो श्रीकृष्ण के हृदय में श्री स्वामिनीजी ही स्थित हैं तथा कुछ (श्री स्वामिनीजी बिना) श्रीकृष्ण जानते नहीं हैं। इसलिये श्री स्वामिनीजी का आश्रय कर भावात्मक हरि (श्री स्वामिनीजी जिनका विरह करते हैं उन) की भावना करे तब श्री स्वामिनीजी कृपा कर प्रसन्न हो तब प्रभु अनुभव जताते हैं।

मूलं – अस्माकमतिभाग्येन तदास्यं वह्निरुद्गतः ।
अतः शीतलभावोऽस्मिन् मार्गे नैवोपयुज्यते ।।२।।

श्लोकार्थ – पुष्टिमार्गीय जीव के अति भाग्य से भावात्मक प्रभु के मुखारविंद रूप अग्नि (श्री आचार्यजी) प्रकट हुए हैं। इससे पुष्टि मार्ग में शीतल भाव से फल सिद्धि नहीं होती है। अतः पुष्टिमार्गीय को विरहात्मक ताप से अपने को तापित करना चाहिए। इस प्रकार तापित होने पर ही प्रभु अनुग्रह करते हैं।

व्याख्या – यह विप्रयोग भावाग्नि मेरे भाग्य में तो नहीं हैं क्योंकि यह भावात्मक अग्नि तो दास्य धर्म हो उनके हृदय में हो। वह दास्य धर्म ही अति कठिन महादुर्लभ है और दैन्य अति दुर्लभ है। इसलिये कहते हैं कि स्वामी का सुख चाहे अपना नहीं चाहे वह दास, जैसे पद्मनाभदास जी की वार्ता में श्री आचार्यजी महाप्रभुजी भोजन को पधारे उसी समय जिस व्यापारी का द्रव्य मार्ग में लुट गया था वह रोता हुआ आया। तब पद्मनाभदासजी ने कर्जा (ऋण) लेकर उस व्यापारी को द्रव्य दिया किन्तु बोलने नहीं दिया। श्री आचार्यजी को श्रम नहीं करने दिया। ऐसा दास्य धर्म कठिन है, और दैन्य का प्रकार रासपंचाध्यायी में प्रसिद्ध है। कहा है कि अंतर्धान समय व्रजभक्तों ने श्रीकृष्ण लीला ही की तथा गुणगान भी किया। उसके पीछे निःसाधन दीनता की योग्यता हुई। मेरे में दासधर्म भी नहीं है और निःसाधन दीनता भी नहीं हैं। इसलिये भावाग्नि अति दुर्लभ है। यह श्री आचार्यजी का पुष्टिमार्ग है उसमें तो यह रीति है कि जो शीतलभाव कभी नहीं करना। जैसे कुंभनदास ने एक दर्शन के विरह में गाया है – **"केते दिन बीत गये बिनु देखे"**।

इस भांति आतुरता हो, तब पुष्टिमार्ग में भाव का अनुभव होता है।

मूलं – **तापभावः परं दैन्यं प्रकाशयति सर्वथा ।**
दैन्येन दयया दीनबंधुः प्रादुर्भवत्यसौ ।।३।।

श्लोकार्थ – ताप भाव ही परम दीनता का प्रकाश करता है, उस दैन्य से ही यह दीनबंधु प्रभु दया कर प्रकट होते हैं।

व्याख्या – अब जिस प्रकार दैन्य हो उसका उपाय कहते हैं। प्रथम तो हृदय में ताप हो कि सारा जन्म बीत गया किन्तु पुष्टिमार्ग में साक्षात् पुरूषोत्तम बिराजते हैं उनका कुछ भी अनुभव नहीं हुआ। मेरे में कुछ भी धर्म नहीं है। इस भांति प्रभु के विषय में ताप हृदय में पैदा हो तब वह ताप सारे दोषों को दूर करता है। अनेक जन्म के कायिक, वाचनिक, मानसिक पाप हृदय में भरे हैं और काम, क्रोध, मद, मत्सर इनसे जीव का हृदय मलिन है। इसलिये जब तापाग्नि प्रकट हो तब सारे दोषों का नाश हो। उसके पश्चात् दैन्य आये तब देह की ओर दशा हो जाती है। खानपान देह संबंधी सुख दुःख सब छूट जाते हैं। इस भांति

जब हो तब हृदय में प्रभु का प्रकाश हो। क्योंकि जो दीनबंधु श्री ठाकुरजी का नाम है उससे जब जीव को दैन्य हो तब प्रभु को दया आवे उसका श्री भागवत में निरूपण है, जब द्रौपदी को दैन्य हुआ तब प्रभु ने लाज रखी। गजेन्द्र को दैन्य हुआ तब प्रभु पधारे। रास पंचाध्यायी में व्रजभक्तों को जब दीनता हुई –

"इति गोप्यः प्रगायंत्यः प्रलपंत्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ।।"

इस रीति से गोपीजन गान करते थे और विचित्र विलाप करते थे। उन कृष्ण के दर्शन की इच्छा से हे राजन् ! सुस्वर रूदन करने लगें। यह भाव की सिद्धि हुई। उसके पीछे – **"तासामाविर भूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः । पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ मन्मथः ।।"** उनके मध्य में हास्य युक्त मुखारविंद वाले, पीताम्बर धरने वाले, मालायुक्त साक्षात् काम के भी काम भगवान् प्रकट हुए। इस भांति प्रभु पधारे। इसलिये अहंकार से प्रभु दूर रहते हैं और दैन्य करने पर प्रकट होते हैं। इसलिये दैन्य वालों के हृदय में प्रभु प्रकट होते है। अपने आनंद का अनुभव सर्वथा कराते हैं। प्रथम ताप हो उसके पीछे दैन्य हो यह दैन्य किस भांति हो वह उपाय आगे के श्लोक में कहते हैं।

मूलं – तद्दैन्यं स्यात् स्वामिनीनां तापभावविभावनात् ।
तद्भावनं भवेदेव तापात्मचरणाश्रयात् ।।४।।

श्लोकार्थ – श्री स्वामिनी जी के ताप रूपी भाव का, अनुसंधान करने से दैन्य होता है। विरहात्मक स्वरूप, श्री आचार्य जी के आश्रय से तापभाव का उदय होता है।

व्याख्या – दैन्य सिद्धि तो श्री स्वामिनी जी के हाथ हैं क्योंकि जो विप्रयोग भाव को देने वाली श्री स्वामिनीजी हैं। इसलिये जब स्वामिनीजी कृपा करे तब तापभाव की भावना हो। इस कारण भावना भी व्रजभक्तों की रीति से करना। सेवा समय नहीं करना। सेवा पहुंचकर अनोसर में करना। अपने मन की कल्पना से विप्रयोग की भावना नहीं करना। श्री स्वामिनी जी के चरण कमलों का आश्रय कर जिस प्रकार श्री स्वामिनीजी विप्रयोग की करती हैं। वेणुगीत, युगल गीत आदि में वर्णन है, उस भाव की भावना करे श्री आचार्यजी का स्वरूप

तापात्मक जानकर इस भांति श्री आचार्यजी के भाव की भावना करे श्री आचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय करे तब भाव सिद्ध होता है। आश्रय कैसे सिद्ध हो उसका आगे के श्लोक में वर्णन करते हैं।

मूलं – **तदाश्रयस्य सिद्धिस्तु तद्वाक्यपरिनिष्ठया ।**
तन्निष्ठा सततं तादृक्तदीयजनसेवया ।।५।।

श्लोकार्थ – तापात्मक श्री आचार्यजी के चरणारविंद के आश्रय की सिद्धि तो उनके वाक्य श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रंथों में श्रद्धा हो और उनके वचनामृत में निष्ठा एवं निरन्तर तादृशीयजन की सेवा से होती है।

व्याख्या – श्री आचार्यजी के चरण है उनको श्री स्वामिनीजी के भावरूप जानना, इस भाव से श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय करना। ऐसा करने से भाव रूप विप्रयोग का दान होगा। श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय कब होगा ? जब श्री आचार्यजी के वचनामृत श्री सुबोधिनीजी आदि छोटे बड़े ग्रंथ के भाव में निष्ठा होगी तब श्री आचार्यजी के स्वरूप का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् श्री आचार्यजी के चरण कमल में भाव हो तब चरण कमल का आश्रय होता है। श्री आचार्यजी के वचनामृत ग्रंथों में निष्ठा कब हो ? जब पुष्टिमार्गीय भगवदीय की सेवा करे तब भगवदीय कृपा करके बतावे तब ही जाना जा सकता है। इसलिये भगवदीय की सेवा मन, कर्म, वचन से अवश्य करना कर्तव्य है। उनकी कृपा से सर्वसिद्ध होता है।

मूलं – **तदीया दुर्लभाश्चेत्स्युः श्रीभागवतसेवनम् ।**
अथवा दैन्यभावेन स्मर्त्तव्यः सततं हरिः ।।६।।

श्लोकार्थ – तदीय कदाचित् दुर्लभ हो तो श्री भागवत का सेवन करे अथवा (श्री भागवत का पाठ करने का ज्ञान नहीं हो तो) दैन्य भाव से निरंतर हरि का स्मरण करे

व्याख्या – श्री आचार्यजी के वचनामृत में निष्ठा भगवदीय की सेवा से सिद्ध होने का ऊपर कहा है किन्तु पुष्टिमार्गीय भगवदीय अति दुर्लभ है। वह जहां तक नहीं मिले वहां तक नित्य श्री भागवत – श्री सुबोधिनीजी का सेवन नियमपूर्वक करे जब भगवदीय मिल जाय तब सारा भाव बतावे। वहां तक आप ही श्री भागवत पढ़े। यदि श्री भागवत एवं श्री

बड़े शिक्षापत्र

सुबोधिनीजी का अभ्यास नहीं हो तथा ज्ञान नहीं हो तो दैन्य करके निरंतर हरि (सर्वदुःख के हरण हार) भागवत का स्मरण करे निरंतर दैन्य भाव से जीव हरि का स्मरण करे तब श्री ठाकुरजी दुःख सहन नहीं कर सकते हैं और कृपा करके पुष्टिमार्गीय भगवदीय का संग मिलाते हैं। तब उनके संग से सर्वकार्य सिद्ध होते हैं।

मूलं – अष्टाक्षरमहामंत्रो वक्तव्य इति निश्चयः ।
सर्वदा सर्वभावेन तेन सर्वं भविष्यति ।।७।।

श्लोकार्थ – अष्टाक्षर महामंत्र सर्वदा सर्वभाव से कहते (बोलते) रहना चाहिए। उसके करने से सर्वसिद्ध होगा।

व्याख्या – जीव तो स्वभाव से ही दुष्ट है। जो कुछ नहीं बने तो अष्टाक्षर महामंत्र जानकर अष्टाक्षर "श्रीकृष्णः शरणं मम" यह कहा करे क्योंकि श्री आचार्यजी महाप्रभु ने वेद, पुराण, शास्त्र, श्री भागवत में से सार निश्चय कर अष्टाक्षर मंत्र प्रकट किया है। यह अपने दैवी जीवों के लिये हैं। इसलिये सर्वकाल में अष्टाक्षर मंत्र का जप कभी भूले नहीं। सर्वभाव कर अष्टाक्षर का जप करे इस जप करने से उनके सर्व कार्य निश्चय ही सिद्ध होंगे।

मूलं – अस्माकं न्यूनतैवासीन्मिलनं यदभून्नहि ।
एतावती हरिः कृष्णः पूरयिष्यति तामपि ।।८।।

श्लोकार्थ – हम जीवों में अहंकार के कारण ही न्यूनता रह गई है जिससे प्रभु तथा भगवदीय का संग प्राप्त नहीं हुआ है। वह न्यूनता श्रीकृष्ण पूर्ण करेगे क्योंकि वे हरि हैं।

व्याख्या – ऊपर कहे वे भावात्मक विप्रयोगात्मक प्रभु ऐसे दुर्लभ हैं। इसलिये जीव अपने को तुच्छ माने। इस भांति प्रभु के मिलने का मन करे, तब श्रीकृष्ण सर्वदुःख के हर्ता हरि हैं वे सारे मनोरथ पूर्ण करेगे। यह जीव तो स्वभाव से ही दुष्ट है, परन्तु अपने में कोई अज्ञान करके उत्तमता मानते हैं। इसीलिये प्रभु अपना अनुभव नहीं जताते हैं। श्री भागवत में पिंगला जैसी जिसकी महादुष्ट क्रिया थी उसने अपने को तुच्छ मानकर यह वचन कहा –

संसार कूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् ।
ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोन्यस्त्रातुमिहेश्वरः ।।

बड़े शिक्षापत्र ५

संसार रूपी कूप में गिरा, विषय करके मुंद गये हैं नेत्र जिनके, कालरूपी सर्प ने ग्रसित किया। ऐसी जो आत्मा है उनको इस संसार में रक्षा करने में कौन समर्थ है। इस भांति अपना दोष स्फुरित हुआ तब न्यून भाव होकर प्रभु की प्रार्थना की तब प्रभु ने ही कृपा की। वैसे ही पुरूरवा की कथा श्री भागवत में कही है –

"पुंश्चल्यापहृतं चित्तं कोऽन्योमोचयितुं क्षमः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवंतमधोक्षजम् ।।"

व्यभिचारिणी स्त्री ने हर लिया ऐसे चित्त को सर्व जीवों के आत्मा में रमण करने वाले ईश्वर – अधोक्षज (इन्द्रियजन्य ज्ञान जिनको नहीं पहुंच सके ऐसे) भगवान् बिना अन्य कौन छुड़ाने में समर्थ हैं। ऐसे जब अपना दोष पुरुरवा को स्फुरित हुआ तब प्रभु ने कृपा की। यह मार्ग तो दैन्य ही का है। इस मार्ग में जहां तक दैन्य नहीं आता है तब तक फलसिद्धि नहीं होती है और अपने को उत्तम जानता है वहां तक दैन्य नहीं आता है। दैन्य नहीं आये इसलिये अपने को न्यून (तुच्छ) जानकर प्रभु से मिलने का यत्न करे तो प्रभु दुःख का नाश कर देते हैं। हरि सर्वदुःख के हर्ता श्रीकृष्ण सारे मनोरथ पूर्ण करेगे।

मूलं – **भवद्भिर्नैव कर्त्तव्यः क्षोभोमनसि सर्वथा ।**
अस्मिन् मार्गे यथैवार्त्तिस्तथैवफलसन्निधिः ।।६।।

श्लोकार्थ – तुम्हारे मन में सर्वथा क्षोभ नहीं करना। क्योंकि इस मार्ग में जैसी आर्त्ति हो वैसे ही फल का सानिध्य होता है।

व्याख्या – अपने को तुच्छ माने और क्षोभरहित मन में सर्वथा भावना करे इसके लिये श्रीगुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है –

"त्वद्दर्शनविहीनस्य त्वदीयस्य तु जीवितम् ।
व्यर्थमेव यथा नाथ! दुर्भगाया नवं वयः ।।"

हे नाथ ! आपके दर्शन से हीन जो त्वदीय (आपके शरण आये जीव को जीवित दुर्भाग्य स्त्री के यौवन के बराबर व्यर्थ है। श्री गुसांईजी कहते हैं कि जो हे नाथ ! पुष्टिमार्गीय वैष्णव तुम्हारे कहते हैं वे तुम्हारे दर्शन बिना जो कोई तदीय होकर जीता है वह व्यर्थ जीता है। वह बड़ा अभागी है इस भांति अपने को महाअभागी सर्व साधन करने से हीन, महादुष्ट मन

में जानकर आर्त्ति करे कि हे नाथ! अब मेरी कौन सी दशा होगी? श्री महाप्रभुजी द्वारा तुम्हारे शरण आया हूं। मेरे में एक भी धर्म नहीं हैं। इस भांति नित्य दैन्य करे सर्वथा बारंबार विरह कर उच्छ्वास ले। क्योंकि जो यह श्री आचार्यजी के पुष्टिमार्ग में जिसके हृदय में जितनी आर्त्ति उतनी ही फल सिद्धि होती है। जिसको विरह नहीं है उसको फल सिद्धि में विलम्ब है। जिसको थोड़ा विरह है उसको थोड़ी फल सिद्धि है। जैसे रासलीला में जैसा जिसका भाव वैसा उसको रसदान दिया। वृक्षादिक, पशु, पक्षी, व्रजभक्त आदियों को अपने भावानुसार अनुभव हुआ। वैसी ही पुष्टिमार्गीय वैष्णव को जैसी आर्त्ति वैसा ही फलरूप श्रीकृष्ण रस का संबंध कराते हैं।

मूलं – यथाकथंचित्कर्त्तव्यो व्यवहारो हि लौकिकः ।
अपकीर्तिभयात्तेन बुद्धिशैथिल्यसंभवात् ।।१०।।

श्लोकार्थ – अपकीर्ति के भय से थोड़ा बहुत लौकिक व्यवहार करना, क्योंकि अपकीर्ति करके बुद्धि में शिथिलता का होना संभव है।

व्याख्या – विप्रयोग आर्त्ति का स्मरण तब होता है जब लौकिक वैदिक कार्य छूटे। संसार में रहकर सब करना चाहिए क्योंकि जो लौकिक, वैदिक कार्य छोड़े तो लोक में अपकीर्ति होती है। लोक में निंदा हो तब अपने मन में क्षोभ करने से क्रोध होता है और अपने मार्ग में से बुद्धि शिथिल हो जाती है। इसलिये लोगों की अपकीर्ति के भय से कुछ थोड़ा लौकिक, वैदिक कार्य करे। जिसमें अपना धर्म गुप्त रखे। मन व्यवहारादिकों में नहीं लगावे। दो चार घड़ी व्यवहार करे। यही सिद्धान्त समझना चाहिये।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र ६

अब छठे शिक्षापत्र में भक्तों के अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति भगवान् ही करते हैं। यह निरूपण है। ऊपर कहे तद्नुसार भाव मन में रखे। विप्रयोग ही मुख्य है। आर्ति जिस प्रकार की हो वैसा ही फल का अनुभव हो। उसमें लौकिक क्लेश बाधक है। लौकिक

बड़े शिक्षापत्र ६

दुःख में इस भांति ज्ञान रखे तो दुःख नहीं हो भगवद् धर्म रहे, उसको अब कहते हैं।

मूलं – गृहभंगसमाचाराः श्रुताः श्रुतिविषायिताः ।
तदर्थं लिख्यते किंचित्समाधानाय चेतसः ।।१।।

श्लोकार्थ – कर्ण (कान) में विषरूप गृहभंग के समाचार सुने, उससे चित्त के समाधान के लिये कुछ लिखते हैं।

व्याख्या – तुम्हारे गृहभंग के समाचार हमने सुने। सुनते ही ऐसा दुःख हुआ मानो हमारे श्रवण (कान) में विष पड़ गया। दुःख के विषय में हम क्या लिखें ? परन्तु तुम्हारे मन में दुःख है। तदर्थ हम कुछ शास्त्रोक्त समाधान पत्र लिखते हैं। यदि इस समय हम तुम्हारे पास होते तो अच्छा था परन्तु भगवदिच्छा से दूर है। इसलिये लिखते हैं कि जो ऐसे दुःख के समय में अपने पुष्टिमार्गीय का स्मरण हो तब जानना कि श्री आचार्यजी की पूर्णकृपा है। इसलिये हम लिखते हैं कि भगवदिच्छा का ग्रहण करना। मूलधर्म यह है कि जो हृदय से प्रभु का स्मरण, प्रभु का आदेश जिस प्रकार बाहर नहीं जाय वह कर्तव्य है। पत्र पढ़कर चित्त का समाधान करना। इस पत्र में लौकिक कार्य तथा भगवद् धर्म सब वर्णित है। जिस रीति से पुष्टिमार्गीय रहे भगवदिच्छा माने इसका सब वर्णन है। इसलिये चित्त लगाय पत्र बांचकर समाधान करना।

मूलं – सदा यशोदातनुजोद्विभुजः सुद्विजद्वयः ।
सरोजास्यस्रवल्लालः स्मर्यतामार्यवंशजः ।।२।।

श्लोकार्थ – सदा श्री यशोदाजी के पुत्र, द्विभुज, सुन्दर दो दांत वाले कमल के समान मुखारविंद से लार जिनके स्रवत है। ऐसे आर्य वंश में प्रकट हुए श्रीकृष्ण का स्मरण करो।

व्याख्या – संसार में दुःख करने से मन दुःख पावे तो श्री यशोदाजी के पुत्र द्विभुज (दो भुजा वाले), दो दांत वाले और मुखारविंद से लार टपकती है (स्रवत) ऐसे श्रीकृष्ण का स्मरण करना कर्तव्य है। श्रीकृष्ण बड़े हैं जिनका आर्य वंश जो सब से ऊँचा है। यदुवंश तथा चन्द्रवंश ही सबसे श्रेष्ठ है तथा वल्लभकुल सबसे श्रेष्ठ है। पृथ्वी पर तीन कुल प्रसिद्ध हैं। अवतार अनेक हैं। उनमें तीन श्रेष्ठ हैं। त्रेता में दशरथजी के घर श्री रामचन्द्रजी उनका

बड़े शिक्षापत्र

रघुकुल, द्वापर में श्रीकृष्ण का यदुकुल और कलियुग में श्री आचार्यजी का वल्लभकुल, ये सबसे श्रेष्ठ केवल भक्तोद्धारार्थ ही हैं। उसमें हमारे आचार्यजी के वंश में श्रीकृष्ण बाल भाव से सेवनीय है। उसमें मन में कुछ लौकिक क्लेश हो तो श्री ठाकुरजी अप्रसन्न हो जाते हैं। इस कारण अपना धर्म जाता रहता है। इसलिये श्रीकृष्ण प्रसन्न रहे वही करे।

मूलं – सर्वेश्वरश्च सर्वज्ञः कृष्णः सकरुणः सदा ।
असमर्थो ज्ञानशून्यो जीव इत्येव निश्चयः ।।३।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण सर्व के ईश्वर हैं, सर्वज्ञ और सदा दया सहित हैं तथा जीव असमर्थ हैं, ज्ञान शून्य है ऐसा ही निश्चय है।

व्याख्या – अब भगवान् और जीव का स्वरूप कहते हैं। श्रीकृष्ण सर्वोपर है। ईश्वर है। ईश्वर बातें कहते हैं। मन आवे वही करते हैं। ब्रह्मादिक, शिवादिक, इन्द्रादिक कोई श्रीकृष्ण की आज्ञा टालने में समर्थ नहीं हैं। अजामिल जैसे को एक पुत्र के भाव से नारायण नाम से निर्भय कर दिया। ऐसे सर्वकरण समर्थ है। इसलिये सर्वेश्वर श्रीकृष्ण है और त्रिलोकी में सर्व के हृदय को जानते हैं तथा कोटान कोटी ब्रह्माण्ड में सब स्थान एक श्रीकृष्ण ही सर्वकर्त्ता है। इसको सब जानते हैं। इनसे कुछ छिपा नहीं है तथा करुणावान है। ऐसे ईश्वर हैं वे किसी के सुख–दुःख को कैसे नहीं जानते होंगे ? परम करुणा के निधि है। अपने भक्तों का रंचक दुःख भी नहीं सह सकते हैं। ऐसे धर्म श्रीकृष्ण में ही हैं और जीव असमर्थ है। यहां जीव का किया कुछ भी नहीं होता है। यह अपनी कृति मानते हैं। सारे अज्ञान को जानता है। अपने प्रभु को भूल गया है। माया से मोहित है। हृदय में ज्ञानशून्य है। अपना सामर्थ्य जानता है। इसीलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने बालबोध में कहा है कि जीव स्वभाव से दुष्ट है। यह निश्चय है। प्रभु गुण निधि है। जीव दोष निधि है। इसलिये प्रभु की इच्छा को जीव कैसे जाने ?

मूलं – तस्येच्छा त्रिविधा प्रोक्ता मूलवेदस्वभेदतः ।
मूलेच्छया गृहीतानां नान्यथा कुरुतेफलम् ।।४।।

श्लोकार्थ – प्रभु की मूल, वेद और स्व इस भेद से तीन प्रकार की इच्छा है उसमें मूलेच्छा का जिनने ग्रहण किया है। उनको अन्यथा फल नहीं करते हैं।

बड़े शिक्षापत्र ६

व्याख्या – प्रवाही सृष्टि को लौकिक क्रिया, पुष्टिसृष्टि की भगवत्सेवा और मर्यादा सृष्टि की कर्म मार्ग में प्रवृत्ति, इस भांति प्रभु की इच्छा तीन प्रकार की है। इसलिये यह श्री आचार्यजी महाप्रभु संबंधी सृष्टि पुष्टिसृष्टि है। उनका निश्चय भगवान् की मूलेच्छा है। वही ग्रहण कर्त्तव्य है। सर्वकार्य एक प्रभु का ही किया जाता है, ऐसा ज्ञान मन में दृढ़ रहना चाहिए। कर्ममार्गीय है वे इस भांति कहते हैं कि जैसा कर्म करे वैसा ही फल पावे एक कर्म ही से फल कहते हैं। प्रवाही माया वाले जानते हैं कि सारा कार्य माया ही करती है। इस भांति प्रभु को कौन नहीं जानता है। इसलिये पुष्टिमार्गीय का मूल एक प्रभु की ही इच्छा जान, सर्वकर्त्ता प्रभु है, इस भांति जानना चाहिए। अन्यथा और रीति से फल को जानना। जो कर्म करने से फल होगा अथवा कोई साधन कर फल की सिद्धि होगी ऐसा सर्वथा और भांति फल का चिंतन नहीं करना। अब तीन प्रकार की सृष्टि तीन प्रकार की भगवदिच्छा मानते हैं, उसका वर्णन आगे श्लोक में करते हैं।

मूलं – **प्रवाह एव नियतस्तेषु कृष्णविचारितः ।**
मर्यादया गृहीतांस्तु प्रवर्त्तयति कर्मणि ।।५।।

श्लोकार्थ – जो मूलेच्छा के जीव हैं उनमें तो प्रवाह ही श्रीकृष्ण का विचारित है और मर्यादा करके जिनका ग्रहण किया है उनकी तो कर्म में प्रवृत्ति कराते हैं।

व्याख्या – प्रवाह सृष्टि लौकिक इच्छा मानते हैं। श्रीकृष्ण ने उनको लौकिक ही विचार रखा है। क्योंकि जो प्रवाही सृष्टि के जीव हैं वे अलग और क्रिया भी अलग है। पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु कहते हैं – **"जीवदेहकृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुतेः"** (देह, जीव कृति का भिन्नत्व है और इसकी श्रुति में नित्यता है) इस वाक्य से प्रवाही सदा भ्रम में ही हैं। भक्ति मार्ग में कभी आते नहीं और मर्यादा का ग्रहण करते हैं। जीव कर्म मार्ग में प्रवृत्त है क्योंकि जो वचन कर प्रकट हुए हैं **"वचसा वेदमार्गं हि"** (वचन से वेदमार्ग को उत्पन्न किया) इस मार्ग में निरूपण है। वेद में श्राद्ध, होम, यम, नियम, व्रत, तप, दान इत्यादि साधन से ही फल बताये हैं। मर्यादामार्गीय अच्छा कर्म करके स्वर्ग में जाते हैं। वहां सुख भोगकर जब पुण्यहीन होते हैं तब फिर वह संसार में गिरते हैं। उनको

प्रभु की प्राप्ति नहीं है, वे जानते नहीं है। केवल यह कर्ममार्गीय स्वर्ग को ही फल जानते हैं। इस भांति मर्यादा सृष्टि वेदइच्छा मानते हैं। ऐसे प्रवाही और मर्यादासृष्टि का प्रकार कहा। अब पुष्टिसृष्टि का क्या कर्तव्य है, वह आगे श्लोक में कहते हैं।

पुष्टि, प्रवाह और मर्यादा के जीवों के देह कर्मादिक के भेद

मार्गः	उनकी देह (स्वभाव)	उनके कर्म
पुष्टिः	दैव देह (स्वभाव)	भगवत्सेवा स्मरणादि
प्रवाहः	आसुर देह (स्वभाव)	लौकिक कार्य में आसक्ति
मर्यादा	दैव मर्यादी (स्वभाव)	वैदिक में प्रेम अग्नि होत्रादि कर्म

मूलं – स्वरूपेण वृतानां तु स्वतः सर्वं करोति हि ।
तच्चिंतयैव हि व्याप्तः कृपालुः सर्वतो विभुः ।।६।।

श्लोकार्थ – अपने स्वरूप से वृत जो जीव हैं उनकी चिंता करके आप व्याप्त हैं और कृपालु सर्व करने में प्रभु समर्थ हैं।

व्याख्या – पुष्टिसृष्टि केवल भगवत्स्वरूप का आश्रय करे क्योंकि जो भगवत्सेवार्थ पुष्टिसृष्टि है **"भगवद्रुपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्"** (भगवद्रूप की सेवार्थ पुष्टि जीव की सृष्टि की है उसका यह प्रयोजन नहीं था तो पुष्टिसृष्टि को ही नहीं करते) इस वाक्य से पुष्टिसृष्टि अपने मन में विचार करे कि प्रभु अपने स्वरूप बल से स्वतः आप ही करेंगे, यह जानकर चिंता नहीं करे क्योंकि प्रभु तो सर्वव्यापक है। सभी स्थान पर प्रभु है वहां चिंता क्यों करनी। श्रीकृष्ण का ही किया सब स्थान पर होता है। श्रीकृष्ण कृपालु है। अपने भक्तजन पर सदा कृपा ही करते आये हैं और कृपा करेंगे ही, इस भांति प्रभु का चिंतन करना और श्रीकृष्ण विभु हैं सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं। किसी का दिया हुआ ऐश्वर्य नहीं है। ब्रह्मादि, शिवादि, इन्द्रादि देवता हैं उनको भगवान् ने ऐश्वर्य दिया है। इसलिये देवता फल देना चाहें तो प्रभु की आज्ञा लेकर देते हैं। स्वतः सामर्थ्य देवता में नहीं हैं। वैसे श्रीकृष्ण नहीं है। आपही सर्वसामर्थयुक्त हैं। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"कर्त्तुं पुनरकर्तुं**

च ह्यन्यथा कर्तुमीश्वरे। सामर्थ्यं यन्मया दृष्टं त्वय्येवातो न संशयः'' (करने को, नहीं करने को और अन्यथा करने का जो सामर्थ्य ईश्वर में आप (श्री ठाकुरजी) में ही मैंने देखा है, इसमें संशय नहीं है) इस वाक्य से अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ प्रभु है। इसलिये लौकिक वैदिक में कुछ भी अपने को चिंता नहीं करनी है। प्रभु आपही से सर्व करेगे। प्रभु सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं।

मूलं – निवर्त्तयत्यनिष्टेभ्यः स्वकीयान् करुणानिधिः ।
यदि जीवाः स्वभावेन निवर्त्तेरन्न ते स्वतः ।।७।।

श्लोकार्थ – जो जीव अपने स्वभाव बल से आप ही अनिष्ट से निवृत्त न हो सके तो करुणानिधि प्रभु आप अपने शरण्य भगवदियों का अनिष्ट छुड़ाते हैं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण अनिष्ट को निवृत्ति कर्ता हैं। वे अपने स्वकीय का अनिष्ट निश्चय ही दूर करेगे। क्योंकि वे करुणानिधि हैं। वहां कोई पूर्वपक्ष कहे कि भगवान् तो समदर्शी हैं सर्व प्राणिमात्र पर एक समान दृष्टि है। विश्वंभर सभी के भरण पोषण कर्त्ता हैं। तुम कहते हो कि अपने स्वकीय भक्तजन पर करुणा करेंगे, और पर नहीं करेगे यह कैसे ? ऐसा कोई संदेह करे वहां कहते हैं कि सारे जगत के आनंददाता प्रभु है। तभी भक्तों को अधिक आनन्द देते हैं। निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु कहते हैं **''सर्वानंदमयस्यापि कृपानंदः सुदुर्लभः''** (सर्व आनंदमय के भी कृपानंद अत्यन्त दुर्लभ है) इस वाक्य से सभी के आनंददाता हैं। परन्तु कृपानंद दुर्लभ है। श्री भागवत के नवमस्कंध में दुर्वासा के प्रति भगवान् कहते हैं **''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विजः! साधुभिग्रस्तहृदयो भक्तै भक्त जनप्रियः''** (मैं भक्तों के पराधीन हूं। साधु भक्तजन ने मेरा हृदयग्रस्त किया है और भक्तजन मेरे को प्रिय है) इस वाक्य से भगवान् भक्तों के वश हैं। जगत के वश नहीं हैं। भक्तों के लिये ही. प्रभु अवतार लेते हैं। इसलिये अपने स्वकीयों का अनिष्ट वे इसी प्रकार दूर करेगे। ऐसे करुणानिधि हैं। परन्तु जीव का स्वभाव है जो रंचक दुःख में धीरज नहीं रहता है। चिंतातुर होता है, यह स्वभाव निवृत्त करने में प्रभु ही समर्थ हैं और कोई नहीं है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – **अनिष्टमेव सर्वज्ञो बलाद्दूरीकरोति हि ।**
इष्टानिष्टविवेको हि जीवबुद्धया न जायते ।।८।।

श्लोकार्थ – यह इष्ट है यह अनिष्ट है। ऐसा विवेक जीव बुद्धि से नहीं होता है। इसलिये (जीव की इच्छा नहीं होती है तो भी) सर्वज्ञप्रभु अपने प्रमेय बल से अनिष्ट को दूर करते हैं।

व्याख्या – भक्तों के अनिष्ट को प्रभु जानते हैं। क्योंकि वे सर्वज्ञ है, अनिष्ट दूर करने में बलवान् है। वे आप ही अनिष्ट दूर करेगे। प्रह्लाद जी को हिरण्यकशिपु ने बहुत दुःख दिया। यह श्री नृसिंहजी नहीं जानते थे ? सर्व जानते थे परन्तु भक्तों की परीक्षा लेने को प्रभु प्रथम नहीं प्रकट हुए। जब प्रह्लाद जी को बहुत दुःख हिरण्यकशिपु ने दिया और प्रह्लाद का भगवदाश्रय छूटा नहीं तब प्रभु ने प्रकट होकर अनिष्ट दूर किया। हिरण्य कशिपु को मारा। इसलिये दुःख क्लेश में भक्तों को भगवदाश्रय नहीं छोड़ना चाहिए। प्रभु तो कृपा ही करेगे। सारा दुःख दूर करेगे। परन्तु जीव बुद्धि से इष्ट अनिष्ट का विवेक जाना नहीं जाता है। मैं भगवद् भक्त होकर अन्याश्रय करता हूं। लौकिक वैदिक चिंता करता हूं। भगवान् जो करते हैं वह भली ही करते हैं। मेरा भोग तो बहुत है। वे प्रभु थोड़े में ही निवृत्त करेगे। मेरे पर अनुग्रह किया। यह दंड हुआ इस भांति धीरज जीव बुद्धि में नहीं रहता है। इसलिये दुःख पाता है।

मूलं – **अविद्यया गृहीतानामणूनां भ्रमसंभवात् ।**
अत एव हि संसारं मन्यते सुखरुपिणम् ।।९।।

बाला इव करप्राप्तं सर्पमक्रीडनोचितम् ।
पितेव सहजस्निग्धस्तान्निवर्त्तयते बलात् ।।१०।।

श्लोकार्थ – जीव को अविद्या ने ग्रस लिया है तथा अणु है। अतः ऐसे अज्ञ एवं अल्पजीव को भ्रम होने में किसी प्रकार का संशय नहीं है। जैसे अज्ञ बालक सर्प को खिलोना समझकर उसको पकड़ता है, खेलता है। उसमें आनंद मानता है। लेकिन वह आनंद नहीं किन्तु मृत्यु का कारण है। यह पिता समझता है। अतः हितकारी पिता उससे (पुत्र से) सर्प को दूर कर देता है।

बड़े शिक्षापत्र ६

व्याख्या – जीव प्रभु के स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं है। क्योंकि जो अविद्या से ग्रसित हैं, इसलिये मन का भ्रम दूर नहीं होता है। यद्यपि भ्रम छोटा है। अविद्या रूप भ्रम है (मैं और मेरा इतना ही) उस भ्रम को जीव टाल नहीं सकता है। यद्यपि सभी जानते हैं कि क्षणभंगुर शरीर है। काल किसी को छोड़ता नहीं है। यह ज्ञान मन में आता है। तथापि जीव की अहंता, ममता नहीं छूटती है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर लौकिक दुःखमय इसी चिंता से ग्रसित हैं। इसलिये देह संबंधी संसार का सुख उसी को सुख रूप मान रहा है। तब भी प्रभु संसार से छुड़ावेंगे ही वह किस प्रकार से, उसका वर्णन अगले श्लोक में कहते हैं।

यद्यपि जीव संसार को सुखरूप मान रहा है। वहां प्रभु अपने भक्तों को इस भांति छुड़ाते हैं जो द्रव्य में मन हो तो द्रव्य का नाश करते हैं। जो स्त्रीपुत्रादिकों में मन हो तो उनका नाश करते हैं। इस भांति भक्तों का मन जहां लौकिक में लगे तो प्रभु दूर करते हैं। तब यह जीव स्वभाव से अनेक भांति के दुःख पाता है। परन्तु प्रभु उसको लौकिक अर्थ देते नहीं है। उसको लौकिक दृष्टांत से कहते हैं – जैसे अज्ञानी बालक हो वह खेलने के लिये सर्प को पकड़ने को दौड़ता है, वह यह नहीं जानता है कि यह काल है, काटेगा। वह बालक तो अज्ञानी हैं परन्तु माता–पिता का पुत्र में सहज ही स्नेह है इसलिये सर्प को पकड़ने नहीं देते हैं। वह कालरूप सर्व से निवृत्त ही करते हैं। वैसे ही यह जीव संसार को सुख रूप मान रहा है। परन्तु प्रभु का स्नेह भक्त पर है। कृपाकर संसार से छुड़ाना है। इसलिये संसार सुख में मन लगने नहीं देते हैं।

मूलं – यथा रूदति ते बाला भ्रांताः संसारिणस्तथाः ।
अतएव ही सर्वज्ञः कृष्णः संसारमोचकः ।।११।।

श्लोकार्थ – जैसे वह बालक (सर्प नहीं लेने देने से) रुदन करता है वैसे संसार भ्रांतियुक्त होकर (लौकिक वस्तु जाने से) खेदयुक्त होता है परन्तु श्रीकृष्ण तो सर्वज्ञ है। उनसे ही अहंता ममतात्मक संसार से छुड़ाने वाले हैं। (उसके लिये लौकिक वस्तु की प्राप्ति नहीं होने देते हैं किन्तु हो तो उससे छुड़ाते हैं।)

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – पिता स्नेह कर सर्प से निवृत्त करता है, तब बालक अज्ञान से रुदन करता है। मेरा खिलौना लेने नहीं देते हैं। वैसे ही इस संसारी जीव पर प्रभु परम कृपा कर संसार में मन है उसी वस्तु को हर लेते हैं। तब यह जीव मन में अहंता ममता कर दुःख पाता है। अज्ञान से प्रभु को नहीं मानता है। प्रभु ने कृपा कर संसार से छुड़ाया और प्रभु तो सर्वज्ञ है श्रीकृष्ण अपने भक्तों को पुत्रवत् जानकर संसार से छुड़ाते हैं। जैसे पुराणान्तर में कथा है कि नारदजी का ब्याह करने का मन हुआ। एक राजा की बेटी का स्वयंवर था वहां सारे देश–देश के राजा आये। नारदजी के मन में यह हुआ कि मैं वरूं (विवाह करूं) तब नारद जी ने विचार किया कि राजा की बेटी जिस पर प्रसन्न होकर माला पहनावे उससे ब्याह होगा। इस समय तो सुंदर रूप चाहिए। जिससे राजा की बेटी रीझे। इसलिये सबसे सुन्दर तो भगवान् है उनका रूप ले आऊं। तब नारदजी भगवान् के पास आये प्रभु ने बहुत समाधान किया। पूछा नारदजी कुछ आज्ञा करो। तब नारदजी ने कहा कि मैं तुम्हारा हूं, मेरा भला हो, वह करो अपना रूप मेरे को दो तो राजा की बेटी ब्याह लाऊं। तब प्रभु ने मुस्करा कर कहा जो तुम्हारा भला होगा वही मैं करूंगा। तुम जाओ, मैंने मेरा रूप दिया। तब नारदजी तो माया के भ्रम से प्रभु के व्यंग्य वचन समझे नहीं, जहां स्वयंवर था वहां आये। श्री ठाकुरजी ने तो बहुत बुरा मर्कट (बंदर) का टेढ़ा मुख दिया। नारदजी तो कामवश अज्ञान से जानते हैं कि मैंने भगवान् का सुन्दर रूप पाया है। वह बारंबार जहां वह कन्या जाये वहां सम्मुख जाकर बैठे। सारे लोक हंसे कि क्या टेढ़ा मुंह कर आया है। नारदजी को कामवश से ज्ञान नहीं था। पीछे प्रभु राजा का रूप धरकर पधारे तब कन्या ने माला पहनाई। प्रभु ले गये। तब नारदजी निराश हुए। पीछे एक ने कहा कि नारदजी अपना मुंह तो देखो। नारदजी ने दर्पण में देखा तो बंदर जैसा टेढ़ा मुख है। तब भगवान् पर बहुत क्रोध किया कि जगत में मेरी हंसी करवाई। पीछे प्रभु ने समझाया। तब नारदजी को ज्ञान हुआ। नारदजी प्रथम तपस्या करते थे तब कामदेव तपस्या में भंग करने में सहायक (बसंत, मलयानिल, अप्सरागण आदि) समेत गया। तब नारदजी को मोह नहीं हुआ तब कामदेव हार मान कर फिर गया। इससे नारदजी को अभिमान हुआ कि मैंने काम को जीता है। इसलिये प्रभु ने अभिमान इस प्रकार दूर किया। इस प्रकार प्रभु अपने भक्तों को संसार से छुड़ाते हैं।

बड़े शिक्षापत्र ६

मूलं – इत्येव रूप्यते नाम तथाविधमतः प्रभो ।
संसारवैरी धरणीं प्रति शेषो न्यरूपयात् ।।१२।।

श्लोकार्थ – धरणी शेष के संवाद में पृथ्वी के प्रति शेषजी ने संसारवैरी ऐसा नाम कहा है। वैसा ही प्रभु का नाम निरूपित है और **"तथाविधमतिः प्रभो"** ऐसा किसी पुस्तक में पाठ है तद्नुसार अर्थ में वैसी प्रभु की मति भी भक्तों के संसार से छुड़ाने की है।

व्याख्या – प्रभु का रूप ही संसार से छुड़ाता है और प्रभु का नाम भी संसार से व्रजभक्त श्रीकृष्ण को ललित त्रिभंगी स्वरूप देखकर लोक, वेद, पति, पुत्र, घर सब में से मन छोड़कर प्रभु को भजे और नाम कर अजामिल आदि अनेक भक्तों के संसार छूटे, और प्रकार से प्रभु की सेवा करते हैं उनको भी सर्व संसार दूर होता है तथा प्रभु अनेक विध लीला करते हैं। उसका स्मरण जो कोई करे उनके भी सकल संसार के दुःख दूर हो जाते हैं। श्रीकृष्ण की मति में यह रहता है कि जो भक्तों का संसार जाये तब मेरे पास आवे। तब भला हो, यही प्रभु विचारते हैं। इसलिये धरणी शेष संवाद में धरणी (पृथ्वी) के प्रति शेष जी ने कहा है – **"संसार वैरी"** श्रीकृष्ण कैसे हैं कि जो संसार दुःख के वैरी हैं जहां भक्तों को संसार में आसक्ति हो वहां आप सब दूर करते हैं। श्रीकृष्ण का रूप, नाम, लीला, आप मन भक्तों का संसार से दूर कर भला हो, वही करते हैं।

मूलं – मन्यामहे वयं भ्रान्ताः कृष्णविस्मृतिकारणम् ।
संसारमुत्तमं कृष्णस्तं कथं स्थापयेद्हरिः ।।१३।।

श्लोकार्थ – हम अज्ञान से भ्रांत हुए हैं, अतः अहंता ममतात्मक संसार श्रीकृष्ण की विस्मृति का कारण है। उसको उत्तम समझते हैं। किन्तु हरि ऐसे संसार की स्थापना कैसे करेगे ?

व्याख्या – इस जीव के हृदय में अनेक जन्म का भ्रम है वह गद्य के श्लोक में कहा है कि जो अनादिकाल का भ्रम यह जीव के हृदय में छा रहा है। इसलिये अविद्या से श्रीकृष्ण को भूल गया है। इसलिये ही इस संसार को उत्तम जानकर इसमें मन लगाया है। संसार में देहसंबंधी सुख–दुःख को मुख्य मानता है। श्रीकृष्ण संसार को कैसे रखते हैं ? क्योंकि जो हरि दुःख हरने वाले हैं जहां सूर्य होता है वहां अंधकार किस भांति रहे ? वैसे ही हरि

बड़े शिक्षापत्र

अविद्या रूप संसार तमके सूर्यरूप प्रभु भक्तों को संसार में कैसे रखें ? जीव तो संसार संबंधी सुख का विचार करता है कि अब यह कार्य करूं, उसमें मेरे देह संबंधी कुटुम्ब भी सुख पावे और मैं भी सुख पाऊं। यह प्रभु विचारते हैं कि इसमें इसका मन है इसलिये इसका हर लूं जिससे मन छूटकर मेरा आश्रय करे इस भांति श्रीकृष्ण भक्तों का संसार हरते हैं।

मूलं – एवं तदीयैर्मनसि निधेयः स्वप्रभोर्गुणः ।
स्वस्मिन्नपि विनिश्चेया प्रभोरंगीकृतिर्ध्रुवाः ।।१४।।

श्लोकार्थ – ऐसे तदीयजन का अपने मन में अपने स्वामी श्रीकृष्ण का गुण रखना क्योंकि जो अपने में भी प्रभु की अंगीकृति निश्चल है, ऐसा निश्चय रखना।

व्याख्या – इस भांति पुष्टिमार्गीय भगवदीय अपने (ऊपर से औरों को दिखाने के लिये कहा कि जो प्रभु करते हैं वह भली करते हैं और भीतर से मन दुःख पावे ऐसा नहीं करे) मन में निश्चय यह धारण करे कि जो अपने अंगीकृत भक्तों के प्रभु रक्षक ही हैं। दुःख आया तो क्या हुआ। अपने स्वकीयों को प्रभु दंड देते हैं। जैसे स्त्री मर्यादा से कुछ और भांति चले तो पति दंड देकर ही रीति से चलाता है। वैसे ही प्रभु अपने भक्तों के दोषों को दूर करने को दंड देते हैं। श्रीगुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"दंडः स्वकीयतां मत्वेत्येवं चेदिष्टमेव नः । अस्मासु स्वीयतां मत्वा यत्र कुत्र यदा तदा।।"** (दंड देना, अपना मानकर देना ऐसा हो तो अपना इष्ट है क्योंकि जो हमारे में जहां तहां जब तब अपने हैं, ऐसा मानकर दंड दोगे) इस वाक्य से अपने स्वकीय को प्रभु ने दंड दिया है वह भी अनुग्रह जानकर मन में सुखी है। इसलिये जहां तहां हमसे अपराध हो वहां वहां सुख से दंड देना उचित है। इस बात से हम मन में सुखी है। इस भांति भगवदीय अपने प्रभु का अनुग्रह जाने। यह दुःख भी अनुग्रह रूप जानकर प्रभु का गुण अपने हृदय में धारण करे क्योंकि प्रभु पर दोष धरते हैं वे बहिर्मुख है। उनका पुष्टिमार्ग में अंगीकार नहीं हैं। इसलिये निश्चय मन, वचन, कार्य कर यह जाने कि श्री ठाकुरजी अंगीकृत निजभक्तों के रक्षक हैं।

मूलं – अतएवास्मदाचार्यैरुक्तं वरणलक्षणम् ।
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।।१५।।

श्लोकार्थ – इसीलिये ही अपने श्री मदाचार्यजी ने लोक में तथा वेद में स्वास्थ्य हरि तो नहीं करेगे। ऐसा वरण का लक्षण कहा है।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि भक्तों के रक्षक प्रभु दुःख क्यों देते हैं ? जिस भांति इस लोक और परलोक में भक्तजन सुख पावे वैसा क्यों नहीं करते हैं ? ऐसा कोई कहे वहां कहते हैं कि यह जीव स्वभाव से दुष्ट है जो लौकिक कार्य में सुख पाता है। वहां आसक्त हो जाय तो वैदिक कार्य में सुख पावे, यहां आसक्त हो जाय तो हृदय से प्रभु का आश्रय जाता रहता है। आश्रय जाने से भक्त का नाश होता है। इसलिये श्री ठाकुरजी लौकिक वैदिक कार्य सिद्ध नहीं करते हैं। तब दुःख पाकर उस कार्य में मन ही नहीं करे केवल प्रभु का ही आश्रय करे श्री आचार्यजी महाप्रभु ने चारों वर्ण के लक्षण श्री सुबोधिनीजी एवं निबंध में कहे हैं। जो कोई जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री आदि प्रभु की शरण आवे उसको प्रभु लौकिक वैदिक से छुड़ाकर अंगीकार करते हैं। नवरत्न ग्रंथ में कहा है कि जो भक्तों की लौकिक वैदिक स्थिति छुड़ाकर अपना ही करता है यह विचार कर हरि का आश्रय करना यह सिद्धान्त सर्वोपर है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र ७

अब ७वें शिक्षापत्र में यह बताया है कि लौकिकासक्ति में आसक्ति नहीं करनी चाहिए। भगवत् सेवा में आसक्ति करनी चाहिए। इसका इसमें निरूपण है। छठे शिक्षापत्र में यह कहा है कि जो लौकिक, वैदिक प्रभु सिद्ध नहीं करे तब भी मन में प्रभु का गुण ही रखे। प्रभु जो करते हैं वह भला ही करते हैं। यह धीरज कब होता है जब भगवदीय का संग कर भगवत्स्मरण भजन करता है। वही प्रकार आगे शिक्षापत्र में कहते हैं।

मूलं – सदा श्रीगोकुलाधीशः स्मर्त्तव्यः सर्वथा जनैः ।
तदीयैर्मिलितैः सर्वदोषचिंताविवर्जितैः ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – सर्वदोष और चिंता से रहित जो तदीयजन उनके संग मिलकर सदा श्री गोकुल के अधीश प्रभु निश्चय ही स्मरण करने योग्य हैं।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय भक्तजनों को सर्वथा यह ही स्मरण करने को क्यों कहा है ? जो गायों के कुल के रक्षक हैं, कहकर यह बताया है कि जो निःसाधन गाय है उनके प्रभु रक्षक हैं। वैसे ही जीव जब निःसाधन हो और श्री गोकुलाधीश का स्मरण भजन करे, प्रभु दयालु हैं इसलिये अनुग्रह करेगे ही। निःसाधन भाव से भजन, स्मरण जब बनता है जब तदीयजन मिले। हृदय में अनेक प्रकार के दोष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, लौकिक वैदिक चिंता से सर्व दूर हो। बिना भगवदीय के संग कितना ही भगवद् धर्म करे परन्तु मन में से दोष चिंता दूर नहीं होते हैं। जैसे रास पंचाध्यायी में सब भक्तों को मद हुआ। एक मुख्य भक्त को मद नहीं हुआ। तब श्री ठाकुरजी एक भक्त को अपने संग लेकर पधारे, तब सभी भक्तों को अपने मद की खबर नहीं पड़ी और प्रभु पर दोष वृद्धि हुई कि हमको छोड़ गये। इस भांति सारे भक्त प्रभु को खोजने को चले। पीछे एक भक्त को भी मद हुआ तब प्रभु वहां से अंतर्धान हुए फिर ढूंढ़ते–ढूंढ़ते सब भक्त वहां आये तब पूछा कि तुमको श्री ठाकुरजी छोड़गये ? तब उनको अपने दोष का ज्ञान था सो कहा कि मैंने मद किया, उस कारण प्रभु अंतर्धान हुए। यह सुनते ही उनके संग से सारे भक्तों को ज्ञान हुआ। अपने दोष का स्फुरण हुआ कि हमको मद हुआ, इस कारण प्रभु छोड़ गये हैं। इस भांति श्री आचार्यजी ने श्री सुबोधिनीजी में निरूपण किया है। इसलिये भगवदीय के संग बिना दोष और चिंता का नाश नहीं होता है। इस कारण भगवदीय से मिलकर प्रभु का स्मरण करे श्रीआचार्यजी ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है –

'निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः।।

निवेदन तो निश्चय ही तादृशीय जन से मिलकर स्मरण करना चाहिए।

मूलं – न लौकिके मतिः कार्या भगवद्भावबाधिका ।
लौकिकं वैदिकं चापि स्वयं साधयिता प्रभुः ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र ७

श्लोकार्थ – भगवद् भाव को मिटाने वाले लौकिक में मति नहीं करनी चाहिए। **"न लौकिकी मतिः कार्या"** ऐसे पाठ में भगवद् भाव का बाध करे, ऐसी लौकिक मति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लौकिक और वैदिक को आप स्वयं सिद्ध करते हैं।

व्याख्या – अलौकिक पदार्थ में लौकिक बुद्धि नहीं करनी क्योंकि भगवद् भाव में लौकिक बुद्धि बाधक है। इसलिये प्रभु की लीला, श्री वल्लभकुल, भगवदीय, सेवा सामग्री, व्रज, श्री यमुनाजी, श्री गिरिराज आदि वृक्ष, लता, भगवद् वार्ता, ग्रंथ कीर्तन, श्री भागवत इत्यादि को में लौकिक मति नहीं करनी चाहिए। सब वस्तु प्रभु संबंधी जानकर भाव संयुक्त सेवा स्मरण करना चाहिए। लौकिक बुद्धि यदि आती है तो अलौकिक भाव में बाधक होती है। इस कारण लौकिक, वैदिक कार्य की चिंता मन में नहीं रखना। भगवत्कार्य मन लगाकर करना। लौकिक प्रभु आप ही सर्व कर लेंगे। वल्लभ कुल लौकिक, वैदिक कार्य कर अपने भगवदीय सेवकों को जताते हैं कि तुम लोग वेद की चिंता मत करो। हम तुम्हारे अर्थ करते हैं। तुम सुखपूर्वक प्रभु की सेवा स्मरण करो उससे प्रभु लौकिक वैदिक आपही सिद्ध करेगे।

मूलं – **इदानीमीदृशः कालः प्रतिकूलः समागतः ।**
यथाकथंचित् स्वमनः स्थापनीयं पदाब्जयोः ।।३।।

श्लोकार्थ – अब ऐसा विपरीत काल आया है। उसमें जैसे तैसे अपना मन (श्री ठाकुरजी के) चरणारविंद में स्थापित करना चाहिए।

व्याख्या – अब कलिकाल महाकठिन है। इस काल में जो मिलता है वह प्रतिकूल मिलता है। भगवदीय का संग दुर्लभ है। वह शीघ्र नहीं मिलता है और जो मिलता है वह लौकिक कामना वाले स्वार्थ के लिये मिलता है। ऊपर से भला सत्संग, भली क्रिया दिखाई देती है और भीतर अनेक प्रकार की लौकिक वासना भरी होती है। उनके संग से फलसिद्धि नहीं होती है। ऐसा संग इस कलिकाल में मिलता है। इसलिये जितना बने उतना अपने मन को श्री ठाकुरजी के चरणारविंद में लगावे। प्रभु में प्रीति बढ़ाने के लिये बहुत लोगों से मिले परन्तु उसमें ओर भगवद् धर्म धरे वैसा नहीं करे जितना है उतने ही की रक्षा कर प्रभु के चरणाविंद में मन स्थापित करे।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – सेवायां च मनः स्थाप्य तत्साधकतयैव हि ।
गार्हस्थ्यार्थं विवाहेऽपि प्रयत्नः क्रियतां द्रुतम् ।।४।।

श्लोकार्थ – सेवा में मन स्थापित करना और भगवत्सेवा की साधकता से भगवत्सेवा भली भांति से करने में सहायता के लिये ही गृहस्थाश्रम करना चाहिए। उसके लिये विवाह में भी शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।

व्याख्या – श्री ठाकुरजी की सेवा आदि भगवद् धर्म में मन स्थापित करे और भगवत्सेवार्थ सारी वस्तु का संग्रह करे जो वस्तु भगवत्सेवा में साधक हो उसको रखे। जो सेवा में काम नहीं आये अथवा बाधक हो उसका त्याग करे यह गृहस्थाश्रम की भगवत्सेवार्थ ही जाने और विवाहादिक को प्रयत्न कर भगवत्सेवार्थ ही करे क्योंकि जो गृहस्थाश्रम बिना भगवत्सेवा भली भांति से नहीं होती है। इसलिये सेवार्थ ही करे इसके लिये श्री भागवत के नवम स्कंध में भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है –

"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छंति सेवाया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ।।

मेरी सेवा से साक्षात् प्राप्त हुई सालोक्यादि चतुष्टय (सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य इन चारों) मुक्तियों को नहीं चाहते हैं क्योंकि जो मेरी सेवा से पूर्ण है। सर्वार्थ सिद्धि सेवा को ही जाने। काल जिनका नाश करता है ऐसे अन्य (राज्यादिक) को तो कैसे चाहें। इस वाक्य से भक्त सेवा में प्रतीयमान चतुष्टय मुक्तियों को नहीं चाहते हैं। ऐसे सेवा करके पूर्ण हैं। उनको काल बाधा करे ऐसी वस्तु की इच्छा कहां से हो।

मूलं – न भवेत् प्रायशो भोगे तदीयानां क्वचिन्मनः ।
तथापि चेद्भवेद्भोगो निवार्यः सर्वथैव हि ।।५।।

श्लोकार्थ – भगवदियों का प्रायशः भोग में मन कभी नहीं होता फिर भी कदाचित् भोगासक्त मन हो तो निश्चय ही उसका निवारण करना।

बड़े शिक्षापत्र ७

व्याख्या – तदीयजन अपने भोग के लिये स्त्री को नहीं जाने। परन्तु भगत्सेवार्थ जाने तथा भगवद्भक्त पुत्र होने की कामना से विषय करे निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः"**। भगवद् भक्त पुत्र में प्रीति रखे।

इस वाक्य से कृष्ण में प्रीति हो, ऐसा पुत्र हो यह विचार कर विषय करे भगवत्सेवा में जो काम बाधक हो तो उसकी निवृत्ति के लिये विषय करे

मूलं – **भावोऽत्रसाधनं मार्गे प्रमेयो भगवान् हि सः ।**
प्रमाणं कृष्ण सेवादौ स एव च फलं पुनः ।।६।।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग में भाव साधन है और प्रमेय भगवान् है। आदि में श्रीकृष्ण की सेवा साधन रूप है और फिर वही श्रीकृष्ण फल है।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में सारी सेवा की रीति साधन रूप दिखती है। परन्तु सारी भाव रूप है। साधनरूपा दिखती है वह फलरूप है। इसका कारण क्या ? ऐसे कोई कहे वहां कहते हैं कि जो फल रूप है उसको तो प्रभु अपने प्रमेय बल से हाथ में रखते हैं। जब चाहेंगे तब देंगे ही। यह निश्चय नहीं है कि जो इतने दिन में फल हो और जीव के स्वभाव में फल की मन में चाहना रहती है। इसलिये सेवा साधन रूपा दिखती है। जो सेवा को ही फल रूप जानते हैं उनको फल रूप ही है। इसलिये श्रीकृष्ण की सेवा प्रमाण रूप तथा फलरूप जाने। प्रमाण रूप जानकर जो कोई सेवा करते हैं उनको साधन रूप है और प्रमेय रूप जानकर भगवत्सेवा करते हैं उनको सेवा फल रूप हैं। जिस भक्त के हृदय में जैसा भाव है उनको वैसी प्राप्ति है।

मूलं – **तस्मात् स एव संरक्ष्यो निधिरूपस्तु सर्वथा ।**
एतद्विरुद्धं तत्सर्वं ज्ञात्वा ज्ञात्वा निवर्त्तयेत् ।।७।।

श्लोकार्थ – यह भगवद्भाव ही निधि रूप है। यह निश्चय ही रक्षा करने योग्य है और उससे विरुद्ध हो वह सर्व जान जानकर छुड़ा देना।

व्याख्या – इस भांति अपने भाव की ओर प्रभु के स्वरूप की रक्षा सर्व ओर से करे ऊपर कह आये हैं, जो काल कठिन है रंचक दुःसंग हो तो अपने प्रभु में से वात्सल्य छूट जाता

है तथा भगवत्सेवा से दूसरे साधन में मन लगे तो सेवा में शिथिलता हो जाती है। इसलिये अपने भाव को निधि रूप जाने। अनेक दुःसंग से भाव की रक्षा कर ले। रक्षा करने का प्रकार कहते हैं – जो भगवत्सेवा में स्त्री प्रतिबंध करे तो उसका भी त्याग करे प्रतिबंध का भाव नहीं मानना। वैसे ही माता–पिता, पुत्र आदि जो प्रतिबंध करे उनका त्याग करे इस भांति देह संबंधी तथा देश में राजादिका प्रतिबंध हो तो विचार कर त्याग करे। एक बार नहीं छूटे तो क्रम से सब छोड़े। अपने भाव की रक्षा कर ले और पुष्टिमार्ग की सेवा सर्वोपरि जानकर सेवा का भाव निधि रूप जानकर गुप्त रखे। इस भांति रहे उसको श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से शीघ्र अनुभव होता है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।७।।

बड़े शिक्षापत्र ८

अब ८वें शिक्षापत्र में ऐहिक तथा पारलौकिक में भगवान् ही चिंतन करने योग्य है। परन्तु अन्याश्रय तो नहीं कर्तव्य हैं। उसका निरूपण है। ऊपर कहे अनुसार भगवत्सेवा भाव सहित करे और मन में दृढ़ विश्वास रखे तो सर्व प्रकार से सिद्ध हो उसको आगे कहते हैं।

मूलं – ऐहिके पारलोके च सर्वसामर्थ्यसंयुतः ।
स एव गोकुलाधीशश्चिंतनीयस्तदा हृदि ।।१।।

श्लोकार्थ – इस लोक और परलोक में सर्वसामर्थ्ययुक्त श्री गोकुलाधीश हैं, वे ही सदा हृदय में चिंतनीय है।

व्याख्या – श्री गोकुलाधीश का सदा अपने हृदय में चिंतन करे और सेवा करे उसमें चिंता बाधक है। एक तो यह कि मैं भगवत्सेवा करता हूं। इस कारण मेरे लौकिक का निर्वाह कैसे होगा ? दूसरा यह कि मेरा अलौकिक कैसे सुधरेगा ? इन दो चिंताओं का त्याग करे यह ज्ञान मन में रखे कि प्रभु सर्वसिद्ध करने में सामर्थ्य युक्त हैं। प्रभु लौकिक भी सिद्ध करेंगे।

क्योंकि जो गोकुलाधीश हैं वे सर्व सामर्थ्यवान् हैं। यह विश्वास दृढ़ कर सदा नियमपूर्वक स्मरण करे।

मूलं – विश्वासस्तत्र कर्त्तव्योभद्रमेव विधास्यति ।
स्वदोषादेव तत्रापि दोषस्फूर्तिर्यतो भवेत् ।।२।।

श्लोकार्थ – भगवान् में विश्वास करना, भगवान् कल्याण ही करेगे। उसमें दोष की स्फूर्ति हो वह अपने दोष से होता है।

व्याख्या – दृढ़ विश्वास मन में रखना, यह मुख्य विश्वास भाव है क्योंकि विश्वास दृढ़ हो तो भगवद् धर्म थोड़ा भी हो तब भी उसका कल्याण हो। लोगों को दिखाने के लिये भगवद् धर्म बहुत करे पर मन में विश्वास नहीं हो तो धर्म में फलसिद्धि नहीं होती है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेकधैर्याश्रय ग्रंथ में कहा है – **''ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः''**।

ब्रह्मास्त्र और चातक की भावना रखनी। (अविश्वास से ब्रह्मास्त्र निष्फल हो गया और चातक का विश्वास है कि मेघ जल देते हैं) ममता रहित होकर जो प्राप्त हो उनको सेवा करे इस वाक्य से जब हनुमानजी सीताजी की सुधि लेने को लंका में गये थे वहां राक्षसों के बाग को उजाड़ कर अनेक राक्षसो को मारा तब रावण ने इन्द्रजीत को भेजा। इन्द्रजीत ने पहले तो बहुत उपाय किये परन्तु हनुमानजी पकड़े नहीं गये तब पीछे ब्रह्मास्त्र चलाकर प्रतीति की तब हनुमानजी ब्रह्मास्त्र का माहात्म्य सत्यकरणार्थ वे ब्रह्मास्त्र में बंध गये। तब इंद्रजीत हनुमानजी को लेकर रावण के पास आया तब रावण ने कहा कि ऐसा बलवान वानर है जिसने कितने ही राक्षसों को मारा है उसको इस सूत्र के तार में कैसे बांधा है ? इसको अब लोह की जंजीर सांकल से बांधो। तब ब्रह्मास्त्र के ऊपर लोह की सांकली से बांधा। इस भांति रावण को अविश्वास हुआ तब ब्रह्मास्त्र आप ही छूट गया और हनुमानजी ने अपना स्वरूप बढ़ाया। सारी सांकलें टूट गई। पीछे लंका सारी जलाई ऐसे अविश्वास से ब्रह्मास्त्र नष्ट हुआ और चातक एक स्वाति के बूंद का विश्वास रखता है और जल ही पृथ्वी ऊपर नहीं जानता है। उस विश्वास में घन (मेघ) जड़ है तब भी उसका

मनोरथ पूर्ण करता है। इसलिये वैष्णव को मुख्य विश्वास होना चाहिए। अविश्वास यह आसुर धर्म है और विश्वास भगवद् धर्म है। इसलिये जिसके ह्रदय में दृढ़ विश्वास हो उसको सर्वफल की प्राप्ति होती है। भक्त अपने दोष का बारंबार विचार करे, अपने को दोष रूप में जाने, दोष की स्फूर्ति कर मन में दोष की भावना करे क्योंकि जो अपना दोष है उसका विचार करे तो मन में दीनता आवे, मैं महादोष वाला हूं। मेरे उपर प्रभु कैसे दया करेगे ? इस भांति दोष की स्फूर्ति हो तो प्रभु की परम कृपा होगी। भगवदियों ने गाया है – **"माधो हों पतितन को राजा, हों पतितन को नायक, हों पतितन को ईश।"** इस भांति अपने को सभी से दोष रूप जाने। तब जानिये की दोष की स्फूर्ति हुई जब दीनता हो, तब ही प्रभु कृपा करे।

मूलं – आर्तिः फलं साधनं च व्रजाधिपतिसंगमे ।
अतः सदा तदार्त्यैव स्थीयतां तत्कृपायुतैः ।।३।।

श्लोकार्थ – व्रज के अधिपति श्रीकृष्ण के समागम में आर्ति है। वही साधन और वही फल है। इसलिये प्रभु की कृपायुक्त होकर वैष्णवों को रहना चाहिए।

व्याख्या – प्रभु से मिलने की आर्ति है वह साधन है। उस आर्ति समान कोई साधन नहीं है। फल की आर्ति है। ह्रदय में आर्ति हो तो भगवत्सेवास्मरण सब हो और प्रभु कृपा कर अनुभव करावें। ज्यों–ज्यों आर्ति बढ़े त्यों–त्यों अधिक अनुभव प्रभु करावें। इसलिये आर्ति है वह व्रजाधिपति के संगम कराने में कारण है। सदा विप्रयोग आर्ति करते करते आर्तिरूप हो जाय तब प्रभु कृपा करते हैं। जैसे अग्नि के संबंध से नवनीत द्रवीभूत होता है वैसे ही विप्रयोग आर्ति जब हो तब प्रभु का ह्रदय द्रवीभूत हो। निरोध लक्षणों में श्री आचार्यजी महाप्रभु कहते हैं – **"क्लिशमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्। तदासर्वं सदानंदं ह्रदिस्थं निर्गतं बहिः"।**

(आर्तियुक्त जन को देखकर प्रभु जब कृपायुक्त हो तब सदानंद भगवान् ह्रदय में से बाहर निकलते हैं) इस वाक्य से अतिक्लेश संयुक्त जीव को देखे तब प्रभु कृपा युक्त हो ह्रदय में से बाहर पधार कर दर्शन देते हैं। इसलिये आर्ति ही पुष्टिमार्ग में साधन है तथा आर्ति ही फल है। जब विप्रयोग में तद्नुरूप हो जाय तब प्रभु कृपा करे।

बड़े शिक्षापत्र ८

मूलं – अन्याश्रयो महानेव बाधको भीयतां ततः ।
तत्क्षणेनैव सच्चेतो विमुखं च विधास्यति ।।४।।

श्लोकार्थ – अन्याश्रय महान् ही बाधक है उस अन्याश्रय से डरना। क्योंकि (जिस क्षण अन्याश्रय हुआ) उस क्षण में ही सत्पुरुष के चित्त को निश्चय ही बहिर्मुख करेगा।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि विप्रयोग आर्ति ही साधन और फल दोनों हैं वहां अन्याश्रय बाधक है। सारी आर्ति को दूर करे, धर्म का नाश करे, इसलिये अन्याश्रय से सदा डरते रहना। हारित स्मृति में कहा है – **"नान्यं देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत् । नान्यत्प्रसादमद्याच्च नान्यदायतनं व्रजेत् ।।"** (अन्यदेव को नमस्कार नहीं करना, अन्यदेव के दर्शन नहीं करना, अन्यदेव का प्रसाद नहीं खाना और अन्यदेव के मंदिर में नहीं जाना) इत्यादि स्मृति के वचन विचार कर अन्यदेव को देखता ही नहीं नमस्कारादिक नहीं करे, प्रसाद कुछ नहीं ले, अन्यदेव का आश्रय करे उसको बहिर्मुख जानना। अपने भाव की रक्षार्थ अपने मन से उसका बेगही (शीघ्र) त्याग करे क्योंकि जो विमुख से क्षण संबंध से दुर्बुद्धि उपजती है। श्रीगुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"अहं कुरंगीदृग्भंगिसंगिनांगी कृतोऽस्मियत् । अन्य संबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते ।।"** (जिसमे मृग की दृष्टि सी चपल दृष्टि वाले व्रजभक्तों के संगी जो श्रीकृष्ण उनका अंगीकृत हो। उनके अलावा अन्य संबंध का गंध भी मेरी कंधरा का ही बाध करता है) इस वाक्य से भगवद् भक्तों को अन्य संबंध इस भांति बाधक है। इसलिये बहिर्मुख जीव का संग छोड़कर अपने भाव की रक्षा करे यह निश्चय सिद्धान्त है।

मूलं – तदीयेषु सदा स्थेयं सदभावेनैव सर्वथा ।
त एव भक्तिमार्गस्य सहायत्वे निरुपिताः ।।५।।

श्लोकार्थ – वैष्णव को सद्भावना से (भगवद् भजन आदि प्राप्त करूंगा ऐसी भावना से ही अच्छी शिक्षा मिलेगी) सदैव भगवदियों के ही संग में रहना चाहिए। क्योंकि परम भगवदीय ही भक्ति मार्ग में आगे बढ़ाने वाले सहायक हैं।

व्याख्या – भगवदीय के संग रहे तो बहिर्मुखता नहीं हो। अन्याश्रय भी नहीं हो। प्रभु में

सुंदर भाव भी बढ़े। सर्वथा शुद्ध भाव से तदीयों का संग करे। यह संग प्रभु के मिलने के अर्थ करे और कुछ लौकिक वैदिक चाह नहीं रखे। इस भक्ति मार्ग में चाहना से भक्ति बढ़ती है। प्रभु कृपा करते हैं। इसलिये तदीय का संग करे। श्री भागवत के प्रथम स्कंध में शौनक का वाक्य है – **"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्संगि संगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः"** (भगवान् के संगी भक्त के एक क्षण बराबर स्वर्ग एवं मोक्ष की तुलना नहीं करते हैं। फिर मरणधर्मा राज्यादिक के मनोरथ की तो कैसे तुलना करे ?) भगवदीय का संग एक क्षण हो उस सुख के समान स्वर्ग वा मोक्ष का नहीं हैं। ऐसा सत्संग है और श्री भागवत के एकादश स्कंध में श्री भगवान् ने उद्धवजी के प्रति कहा है – **"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा । व्रतानियज्ञछंदासि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरूंधे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् । सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना खगा मृगाः । गंधर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगृह्यकाः ।। बहवो मत्पदं प्राप्ता स्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।।** (हे उद्धव! मेरे को योग वश में नहीं करता है। नहीं सांख्य, नहीं धर्म, नहीं स्वाध्याय, (वेदाभ्यास) नहीं, तप नहीं, दान नहीं, कूपारामादिक नहीं, दक्षिणा नहीं, व्रत, यज्ञ, छंद, तीर्थ, नियम, यम ये कोई वश में नहीं करते हैं जैसा सर्वसंग को मिटाने वाला सत्संग मेरे को वश में करता है। सत्संग करके निश्चय दैत्य, यातुधान, पक्षी, मृग, गंधर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, बहुत वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि मेरे चरणारविंद को प्राप्त हुए हैं। श्री भगवान् उद्धवजी के प्रति कहते हैं कि मुझे सत्संग वश करता है और नहीं योग, सांख्य, धर्म, तप, त्याग, नियम, व्रत, यज्ञ, तीर्थ इत्यादि मेरे को वश नहीं करते हैं। सत्संग के प्रभाव से दैत्य, राक्षस, खग, मृग, गंधर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध चारण, मनुष्य कोई हो सब तिर गये हैं। इसलिये शुद्ध भाव से भगवदीय का संग करे तो पुष्टिमार्ग में भगवदीय के सहाय से भक्ति बढ़े। चौरासी वैष्णव की वार्ता में वर्णन है कि गदाधरदास के आशीर्वाद से तथा संग से माधोदास को भक्ति हुई।

मूलं – अस्माकं तु तदीयानां प्रसंगोऽपि सुदुर्लभः ।
चेतोऽपिसाधनाभावाद्विमुखं तिष्ठति स्वतः ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र ८

श्लोकार्थ – अपने को तो भगवदियों का प्रसंग भी अति दुर्लभ है और चित्त भी साधन के अभाव से स्वतः (आपसे) विमुख रहता है।

व्याख्या – हमको तो तदीय (भगवदीय) का संग तो महा ही दुर्लभ है। एक क्षण भी भगवदीय नहीं मिलते हैं एक तो यह दुःख है और दूसरा चित्त से साधन, स्मरण, भावना, कुछ भी भगवद् धर्म नहीं बनते हैं। इसलिये भगवदीय के संग का अभाव है। अकेले चित्त में भगवद् धर्म में नहीं लगता है। इस कारण बहिर्मुखता हृदय में होती है। प्रभु को प्रसन्न करने के दो उपाय हैं। एक तो भगवदीय के संग से प्रभु में मन लगे तथा संग नहीं हो तो अष्टप्रहर चित्त भगवद् लीला में लगा रहे, तो प्रभु कृपा करे भगवदीय का अभाव हो और मन से साधन का अभाव हो तब बहिर्मुखता हो। यह हमारे ऊपर बनी है अब हम क्या करें ? इस भांति जीवों के अर्थ श्रीहरिरायजी दैन्य करते हैं।

मूलं – गतोहि भगवद्दासः स्वकार्याय विदेशके ।
व्रजपालोऽपि चलितस्तेन मे दुःखितं मनः ।।७।।

श्लोकार्थ – भगवानदास अपने कार्य के लिये विदेश गया है और व्रजपालनाम का सेवक भी परदेश गया है इसलिये मेरा मन दुःखी है।

व्याख्या – एक भगवदीय भगवानदास हमारे पास था वह भी अपने कार्य से विदेश गया है और व्रजपाल भी परदेश गया इस कारण मन दुःखी है। मैं उनके संग नहीं गया और उनको अपने पास नहीं रख सका इसलिये सत्संग बिना मन बहुत दुःख पाता है।

मूलं – मयि यद्यपि नास्त्येव किंचित्ता कृपया पुनः ।
यदस्ति तदपि स्वीयसाधनाभावतो गतम् ।।८।।

श्लोकार्थ – यद्यपि मेरे में कुछ धर्म नहीं है, तब भी उनकी कृपा से जो कुछ है वह फिर अपने साधन के अभाव से गया है।

व्याख्या – भगवदीय मेरे पास से पधारे, इसलिये जानते हैं कि मेरे में स्नेह होता तो तुम्हारा संग और भगवत्सेवा घर में ही सब है वे क्यों छूटते। परन्तु मेरे हृदय में स्नेह नहीं

है। इस कारण ऐसी बनी है। मेरे में यद्यपि स्नेह नहीं है तब भी एक तुम्हारी कृपा का बल है जो मेरे ऊपर प्रसन्न हो। मेरे से लौकिक वैदिक कार्य भी नहीं बनते हैं। इसलिये गृहस्थाश्रम के काम का भी नहीं हूं और प्रभु को प्रसन्न करने के लिये पुष्टिमार्गीय सेवादि धर्म का भी अभाव है। वह भी नहीं बनता है। इस कारण मैं सब ओर से निःसाधन हूं।

मूलं – एतादृशेऽर्थे संप्राप्ते स हरिः शरणं मम ।
ऐहिके परलोके च नैचिंत्यं तत एव च ।।९।।

श्लोकार्थ – ऐसी दशा हुई तो भी मेरा वह एक हरि ही रक्षक है जिससे इस लोक और परलोक के विषय में निश्चिन्त हूं।

व्याख्या – ऐसा निःसाधन मैं मेरे हरिशरण ही एक गति है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है कि मन में यही आश्रय करे **"ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः"** यह लौकिक वैदिक सिद्धि नहीं हो जावे तब श्री हरिशरण सर्वथा करे, उसके करने से सर्वसिद्ध हो जायेंगे। इसलिये हरिशरण कर सर्व ओर से निश्चिंत हो। अब प्रभु अपना कर लेंगे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कृष्णाश्रय ग्रंथ में कहा है – **"शरणस्थ समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्"** (शरण में रहे उनका उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण को विज्ञप्ति करता हूं) इस वाक्य से जो शरणस्थ भक्त हैं उनका उद्धार प्रभु निश्चय ही करेगे। साधन बने अथवा न बने। भगवान् ने भगवद गीता में कहा है – **"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।"** (सर्वधर्म को छोड़कर एक मेरे शरण हो तो मैं तेरे को सर्वपाप से मुक्त करूंगा। शोक मत कर) इस वाक्य से हरिशरण ली है। इससे इहलोक संबंधी कार्य तथा परलोक दोनों ओर से निश्ंचित हूं।

मूलं – कदाचिन्मिलनं चेत्स्यात् सद्भाग्येन भवादृशाम् ।
तदा को वेद चित्तस्य परावृत्तिः पुनर्भवेत् ।।१०।।

श्लोकार्थ – मेरे भाग्य से कदाचित् आप जैसे से मिलन होगा, तब फिर चित्त की परावृत्ति (जो पीछा फिरना, अर्थात् जो चित्त में धर्म था वह गया, ऐसा आठवें श्लोक में लिखा है

इसलिये चित्त की परावृत्ति) हो यह कौन जानता है।

व्याख्या – हम तो भगवदीय के संग बिना ऐसा दुःख पाते हैं और जीवों को तो कदाचित् (कभी) भगवदीय मिलते हैं। तब भी उनके भाग्य में भगवद् लीला, भगवत्सेवा, पुष्टिमार्ग के रस का अनुभव नहीं लिखा है। इसलिये ये सत्संग में उन जीवों का मन नहीं लगता है। क्योंकि जो अब पुनरागमन (बहुत जन्म) संसार में लेना है। बहुत अंतराय है यह कहकर श्रीहरिरायजी ने बताया है कि पहले तो भगवदीय का सत्संग ही दुर्लभ है तो भी कभी भाग्य योग से आकर मिलते हैं। तब जीव का मन नहीं लगता है इसलिये जिसका मन सत्संग में नहीं लगे उसको यह जानना कि अब भी इस जीव के भाग्य में अनुभव नहीं लिखा है। अभी यह जीव संसार में बहुत भटकेगा। इनको अनेक जन्मों का अंतराय जानना चाहिए।

मूलं – **कियल्लेख्यं महाचिंतासमुद्रो हृदिवर्त्तते ।**
स्थितेऽपि शिरसि प्राणनाथे चित्तविभेदतः ।।११।।

श्लोकार्थ – मैं कितना लिखूं? मेरे मस्तक ऊपर प्राणनाथ (श्री ठाकुरजी) विराजते हैं। तब भी चित्त के विक्षेप से हृदय में महाचिंता का समुद्र रहता है।

व्याख्या – जीव का स्वभाव तथा जीव की क्रिया देखकर मन में चिंता बहुत होती है। इसलिये मैं अपने मन की चिंता कहां तक लिखूं? चिंता का समुद्र मेरे हृदय में भरा है। यह कहकर बताया है कि अपार चिंता हृदय में समुद्रवत् भरी है। कागज में कहां तक लिखूं, चिंता दूर करने की सामर्थ्य मेरी नहीं है। मेरे मन का सामर्थ्य हो तो मैं उपाय करता। इसलिये मेरे को एक भरोसा है कि मेरे माथे प्राणनाथ प्रभु विराजते हैं। श्री आचार्यजी की कृपा से मेरे चित्त को शांत करेगे, यह भरोसा मेरे को है। इसका अन्य अर्थ इस प्रकार है – चिंता करके मेरे प्राण माथे आ रहे हैं। ऐसी चिंता हृदय में समुद्र की तरह है। वहां श्री ठाकुरजी मेरे प्राण के नाथ हैं। प्राण की रक्षा करने के लिये मेरा दुःख (चिंता का समुद्र हृदय में उमड़ा है) उसको प्रभु ही शांत करेगे। इस भांति विप्रयोग का अनुभव करते–करते अपने हृदय में तन्मयता हो और केवल निःसाधनता हो तो प्रभु के स्वरूप का अनुभव हो, ऐसे श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं। यह निरूपण कर केवल रसात्मक स्वरूप का अनुभव किस प्रकार से हो? उसका वर्णन आगे शिक्षापत्र में वर्णन करते हैं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।८।।

बड़े शिक्षापत्र ६

अब ६वें शिक्षापत्र में प्रेम, आसक्ति और व्यसन का स्वरूप पृथक् निरूपण करते हैं। ऊपर के पत्र में दीनता कर निःसाधन हो तब अनुभव हो, ऐसे निरूपण किया है। वह अनुभव किस प्रकार हो ? उसको आगे कहते हैं।

मूलं – कदा निजपतिः कृष्णः स्वबिंबं दर्शयिष्यति ।
बद्धबर्हशिखं नीलकुंतलावरणाननम् ।।१।।

श्लोकार्थ – मयूर पिच्छ से बांधे नीलकुंतल के आवरणयुक्त मुख वाले अपने पति श्रीकृष्ण अपने स्वरूप का दर्शन कब देंगे।

व्याख्या – श्रीकृष्ण हमारे पति उनका दर्शन कब होगा ? (श्रीहरिरायजी ने मेरे पति इसलिये कहा कि व्रजभक्तों के भाव भावित हैं) अपना देहानुसंधान भूल गये हैं। अत्यन्त विरह से वह भीतर का भाव बाहर उमग कर निकला है। इसलिये अपना पति कहा है तथा श्री आचार्यजी द्वारा ब्रह्म संबंध हुआ है। तुलसी चरणारविंद में समर्पित की है। ऐसे ब्रह्म संबंध का स्मरण कर श्री ठाकुरजी हमारे पति हैं, ऐसा कहा। श्रीकृष्ण अपने स्वरूप का दर्शन कब देंगे ? श्रीकृष्ण कैसे हैं, मोर के स्वच्छ पिच्छ के गुच्छा करके मुकुट संवारकर मस्तक पर धरा है। उसका अभिप्राय यह है कि मुकुट का शृंगार है वह श्री स्वामिनीजी के रसदानार्थ है इसलिये मुकुट धारण किया है। शीघ्र ही दर्शन देकर रसदान करेंगे और नीलकुंतल (श्याम अलकावलि) मुखारविंद के ऊपर आ रही है ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे ?

मूलं – भ्रूधनुः संधितशरं कस्तूरीचित्रकांकितम् ।
इन्दीवरदलाद्दैर्घ्यविशालनयनद्वयम् ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र ६

श्लोकार्थ – भृकुटिरूप धनुष में सांधा है शर (बाण) जिनने, और कस्तूरी के चित्र से चित्रित कर कमलदल से बड़े विशाल दोनों नेत्र हैं जिनके (अठारह श्लोक तक स्वरूप का वर्णन है ऐसे स्वरूप का दर्शन कब देंगे यह पूर्व श्लोक से संबंधित है।)

व्याख्या – भृकुटी धनुष की तरह, वहां रसरूप कस्तूरी का तिलक तथा कपोल में कमल पत्र और धनुष बाण ले हमारे मन को कब मारेंगे और कमल के पत्रवत् बड़े अति विशाल दोनों नेत्रों को दर्शन देकर हमारे ताप को कब हरेंगे।

मूलं – **मौक्तिकाभरणालंबिसुनासं सरसाधरम् ।**
त्रिरेखकंठविलसत्कंठाभरणभूषितम् ।।३।।

श्लोकार्थ – सुन्दर नासिका पर जितने मुक्ताओं की नकबेसर सुशोभित है। रस भरित जिनके अधर है। तीन रेखा वाले कंठ में पड़े हुए कंठाभरण से सुशोभित स्वरूप वाले प्रभु कब दर्शन देंगे।

व्याख्या – मुक्ताओं के नकवेसर से सुक्त लंबी नासिका जो अत्यन्त सुन्दर दिखती है उस नकवेसर का मोती परम शोभा देता है। परम शोभायमान उज्ज्वल, अरूण अधर पर आ रहा है वह मानो श्री स्वामिनीजी का निर्विकार भाव अधर सुधा का पान करता है। कंठ में तीन रेखा है उससे सात्विक, राजस, तामस तीन प्रकार के भक्तों की स्थिति है अथवा त्रिलोकी मोहित है और श्री कंठ के कंठाभरण (कंठसरी) आदि शोभित है ऐसे श्रीकृष्ण हमको कब दर्शन देंगे ?

मूलं – **प्रफुल्लगल्लयुगलं चिबुकाभरणान्वितम् ।**
सुवर्णसूक्ष्ममणियुक्वनमालाविराजितम् ।।४।।

श्लोकार्थ – खिले हुए दोनों गाल हैं जिनके चिबुक भूषण से युक्त हैं और सुवर्ण के सूक्ष्म मणिका युक्त वनमाला से विराजित हैं।

व्याख्या – दोनों गाल स्थल प्रफुल्लित हैं जिसका युगल गीत में वर्णन है **"बदर पांडुवदनोमृदुगंडः"** (पके बेर जैसा श्वेत है मुखारविंद जिनका और कोमल गंडस्थल है

जिनका) जैसे पके बेर में शुक चोंच मारता है वैसे यहां श्री स्वामिनीजी के दंत स्पर्श हो ऐसे कपोल हैं और चिबुक भूषण है वह श्री स्वामिनी जी अधर सुधा का अनुभव करती हैं। वहां रस के आधिक्य से अधर से चूसा है। वहां चंद्रावली जी अनुभव करती है उसका भाव है वह मधुराष्टक की टीका में वर्णित है। ऐसा चिबुक विराजित हैं। सोने के छोटे मनिका की मालाओं से कंठ विराजित है ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – उरःस्थललसत्स्वच्छवक्रवैयाघ्रबाहुजम् ।
रत्नव्यवहितस्थूलमुक्तामालांचितोदरम् ।।५।।

श्लोकार्थ – उरःस्थल में शोभित है स्वच्छ वक्र बघनखा जिनका अन्य रत्न के व्यवधानयुक्त बड़े मोतियों की माला से पूजित है उदर जिनका।

व्याख्या – उरः स्थल पर उज्ज्वल बाघनखा वक्र लसित है। प्रसिद्ध अर्थ तो यह है कि श्री यशोदाजी ने बालक की रक्षार्थ धराया है तथा श्री स्वामिनी जी का नखक्षत उर ऊपर भाव सहित धरा है। रत्न से गूंथा नवरत्न युक्त बड़ी माला (जिसको वैजयंतीमाला कहते हैं वह) समस्त भक्तों के भाव से विराजित हैं और बड़े–बड़े मोतियों की माला उदर पर विराजित है। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – सुवर्णकृत्रिममणिस्थूलमालातिसुन्दरम् ।
गुंजाफलमहन्मालालसदूरुयुगांतरम् ।।६।।

श्लोकार्थ – सुवर्ण के कृत्रिम मणिकाओं से स्थूल ऐसी जो माला उससे सुन्दर और गुंजा की बड़ी माला से शोभित है दोनों उसका मध्य भाग है जिनका।

व्याख्या – सोने की कृत्रिम मणिका से गूंथी परम सुन्दर माला पहनी है। गुंजामाला श्वेत सुन्दर गूंथी है उसमें चतुर्थ स्वामिनीजी के यूथपति के भाव से पहनी है मोहनमाला वह उनके घुटनों तक है। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – अनेकरत्नजटितकरकंकणभूषणम् ।
बाहुमध्यलसत्स्वर्णनिर्मितप्रथितांगदम् ।।७।।

श्लोकार्थ – अनेक रत्न से जटित श्री हस्त में कंकण का आभूषण है और बाहू के मध्य में शोभित तथा रत्नादिक से बनाये विस्तार वाले बाजू जिनके हैं।

व्याख्या – अनेक रत्न से जटित ऐसे कंकण दोनों हाथ में पहने हैं और भुजाओं में बाजू सोने के रत्न जटित विराजित हैं। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – अनेकपुष्पतुलसीवनमालातिलालितम् ।
विचित्रवर्णविलसत्कटिवासोविराजितम् ।।८।।

श्लोकार्थ – अनेक पुष्प और तुलसी जिसमें है ऐसी वनमाला से बहुत शोभित है और विचित्र वर्ण वाले शोभित जो कटि वस्त्र से विराजित है।

व्याख्या – अनेक प्रकार के पुष्प, तुलसी सहित गूंथी ऐसी ललित वन माला विराजित हैं। सभी व्रजभक्तों के भाव से पंचरंग की अति विचित्र काछनी को धारण किया है। वे प्रभु के चतुर्थ यूथपति के भाव से कटि पर विराजित है। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – कटिभावज्ञापिकातिकिंकिणीरवशोभितम् ।
पदद्वयगतस्वर्णमणिनूपुरमंडितम् ।।९।।

श्लोकार्थ – कटि के भाव को जताने वाले किंकिणी के शब्द से शोभित है। तथा दो चरणारविंद में धरे सुवर्ण से जटित मणियुक्त नूपुर से मंडित है।

व्याख्या – कटि में किंकिणी रव शोभित है, उस रव से व्रजभक्तों को अनेक रमणादिक लीला के भाव का सूचन कराती है। दोनों चरण कमल की चाल परम सुन्दर है। उसमें मणि जटित सुवर्ण के नूपुर शोभित हैं। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे?

मूलं – नखचंद्रप्रकाशैकप्रकाशितजगत्त्रयम् ।
पीतांबरोतदीयेषच्चलदंचलसुन्दरम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – नखचंद्र के प्रकाश से मुख्य प्रकाशित है तीन जगत जिनसे और पीतांबर के जो उत्तरीय वस्त्र से थोड़ा–सा चलायमान अंचल से सुन्दर है।

व्याख्या – नखचंद्र के प्रकाश से तीनों जगत को प्रकाशित करते हैं। आकाश, पाताल, भूलोक, इन तीनों लोक में जो भक्त हैं उनके हृदय में प्रकाश करते हैं तथा ओर के हृदय

को नखचंद्र प्रकाशित नहीं करता है। वे भक्त कैसे हैं? जिसने एक श्री ठाकुरजी के चरणारविंद का आश्रय किया है उनके हृदय में नखचंद्र प्रकाश करते हैं तथा यह ललितत्रिभंगी स्वरूप श्री वृंदावन में स्थित है। उनका अनुभव एक व्रजभक्तों को है। वे राजसी, तामसी, सात्विकी, ऐसे त्रिगुण भक्त है उनके हृदय में यह नखचंद्र प्रकाश करता है और पीतांबर से व्रज भक्त श्री स्वामिनीजी के उत्तरी भाव से धारण किया है। उस उत्तरीय के दोनों अंचल मंद सुगंध वायु से चलायमान है।

मूलं – प्रदर्शितशिरोभेदंचलन्मकरकुंडलम् ।
नृत्यंतं नयनानंदं नितांतरतिसंप्रदम् ।।११।।

श्लोकार्थ – मस्तक का भेद जिनने बताया है। चलायमान मकराकृति कुंडल जिनके हैं, नृत्य करते हैं, नेत्र में आनंद है जिनके और निरंतर रति को देने वाले हैं।

व्याख्या – मस्तक के दोनों ओर सुन्दर श्रवण में मकराकृति कुंडल धारण कर रखे हैं। वह सांख्योग का स्वरूप है। ऐसे श्रीकृष्ण नृत्य करते हैं। उससे व्रजभक्तों के नयन को परम आनंद देते हैं। भक्तों को रतिरस का अनुभव कराते हैं।

मूलं – नितंबिनीवृंदवर्त्तिरसानुभवलोलुपम् ।
विहरंतं विशेषेण रासलीलापरायणम् ।।१२।।

श्लोकार्थ – व्रजभक्तों के वृंदमध्य विराजित हैं। उनसे इनके रसानुभव करने को लुब्ध है। विहार करते हैं और विशेषकर रासलीला में परायण है अथवा रासलीला का उत्तम स्थान है जिनका, ऐसे हैं।

व्याख्या – व्रजभक्तों के वृंद में प्रभु विराजमान है। वह भक्तों को रसानुभव कराने में परम चंचल है। जो एक कालावच्छिन्न समस्त व्रजभक्तों को दान करते हैं। रासलीलादिक करने में प्रभु परम चतुरहै।

मूलं – त्रिभंगललितं वेणुकलितं भुजयोरपि ।
वृंदावनैकफलितं वलितं स्वजनैः सह ।।१३।।

श्लोकार्थ – त्रिभंग स्वरूप है जिसके कारण मनोहर है। भुजा में वेणु धारण किया है। वृंदावन के मुख्य रूप है और स्वभक्तजन सहित मिलते हैं।

व्याख्या – इस भांति त्रिभंग स्वरूप कर दोनों भुजाओं से वेणुनाद करते हैं। श्री वृंदावन के फलात्मकस्वरूप श्री वृंदावन में सदा विराजमान है। अपने स्वजन (व्रजभक्तों) से वेष्टित है। इस भांति लीला सहित स्वरूप के प्रभु मेरे को दर्शन कब देंगे ?

मूलं – **वादयंतं मुरलिकां मोहयंतं मनः सताम् ।**
जगज्जडं प्रकुर्वंतं रोधयंतं च भक्षणम् ।।१४।।

श्लोकार्थ – मुरली का नाद करते हैं। सत्पुरुष के मन को मोहित करते हैं। जंगम को जड़ करते हैं और पशुआदि के भक्षण का रोध करते हैं।

व्याख्या – सुन्दर सप्त स्वर की मुरलिका बजाकर समस्त भक्तों को मोह उपजाते हैं। जड है उनको चेतन और चेतन को जड़ करते हैं। पशु–पक्षी चैतन्ययुक्त हैं। जड़ होकर स्थित हैं। ऐसे रहकर वेणुनादामृत रस का पान करते हैं और वृक्ष पर्वतादि जड़ हैं वे चैतन्ययुक्त हो मधुधारा बहाते हैं।

मूलं – **पशूनां पक्षिणां चैव मौनसंपादकं तथा ।**
तरुणामंतरानंदमधुधारैकवार्षुकम् ।।१५।।

श्लोकार्थ – जब वेणुनाद करते हैं तब पशु–पक्षियों को मौन करने वाले और वृक्षों के मध्य में आनंद करके मधु धारा का वर्षण कराने वाले हैं।

व्याख्या – पशु पक्षी वेणुनाद सुनकर चंचलता छोड़कर मौन होकर रसपान करते हैं। यह आधिदैविक श्री वृंदावन के मुनि हैं। पुष्टिलीला संबंधी वृक्षादि से मधु की धारा बरसती हैं। अंतकरण में भगवदियों का जब भगवत्स्वरूप का अनुभव हो तब आनंद से देह में पुलकावलि हो वे श्री वृंदावन के वृक्ष हैं। वे परमभगवदीय है, वेणुनाद रस अमृत का हृदय में अनुभव कर अंतकरण में आनंद पाकर मधुधारा स्रवित होती हैं।

मूलं – **हरंतं व्रजभूतापं पदस्थापनतस्तथा ।**
यमुनातीरमात्रैकजलक्रीडाकृतिप्रियम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – चरणारविंद के स्थापन से व्रज की भूमि के ताप को हरण करने वाले तथा यमुनाजी के तट मात्र में मुख्य जलक्रीड़ा करना जिनको प्रिय है।

व्याख्या – इस भांति रासादिक लीला व्रजभूमि में कर व्रजभूमि के ताप को मिटाते हैं तथा व्रज में उत्पन्न हुए सर्व प्राणी के ताप को हरते हैं। अथवा व्रज में अपने चरणारविंद स्थापन कर सारी गुल्मलता, औषधी आदि के ताप को हरते हैं। अथवा व्रज में सब स्थान चरण चिह्न स्थापन कर यह बताते हैं कि कोई व्रज का आश्रय करेगा उसका भी ताप दूर होगा। इस भांति रासलीला अनेक भक्तों से की, तब श्रम जल हुआ, तब श्री ठाकुरजी ने जाना कि यह भक्तों सहित श्रम का जल है। यह रस कहां देना ? पीछे विचार किया कि इस रस के पात्र श्री यमुनाजी हैं, ऐसा जानकर भक्तों सहित श्री यमुनाजी में पधारे। अपनी प्रिय श्री स्वामिनीजी सहित जलक्रीड़ा करने लगे। इस भांति श्रीयमुनाजी को पात्र जानकर रसदान किया। जलक्रीड़ा कर श्रम का निवारण किया। ऐसे श्रीकृष्ण कब दर्शन देंगे ?

मूलं – **रसात्मकरसात्मस्वभक्तवृंदसमन्वितम् ।**
निजानुभवसंवेद्य प्रकटंतं क्षणे क्षणे ।।१७।।

श्लोकार्थ – आप रसात्मक और रसात्मक अपने भक्तों के वृंदतायुक्त हैं तथा अपने भक्तों के अनुभवार्थ सेवाज्ञान को क्षण क्षण में प्रकट करने वाले हैं।

व्याख्या – रसात्मक श्रीकृष्ण हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के आत्मारूप रसात्मक व्रजभक्तों को अनुभव कराते हैं। क्षण क्षण में अधिक रसदान करते हैं। भक्तों का भाव ही क्षण क्षण में अधिक प्रकट होता है। ऐसे रसदानकर्ता श्रीकृष्ण प्रभु कब दर्शन देंगे ?

मूलं – **विरहे युगपत्सर्वनिजलीलानुभावकम् ।**
साकारानंदरूपेण व्रजभक्तहृदि स्थितिम् ।।१८।।

श्लोकार्थ – विरह में एक कालावच्छिन्न अपने भक्तों को अपनी लीला का अनुभव कराने वाले और साकार आनंदरूप करके व्रज भक्तों के हृदय में विराजमान हैं।

व्याख्या – ऐसे भावात्मक रसात्मक श्रीकृष्ण से केवल शुद्ध विरह करे तब अपनी निजलीला का अनुभव करावे तो सारे जीव दिन रात केवल विप्रयोग आर्तिकर शुद्ध हृदय हो, तब ही निज लीला का अनुभव हो। वे निज भक्त श्री स्वामिनी जी हैं उनका विप्रयोग है। उन्हीं को इस लीला का अनुभव है। ऐसे भावात्मक श्रीकृष्ण हैं। वे व्रजभक्तों के हृदय

में साकार आनंद रूप सर्वलीला संयुक्त विराजते हैं क्योंकि इसका स्वभाव है कि वह पात्र बिना रहता नहीं हैं। रसात्मक साकार आनंदरूप श्रीकृष्ण हैं उस रस के पात्र व्रजभक्त हैं। इसलिये व्रजभक्तों के हृदय में विरह रसात्मक प्रभु स्थिर रहते हैं।

मूलं – एवं दिदृक्षा सततं स्थापनीया निजहृदि ।
सैवास्माकं प्रेमभावोऽन्यराग विनिवर्त्तकः ।।१६।।

श्लोकार्थ – ऊपर अठारह श्लोकों में निरूपण किया ऐसे स्वरूप के दर्शन करने की इच्छा अपने हृदय में स्थापन करना, यह ही अन्य में प्रीति मिटाने वाले अपना प्रेमभाव जानना चाहिए।

व्याख्या – ऐसे श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा जिसके मन में हो वह निरन्तर अपने हृदय में इस स्वरूप का ध्यान कर स्थित करे वहां कोई कहे कि तुम्हारे हृदय में तो ऐसे प्रभु स्थित हैं ध्यान कर तुमने स्थित किये हैं। वे वहां कहते हैं कि मेरे हृदय में प्रेम का अभाव है। मेरे में प्रेम नहीं है। यह स्वरूप तो प्रेम कर धारण करे तब हो, मेरे को तो अन्यराग निवृत्ति ही दुर्लभ है। इसलिये मैं तो अन्य राग निवृत्ति करके रहित हूं। वहां कोई कहे कि तुम्हारे में प्रेम तो दिखता है। स्वरूप का वर्णन किया है। प्रभु में आर्ति भी है। प्रभु में आसक्ति भी है। पुष्टिमार्ग की सारी रीति भी है। उस प्रमाण चलते भी हो। तुमको क्या बाधा है ? वहां कहते हैं।

मूलं – ततः स्यादार्त्तिराधिका गेहदैहिकबाधिका ।
आसक्तिः सैवमार्गेऽस्मिन् गृहस्थास्वास्थ्यकारिका ।।२०।।

श्लोकार्थ – प्रेमभाव होने के पश्चात् गृहकार्य तथा देहकार्य को बाध करने वाली आसक्ति होती है। यह पुष्टिमार्ग में गृहस्थ में अरुचि करने वाली वही है।

व्याख्या – हमको गृह देह संबंधी लौकिक आर्ति है। यह भगवद् भाव में बाधक है। क्योंकि जो देह संबंधी घर उसमें लौकिक वैदिक कार्य है उसकी आर्ति मन में रहती है। वह बाधक है। पुष्टिमार्ग में आसक्ति है वह परम धर्म है। जिसकी आर्ति प्रभु पर है वह गृहस्थ घर में स्वस्थ कैसे रहे ? गृह में स्वस्थ जिसका मन है वह पुष्टिमार्ग में किस प्रकार स्वस्थ रहेगा ?

यह कहकर जताया है कि जिसकी आसक्ति प्रभु में है उससे देह संबंधी लौकिक वैदिक क्रिया भली भांति से नहीं होगी।

मूलं – परितापोदयस्तस्मात् सर्वविस्मृतिकारकः ।
स एव व्यसनं यत्र प्रपंचस्फूर्तिनाशनम् ।।२१।।

श्लोकार्थ – इस आसक्ति से सर्व (प्रपंच को) विस्मृति करने वाले परिताप का उदय हो उसमें प्रपंच की स्फूर्ति का नाश हो वही व्यसन कहना चाहिए।

व्याख्या – ऊपर कहे उस भांति प्रभु में आसक्ति हो, तब प्रभु दया कर आर्तिदान करे तो विप्रयोग हो। विप्रयोग हुआ कब जानना ? जब प्रभु संबंध बिना देह संबंधी सर्वकार्य की विस्मृति हो तब विप्रयोग हुआ जानना। पीछे प्रभु में व्यवसन हो तथा प्रभु बिना रहा नहीं जाय। एक क्षण युग समान जाय यह व्यसन का स्वरूप है। उस व्यसन से प्रपंच की स्फूर्ति का नाश हो। केवल प्रभु पर तन्मयता हो।

मूलं – एवंविधस्तु त्रिविधो भावो निःसाधनो मतः ।
अतस्तु दुर्लभा लोके तत्प्राप्तिर्भजतां नृणाम् ।।२२।।

श्लोकार्थ – इस प्रकार (प्रेम, आसक्ति और व्यसन) तीन प्रकार का भाव निःसाधन कहा है। इसलिये भगवत्सेवा करने वालों को ऐसे भाव की प्राप्ति लोक में दुर्लभ है।

व्याख्या – इस भांति मन, वचन, क्रिया करने से तीन प्रकार का भाव सिद्ध होता है। तब निःसाधन हो जाय, इस भांति निःसाधन होना इस लोक में दुर्लभ है। निरंतर जो श्रीकृष्ण की सेवा किया करे, तब निःसाधन होता है।

मूलं – चक्रे करुणया कृष्णो भावात्माऽऽस्यं तथाविधम् ।
मूर्तिमद्भावसंबंधात्तत्प्राप्तिरिति वेद यः ।।२३।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण ने करुणा करके भावात्मक मुखारविंद रूप में से श्री मदाचार्यजी को प्रकट किया। अथवा **"भावात्माख्यं"** ऐसा पाठ हो तो भावात्मा नाम है जिनका ऐसे श्री आचार्यजी को प्रकट किया। मूर्तिमान भाव जो श्री आचार्यजी उनके संबंध से यह तीन भाव की प्राप्ति है। ऐसे जो जानते हैं उनको भाव की प्राप्ति होती है।

बड़े शिक्षापत्र ६

व्याख्या – यह भाव विधि पूर्वक कब सिद्ध हो ? जब श्रीकृष्ण भावात्मा के मुखारविंद रूप श्री आचार्यजी महाप्रभुजी की कृपा हो तब भाव सिद्ध हो। भाव सिद्ध हुआ कब जानना ? जब श्रीकृष्ण स्वरूप मूर्तिमान है यह भाव सिद्ध रहे। ये ही साक्षात् श्रीकृष्ण भावात्मक हमारे पति हैं यह मन, वचन, क्रिया कर भाव हो तब प्राप्त हो, यह भाव कैसे हो ? उसका वर्णन आगे करते हैं।

मूलं – **प्रमेयबलतो नान्यत्साधनं तत्र भाव्यताम् ।**
अतः सर्वैः प्रकर्त्तव्यो निजाचार्यपदाश्रयः ।।२४।।

श्लोकार्थ – इस भाव में प्रमेय बल बिना और साधन नहीं हैं। ऐसे जानना सर्व अपने श्री आचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय विशेष कर्तव्य है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के स्वरूप में ऐसा भाव जीव के साधन से नहीं होता है। श्रीकृष्ण ही प्रमेय बल से भाव का दान करे तब ही भाव हो, इसलिए पुष्टि मार्ग की रीति से तन, मन, धन से प्रीति सहित सेवा करे अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का आश्रय करे तो श्री आचार्यजी प्रमेय बल से भावदान करे, जिससे मार्ग की रीति से सेवा और श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल का आश्रय यह निश्चय मन लगाकर कर्तव्य है। यह सिद्धान्त सर्वोपर है।

मूलं – **तद्भावे न वै भावि फलमेतन्न संशयः ।**
अतएवास्मदीशैस्तु ग्रंथे श्रीवल्लभाष्टके ।।२५।।

स्वामिन् ! श्रीवल्लभेत्येतत्पद्येऽखिलमुदीरितम् ।
तदाश्रयो न वचनैः किं तु तन्मार्गनिष्ठया ।।२६।।

श्लोकार्थ – मार्ग की रीति से सेवा और श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय इन दोनों का अभाव हो तो भाव रूप फल नहीं होता है। इसमें संशय नहीं है। इसीलिये अपने प्रभु श्री गुसांईजी ने तो श्री वल्लभाष्टक के **"स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने"** श्लोक में सर्व निरूपण किया है। उनका आश्रय केवल वचन करके नहीं होता है। किंतु उनके द्वारा प्रकट किये ऐसे पुष्टि मार्ग में निष्ठा हो तब आश्रय सिद्ध होता है।

व्याख्या – ऊपर कहे उस भांति श्री आचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय कर भगवत्सेवा करे तब श्री आचार्यजी भावदान करे, तब भावात्मक रस में तद्रूप हो जाय तब इस पुष्टिमार्गीय फल की निश्चय प्राप्ति हो। इसमें संशय नहीं है। हमारे श्रीगुसांईजी ने वल्लभाष्टक में कहा है – **"स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने क्षणमपि भवतः सन्निधाने कृपातः प्राणप्रेष्ठ व्रजाधीश्वर वदनदिदृक्षार्त्ति तापो जनेषु यत्प्रादुर्भाव माप्नोत्युचित तरमिदं यतु पश्चादपीत्थं दृष्टेऽप्यस्मिन्मुखेंदौ। प्रचुरतर मुदेत्येव तच्चित्रभेतत्"** (हे स्वामिन् श्री वल्लभरूप अग्नि एक क्षण में ही आपके समीप में (आपकी) कृपा से प्राणप्रिय श्री व्रजाधीश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविंद के दर्शन की इच्छा की आर्ति भक्तजनों में प्रकट होती है। वह अत्यन्त युक्त हैं। परन्तु जो पीछे भी मुखारविंद रूप चंद्र देखने पर भी (यह आर्ति) अत्यन्त उत्पन्न हो यह आश्चर्य है। इत्यादि वचन के अनुसार आश्रय हो और इस पुष्टिमार्ग में निष्ठा हो तब सारी लीला का अनुभव हो, आश्रय और मार्ग में निष्ठा किस प्रकार हो उसका वर्णन आगे करते हैं।

मूलं – मार्ग निष्ठा न स्वबाधः किं तु तादृग्गुरुदितैः ।
गुरुदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः ।।२७।।

श्लोकार्थ – मार्ग में ज्ञान अपनी बुद्धि से नहीं होता है किंतु ज्ञानी गुरु के कहे वचनों से तथा शस्त्रों में बताये ज्ञान से प्राप्त होता है। गुरु के ग्रंथों का अनुवाद भी अपनी बुद्धि से नहीं करना चाहिए। किन्तु उनका अनुवाद बड़ों ने किया है उस अनुवाद का मनन करना चाहिए। जिससे मार्ग में निष्ठा हो।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में निष्ठा गुरु के बोध किये बिना नहीं होती है। जब गुरु प्रसन्न होकर कृपा करे तब बोध हो, तब मार्ग में निष्ठा हो। इस जीव का गुरु के वचन में दृढ़ विश्वास हो। विश्वास कर गुरु के वचन को बारंबार अर्थ सहित भावना करे, अपने मन से अर्थ भावना नहीं हो तो तादृशीय वैष्णव से मिलकर गुरु के वचन का अनुवाद करे तथा बारंबार भावना करे

मूलं – अनुवादो न स्वबुद्धया किं तु मूलक्रमागतः ।
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः ।।२८।।

बड़े शिक्षापत्र ६

श्लोकार्थ – अनुवाद अपनी बुद्धि से नहीं करना, किन्तु मूलक्रम से प्राप्त अर्थ करना। उसके पश्चात् भी इसमें अपने श्री आचार्यजी का दृढ़ आश्रय करना।

व्याख्या – गुरु के वचन का अनुवाद अपनी बुद्धि से कल्पना कर नहीं करे जो मूल क्रम से श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सुबोधिनीजी, निबंधादि ग्रंथ किये हैं, उसके भाव का विचार करे तो श्री महाप्रभुजी की कृपा से श्री सुबोधिनीजी आदि में भाव जाना जा सकता है। श्री आचार्यजी के चरणारविंद का दृढ़ आश्रय हो तब श्री आचार्यजी कृपा करे इसलिये श्री आचार्यजी के चरणारविंद का दृढ़ आश्रय कर श्री सुबोधिनीजी, निबंध में जिस क्रम से भाव है उस क्रम से अपने हृदय में भावना कर सेवा करे।

मूलं – एतादृशेन गुरुणाऽवगत्य निखिलं जनः ।
आश्रित्य च निजाचार्यान् सदानंदं सदा भजेत् ।।२९।।

श्लोकार्थ – भक्तजन ऐसे गुरु से सर्व जानकर अपने श्री आचार्यजी का आश्रय करके सदानंद रूप श्रीकृष्ण का सदा भजन करे

व्याख्या – इस भांति कोई वैष्णव गुरु की आज्ञा प्रमाण समग्र जानकर चले तो श्री आचार्यजी महाप्रभु अपना आश्रय निश्चय ही देंगे इसमें संदेह नहीं। सदा आनंद रूप **"श्री आचार्यजी हैं इस भाव से भजन करे"** और लौकिक वैदिक में आनंद तुच्छ है। सदा नहीं है। लौकिक में विषयादिसुख करने से नरक में जाय और स्वर्गादि सुख से पुण्य क्षीण होने पर संसार में पड़े। दुःखी हो। श्री आचार्यजी सदा एकरस आनंद रूप है। श्री गुसांईजी ने सर्वोत्तम जी में श्री आचार्यजी महाप्रभुजी के नाम कहे हैं – **"आनंदाय नमः"**, **"परमानंदाय नमः"** इत्यादि वचन के भाव से जानना और श्री आचार्यजी की नामावली में नाम है **"आनंदमूर्तये नमः"** यह श्री आचार्यजी का स्वरूप है। वह मूर्तिमान आनंदमय है। सदा एकरस है, इस भांति प्रेम से भजन करे वहां कोई कहे कि श्री आचार्यजी महाप्रभु के इस पुष्टिमार्ग में सारे जीव श्री आचार्यजी का आश्रय कर सेवा करते हैं और तुम कहते हो भाव से भजन करो, यह क्या ? वहां कहते हैं।

मूलं – भजनं भावरूपस्य भावेनैवोपपद्यते ।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा ह्यत एव निरूपिता ।।३०।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – भावरूप श्रीकृष्ण का भजन (सेवा) भाव करके ही प्राप्त होती है। उससे ही श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सिद्धान्त मुक्तावली में प्रभु में चित्त प्रवण (लीन) हो, ऐसी सेवा का निरूपण किया है।

व्याख्या – भजन सेवा भाव से करे क्योंकि जो भाव बिना आगे मानसी फल रूप नहीं होती है। इसलिये तनुजा–वित्तजा भाव से करे तब फलरूप मानसी सिद्ध होती है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सिद्धान्त मुक्तावली ग्रंथ में कहा है **"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता"** (सदा श्रीकृष्ण की सेवा मानसी करना उत्तम है।) सदा श्रीकृष्ण की सेवा करे उससे मानसी सेवा सिद्ध होती है। **"चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनु वित्तजा"** (चित्त प्रभु में एकाग्र हो, वह सेवा है। उसकी सिद्धि के लिये तनुजा तथा वित्तजा सेवा करनी) जैसे नदी का प्रवाह रात–दिन एक रस चले उस भांति अष्टप्रहर चित्त में मानसी (उनको साधने वाली तनुजा, वित्तजा भाव कर करे तब) सिद्ध होती है। तनुजा, वित्तजा भी भाव सहित मन लगाकर करे तब ही बनती है। जिस भांति सिद्ध हो श्री आचार्यजी ने निरूपण किया है। मानसी सिद्ध हुई यह लक्षण कैसे जानना ? वहां कहते हैं।

मूलं – तस्यां तु विस्मृतिर्भाव्या जगतः सर्वथा ध्रुवम् ।
तद्भावे मानसी तु सेवनान्नैव सिद्धयति ।।३१।।

श्लोकार्थ – इस मानसी सेवा में तो सर्वथा जगत की निश्चल विस्मृति होनी चाहिए। उसके अभाव में सेवन से मानसी सिद्ध नहीं होती है।

व्याख्या – तनुजा वित्तजा सेवा मन लगाकर करे तो सारे जगत, देह संबंधी पदार्थ की विस्मृति हो मानसी सेवा का यह भाव है जो सारे जगत को सर्वथा भुलावे यह निश्चय जानना। अपना देहानुसंधान खानपान निद्रादि सब भूल जाय, इस भांति भावाविष्ट होकर मन में सेवा कर स्वरूपानंद का अनुभव करे तब जानिये कि भावरूप मानसी सेवा सिद्ध हुई। प्रथम तनुजा, वित्तजा सेवा भी दुर्लभ है। वहां मानसी कहां से सिद्ध हो ? इसलिये उसमें बाधक है, उसको कहते हैं।

मूलं – तद्बाधकानींद्रियाणि विषया लौकिकी मतिः ।
प्रतिबंधस्तथोद्वेगो भोगोऽप्यत्रैव लौकिकः ।।३२।।

श्लोकार्थ – इन्द्रिय, विषय, लौकिक बुद्धि, प्रतिबंध तथा उद्वेग और यहां लौकिक भोग यह सब मानसी सेवा में बाधक है।

व्याख्या – तनुजा वित्तजा सेवा में मन नहीं लगता है। कारण कि दसो इन्द्रियां रूकावट डालती है। क्योंकि इन्द्रियों के देवो को लौकिक विषयभोग प्रिय हैं। सेवा के समय में वे मन को विषय की ओर खींच कर ले जाती हैं। जिससे सेवा में बाध होता है। मन में विपरीत भावना पैदा होती है। यदि सेवा में नित्य इतना समय लगाऊंगा तो घर के कार्य कैसे कर सकूंगा। विलम्ब होने पर भूख सताती है। जिससे शरीर कृश होता है। इसलिये सेवा अब शीघ्र कर लूं तो अच्छा, इस तरह की दुर्बुद्धि होने से सेवा में उद्वेग होता है। श्री ठाकुरजी अंतर्यामी होने से प्रत्येक के हृदय के भावों को जानते हैं। इस कारण ऐसे भावानुसार सेवा में प्रतिबंध उत्पन्न करते हैं। इसलिये प्रेम से सेवा नहीं होती है। धीरे–धीरे वह लौकिकासक्त हो जाता है। श्री आचार्यजी ने सेवा फल ग्रंथ में आज्ञा की है कि – **"उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः"** उद्वेग, प्रतिबंध तथा भोग ये तीन सेवा में बाधक हैं। सावधान रहकर अपना आचरण ऐसा करना चाहिए जैसे सेवा में बाधकता नहीं आवे। सेवा करने के समय इन्द्रियां विषय की ओर जाती हैं उसका समाधान अगले श्लोक में करते हैं।

मूलं – दुष्टान्नभक्षणं चापि ह्यसमर्पित भक्षणम् ।
असत्संग सर्वथा हि भाव बाधक इष्यते ।।३३।।

श्लोकार्थ – दुष्ट के अन्न का भक्षण अथवा दुष्ट (अपवित्र) अन्न का भक्षण और असमर्पित का भक्षण तथा असत्संग (दुःसंग) यह सर्वथा भाव के बाधक हैं।

व्याख्या – इन्द्रियादि विषय मन में इसलिये होते हैं कि दुष्ट प्राणी की सत्ता के अन्न का भक्षण करे अथवा दुष्ट क्रिया कर अन्न लावे, भक्षण करे तथा असमर्पित खाये तथा असत् (बहिर्मुख) का संग करे, ये तीनों सर्वथा ही बाधक कहे हैं। इसको अलग से कहते हैं। दुष्ट अन्न बहुत बाधक है। पद्मपुराण में कहा है – **"अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च। अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांस सदृशं भवेत्। अनिवेद्यं तु यो भुंक्ते हरये**

परमात्मने। पतंति पितरस्तस्यनरके शाश्वती समाः।'' (अवैष्णव का अन्न तथा पतित का अन्न तथा जो अन्न प्रभु को अर्पित नहीं किया वह श्वमांस (कुत्ते के मांस) बराबर होता है। जो हरि परमात्मा को अर्पण किये बिना खाता है उसके पितृ पितामहादि बहुत वर्ष तक नरक में गिरते हैं।) इस वचन से अवैष्णव का अन्न हो तथा पतित (चांडालादि, तेली, धोबी, नीच) का अन्न तथा असमर्पित अन्न यह कुत्ते के मांस के समान है। ऐसा अन्न खाने से इन्द्रिय बुद्धि सभी नष्ट हो जाती है। असुरवत् होती है। असमर्पित अन्न को खाने से पितृ सहित नरक में जाते हैं। इसलिये श्राद्ध भी प्रसादी अन्न से करे कूर्म पुराण में कहा है – **''अनर्पयित्वा गोविंदे यो भुक्ते धर्मवर्जितः । शुनो विष्टासमं चान्नं नीरं तत्सुरया समम् ।''** (गोविन्द को अर्पण किये बिना धर्म रहित जो खाता है वह अन्न कुत्ते के विष्ठा के समान और जल सुरा मदिरा के समान है।) इस वचन से गोविंद जो श्रीकृष्ण उनको समर्पित किये बिना जो खाता है वह सकल धर्म से रहित है। वह अन्न श्वान की विष्ठा समान है। उसको खाने वाला निश्चय ही असुर है। दुष्ट संग से असमर्पित अन्न खाय उससे एक तो दुष्ट का अन्न तथा असमर्पित तथा असत्संग ये तीनो बाधक हैं। जो दुष्ट संग है उसके करने से अन्य संबंध होता है। तब देह इन्द्रिय सब बहिर्मुख हो जाते हैं। विषय के ध्यान में तत्पर हो। इससे वैष्णव हो तो वह मन में विचार रखे। दुष्ट का अन्न असमर्पित अन्न तथा दुःसंग इनका संबंध कभी नहीं करे।

मूलं – **तस्मात्त्यक्त्वा दुष्टसंगं कृत्वा स्वाचार्य संश्रयम् ।**
तदीयजनसंसर्गे स्थित्वा मार्गे तथा गुरौ ।।३४।।
कृत्वा विषयवैराग्यं परितोषं विधाय च ।
सदानंदं सदानंदं फलप्राप्त्यै सदाभजेत् ।।३५।।

श्लोकार्थ – दुःख का त्याग करके अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु का आश्रय करके और तदीयजन के संबंध निमित्त तथा गुरु निमित्त मार्ग में स्थित हो, विषय में वैराग्य करके और संतोष कर निरंतर आनंद हो, वैसे सदानंद रूप श्रीकृष्ण का सदा भजन (सेवा) करे।

व्याख्या – दुष्ट के संग का त्याग करे, क्योंकि दुष्ट के संग से बुद्धि बिगड़े, असमर्पित खाय अन्याश्रय भी करे इसलिये दोष का मूल दुष्ट संग है उसका त्याग करे। श्रीआचार्यजी

महाप्रभु के चरणारविंद का आश्रय करे और पुष्टिमार्गीय भगवदीय का संग करे, और पुष्टिमार्गीय रीति प्रमाण मार्ग में स्थित होकर गुरु कहे उस प्रमाण क्रिया सब करे। यह पांचों प्रकार स्नेहयुक्त करे। दुःसंग का त्याग श्री आचार्यजी के चरणारविंद का आश्रय भगवदीय का संग, पुष्टिमार्ग में स्थिति, गुरु कहे उस प्रकार सेवा, ये पांचों प्रकार भगवदीय वैष्णव के लिये करना आवश्यक कर्तव्य है।

विषय में वैराग्य हो तभी सर्वधर्म बने। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** (विषयाक्रांत देह अर्थात् देहस्थ इन्द्रिय है उन जीवों के हृदय में सर्वथा हरि का आवेश नहीं है।) इस वाक्य से जिस जीव के हृदय में विषय का ज्ञान हो देह में विषय की कामना हो उसके हृदय में हरि भगवान् का आवेश सर्वथा नहीं होता है। इसलिये विषयादि देह संबंधी कार्य से वैराग्य हो और मन में संतोष हो, यथा लाभ संतुष्ट (जो भगवदिच्छा से आकर प्राप्त हो उसी में संतोष) हो। जब विषयदिक में वैराग्य हो तब ही संतोष हो और लौकिक वैदिक देह संबंधी चिंता सब छोड़कर सदा आनंद में रहे तब हृदय में संतोष हो, तब हृदय में आनंद आवे। चिंता नहीं हो तब भगवद् धर्म में मन लगे। इसीलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि"** (निवेदित है आत्मा जिनने ऐसे जो वैष्णव हैं उनको कुछ भी चिंता कर्तव्य नहीं हैं) निवेदित भक्त हैं वह चिंता नहीं करे सदा आनंद में रहे तब सदानंद रूप जो श्रीकृष्ण श्री वृंदावन में स्थित व्रजभक्त संयुक्त फलरूप ऊपर कहे हैं, उनकी सेवा सदा करे। तब सर्वोपर फल प्राप्ति होती है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र १०

अब १०वें शिक्षापत्र में लौकिक क्लेश का संबंध हो तब भी प्रभु में दोषारोपण नहीं करना। प्रभु का आश्रय नहीं छोड़ना, चातक पक्षीवत् दृढ़ विश्वास रखकर रहना, भगवान् भक्तों का हित ही करेगे, इसका निरूपण है। ऊपर कहे विषय में वैराग्य कर यथा लाभ

संतोष रख प्रसन्नता से शुद्ध ह्रदय से भगवत् सेवा करे तब फल प्राप्ति हो। श्रीकृष्णं जब फलदान देने का विचार करे तब ही संभव है। श्रीकृष्ण के मन का अभिप्राय जानने का सामर्थ्य जीव में नहीं हैं। प्रभु किस भांति कब फल देंगे इसका निरूपण अगले शिक्षापत्र में हैं।

मूलं – को वेद कीदृशः कृष्णाभिप्रायः स्वजने मतः ।
स्वानंदसिद्धये राति निजार्तिं दर्शनादिषु ।।१।।

श्लोकार्थ – जो तदीय स्वजन है उनके निमित्त श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय है। यह कौन जानता है। परन्तु प्रमेय बल से ऐसा जाना जाता है कि अपने आनंद की सिद्धि के लिये दर्शनादिक में अपनी आर्ति का दान करते हैं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण का अभिप्राय जानने का वेद का भी सामर्थ्य नहीं है। इसलिये नेति नेति कहते हैं। यद्यपि वेद भगवत्स्वरूप है भगवान् के श्वास से प्रकट हुए हैं। तथापि श्रीकृष्ण का अभिप्राय जानने में समर्थ नहीं हैं तब मैं अपनी बुद्धि से कैसे जानूंगा? तब भी श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से मैं कुछ मति अनुसार कहता हूं। वेद जो हैं वह प्रभु के बंदीजन हैं सदा गुण गाते हैं। बाहर ईश्वरता का माहात्म्य कहते हैं और मैं तो श्रीकृष्ण का दास हूं। इसलिये प्रभु की कृपा मेरे ऊपर है। श्रीकृष्ण आनंद रूप हैं। वह अपने आनंद को जब पुष्टिमार्गीय जीव का अनुभव कराने की इच्छा करते हैं, अमुक भक्त को आनंद सिद्ध करने का विचार है तब उस भक्त को श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। इसलिये यह जानना कि जो श्रीकृष्ण अपने सेवक को आनंद के दान का विचारे तब अपने दर्शन की आर्ति सिद्ध कराते हैं। उस सेवक के ह्रदय में ताप हो। श्रीकृष्ण का कब दर्शन करूंगा ? इसी में सेवा स्मरण कीर्तन सब जानना, क्योंकि इनसे प्रभु के दर्शन बिना रहा नहीं जाता। इसलिये भगवत्धर्म करने में प्रीति होती है।

मूलं – संसाररागाभावाय लौकिकार्तिं तथा पुनः ।
मदाभावाय च स्वार्तिं शरीरार्तिं प्रयच्छति ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र १०

श्लोकार्थ – संसार में स्नेह है उसकी निवृत्ति के अर्थ लौकिक आर्ति देते हैं। मद की निवृत्ति के अर्थ ज्ञाति संबंधी आर्ति अथवा धन की आर्ति तथा शरीर की आर्ति तथा शरीर की आर्ति (रोगादिपीड़ा) देते हैं।

व्याख्या – इस संसार में देह संबंधी जितना पदार्थ है। उतने में से राग छूटे तब श्रीकृष्ण कृपा करे इसलिये लौकिक आर्ति देते हैं। वह लौकिक छुड़ाने के लिये देते हैं और मद का अभाव हो। (मैं ही सर्वकर्त्ता हूं ऐसा अभिमान छूटता है) यह भी श्रीकृष्ण की कृपा से होता है। अपने शरीर की आर्ति जो दुःखादिक तथा धन की आर्ति से ही मद की निवृत्ति के लिये हैं। इसलिये यह भी श्रीकृष्ण की कृपा से जानना।

मूलं – संगाभावाय बंध्वार्त्तिं देशार्तिं दैन्यसिद्धये ।
मोहाभावाय भगवान् साधनार्तिं ददाति हि ।।३।।

श्लोकार्थ – जो बंधु बहिर्मुख (सगे संबंधी) हो उनका संग मिटाने को इनका नाश, इनसे क्लेश इत्यादि आर्ति देते हैं और दीनता की सिद्धि के अर्थ देश की आर्ति (विदेश गमन) देते हैं। तथा मोह की निवृत्ति के लिये साधन की आर्ति देते हैं। (हमारे अमुक साधन का यह फल हुआ, ऐसा मोह न पैदा हो)।

व्याख्या – संग का अभाव हो भगवदीय का संग नहीं हो तो बंधु देह संबंधी कुटुम्ब उनका क्लेश हो अथवा उनका वियोग हो तो यह विचार करे कि उनसे मेरा क्या संबंध है। मेरे आत्मसंबंधी तो भगवान् है। काम तो उनसे ही है। इस भांति विचार श्रीकृष्ण की कृपा से ही माने और देशार्ति जो अपने जहां रहते हैं कुटुम्ब घर मित्र जहां हो उस देश में दुःख हो, तब भी मन में यह जाने कि श्रीकृष्ण की कृपा से दैन्य सिद्ध हो उसके लिये यह क्लेश हैं। क्योंकि प्रभु को प्रसन्न करने का दीनता ही साधन है। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"आचार्यचरणैरुक्तं दैन्यं त्वत्तोषसाधनम्"** (श्री आचार्यजी महाप्रभुजी ने श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रंथ में कहा है कि आपको प्रसन्न करने का दैन्य साधन है) इस वचन से दीनता रूप साधन से प्रभु प्रसन्न हो। वह दीनता श्रीकृष्ण की कृपा से सिद्ध होती है और मोह का अभाव हो, श्रीकृष्ण बिना ओर स्त्री, पुत्र, पति, मित्र, घर, द्रव्य, देह, यहलोक, परलोक कहीं पर मोह नहीं हो, यह श्रीकृष्ण की कृपा से हो और भगवान् से मिलने के लिये

बड़े शिक्षापत्र

पुष्टिमार्ग की रीति के साधन भगवत्सेवा से हो और भगवान् से मिलने के लिये पुष्टिमार्ग की रीति के साधन भगवत्सेवा, स्मरण, कीर्तन, जप, पाठ भगवद् वार्तादिक हैं, वे भी भगवान् कृपा कर करावें तभी बात बने।

मूलं – प्रारब्धभोजनार्थं वा परीक्षार्थं विलम्बनात् ।
निर्वाहार्थं तथा वेदसाध्यार्थार्तिं प्रयच्छति ।।४।।

एवमार्तिप्रदानेऽपि परमानंददायिनः ।
समाश्रयो न मोक्तव्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयैः ।।५।।

श्लोकार्थ – प्रारब्ध भोग कराने के लिये अथवा परीक्षा के लिये भगवान् विलम्ब करे उससे निर्वाह के अर्थ, वैसे ही वेदसाध्य जो अर्थ हैं (स्वर्गादि) इन संबंधी आर्ति (पीड़ा) देते हैं, अर्थात् लोकवेद की असिद्धि रखते हैं। ऐसे आर्ति देने पर भी अपने श्री आचार्यजी उनके सुन्दर आश्रय वाले वैष्णव के आनंद दाता (श्रीकृष्ण) का दृढ़ आश्रय सर्वथा नहीं छोड़ना।

व्याख्या – ऊपर कहा उस प्रकार लौकिक आर्ति करा भगवत्संबंध की आर्ति जब श्रीकृष्ण कृपा करे तब होती हैं। जहां तक ऊपर ही इतनी आर्ति में दृढ़ आश्रय न रहे वहां तक परमानंद का दान नहीं हो, सारे साधन में जीव के हाथ एक भी नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही सर्वसिद्ध कर पीछे पुष्टिमार्ग के परम फल रूप परमानंद का दान करते हैं। यह आशय अपनी युक्ति से नहीं कहते हो। श्री आचार्यजी के चरणकमल का आश्रय दृढ़ कर कहते हैं कि जो सर्व श्रीकृष्ण ही करते हैं। श्री आचार्यजी नवरत्न ग्रंथ में कहते हैं, **"सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति"** (प्रभु सर्व के ईश्वर और सर्व के आत्मा है वह अपनी तथा अपने भक्तों की इच्छा से करेंगे।) इस लिये अपने तो मुख्य श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय कर लौकिक आर्ति में भी मन (चलायमान) है उसके ऊपर कहते हैं उसका प्रमाण समझकर दृढ़ आश्रय रखना, यह कर्तव्य है।

मूलं – स्वतः कृष्णः सदानंदो निजानंदं प्रदास्यति ।
तदाशयैव स्थातव्यं सर्वैश्चातक पक्षिवत् ।।६।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण सदा आनंद रूप है वह अपने भक्तों को अपना आनंद विशेष करके देंगे। इसलिये चातक पक्षी की तरह इनकी आशा में रहना।

व्याख्या – श्रीकृष्ण स्वयं ही आनंदरूप हैं। परम दयालु हैं सर्व प्राणिमात्र को आनंद देते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण अपने दास को आनंद दे वह उचित ही हैं। दास पर तो कृपा कर और अधिक दान करेगे यह निश्चय है श्रीकृष्ण का भरोसा है। श्रीकृष्ण के नाम से सारे कार्य सिद्ध हो यह श्री भागवत के द्वादशस्कंध में श्री शुकदेव ने कहा है – **"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्।।"** (हे परीक्षित! दोष के भंडार रूप कलियुग का एक बड़ा गुण है कि श्रीकृष्ण के कीर्तन से ही मुक्त बंध होकर पर को प्राप्त हो) इस वाक्य से यद्यपि कलियुग दोष रूप है तब भी श्रीकृष्ण के नाम से संसार छूट जाय, भक्ति प्राप्त हो वह भगवदियों ने गाया है – **रागबिहागरो – "करिहे कृष्णनाम सहाय । अधमता उर आनि अपनी मरत हे अकुलाय ।।१।। अधम अग्नि ते उधारे सो कहा तेरो भार । कोन उद्यम अपने निज करि सक्यो निस्तार ।।२।। नेक ऊधोकरि भरोसो बसत जाके गाम । सो क्यों ममता छांडि हेले जीवन जाको नाम ।।३।। बर विविध भुलायवो करि हरि न धरिहे लाज । तोपें गदाधर निगम आगम बकत कितवे काज ।।४।।" ऐसे प्रभु का नाम दयाल है।** वहां प्रभु दया कर अपने भक्तों को आनन्द दे वहां क्या कहना। वहां दृष्टांत देते हैं कि चातक पक्षीवत् दास विश्वास कर रहे, क्योंकि चातक पक्षी जड़ (मेघ) का स्मरण करते हैं। वह मेघ उसका मनोरथ पूर्ण करता है। श्रीकृष्ण तो परम आनंद रूप है दया कर सब करेगे।

मूलं – लौकिकार्त्तेरगणनं परमानंद चिंतनात् ।
यथा न गणयेद्रोगी तिक्तभेषजभक्षणम् ।।७।।

श्लोकार्थ – परमानंद के चिंतन से लौकिक आर्ति को नहीं गिने, जैसे रोगी कड़वी औषधी खाता है, वह रोग निवृत्ति के लिये खाता है। वैसे ही संसार की निवृत्ति के अर्थ लौकिक आर्ति को सहन करे।

व्याख्या – लौकिक देह संबंधी संसार की आर्ति कर खेद करे वहां प्रभु को चिंता नहीं हो, प्रभु के अर्थ यह जीव जब आर्ति करे तब प्रभु को चिंता हो। इसलिये वैष्णवों को लौकिक आर्ति नहीं कर्तव्य है। प्रभु की आर्ति (विप्रयोग) करे परमानंद रूप भगवान् के गुण विचार विचार अपने दोष विचार कर चिंतन करे। तब प्रभु के हृदय में दया आवे। निरोध लक्षण ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो**

यदा भवेत् । तदा सर्वं सदानंदं हृदिस्थं निर्गतं बहिः।।" (आर्तियुक्त भक्त जन को देखकर प्रभु जब कृपायुक्त हो तब हृदय में सर्व सदानंद रूप है वह बाहर निकलता है) अपने जन विप्रयोग क्लेश प्रभु जब देखते हैं तब दर्शन देते हैं। श्री भागवत् के रास पंचाध्यायी में वर्णन है कि व्रजभक्तों को मद हुआ तब प्रभु अंतर्धान होने के पीछे भक्तों को विरह करने से अत्यन्त क्लेश हुआ तब श्री ठाकुरजी कृपा करके प्रकट हुए वैसे ही इस पुष्टिमार्ग में व्रजभक्तों के भाव कर मन से क्लेश हो तब प्रभु कृपा करे उससे लौकिकार्त्ति छोड़कर प्रभु का विरह कर परमानंद का चिंतन करे तो प्रभु कृपा करे वहां दृष्टांत देते हैं – जिसको रोग हो उसको कड़वी दवाई खिलाते हैं। यद्यपि औषधी बहुत कड़वी है उसी को रोगी रोग निवृत्यर्थ प्रीति से खाता है। वैसे ही जिसका संसार रूप काम, क्रोध, मद, मत्सरादि सभी को रोग सदृश ज्ञान हुआ है। रोगनिवृत्त करणार्थ लौकिकार्त्ति को सहन कर परमानंद के चिंतन रूप औषध खाय तब प्रभु कृपा कर सारा दुःख निवृत्त करे इसलिये लौकिकार्ति छोड़कर प्रभु के विप्रयोग का चिंतन करे, तब प्रभु प्रसन्न हो।

मूलं – अहितं निजभक्तानां विदधाति हरिर्न हि ।
समस्तानां सखा स्वीयभक्तानां न कथं भवेत् ।।८।।

श्लोकार्थ – अपने भक्तों का अहित हरि सर्वथा नहीं करते हैं क्योंकि जो समस्त जगत के सखा हैं वे अपने भक्तों के सखा कैसे नहीं होंगे।

व्याख्या – श्रीकृष्ण कैसे हैं कि अपने भक्तों का अहित (बुरा) कभी नहीं करते हैं। सदा हित ही करेगे। महाभारत में भीष्म भक्त के वचन सत्य किये अपना प्रण छोड़ा। पीछे अंतसमय कृपा भी की। जैसे श्री नंदराय जी अंबिका पूजन को गये। अन्याश्रय किया। इस कारण सुदर्शन सर्प ने ग्रस लिया। पीछे प्रभु के निजभक्त हुए तब प्रभु कृपा कर सुदर्शन सर्प से छुड़ाया। वैसे ही पुष्टिमार्गीय का कुछ दोष निवृत्ति करणार्थ प्रभु दुःख दें तो मन में चिंता नहीं करनी। पीछे प्रभु हित ही करेगे। क्योंकि जो समस्त जीवों के पालनकर्ता भगवान् हैं वे अपने भक्तों के ऊपर कृपा करे इसमें क्या आश्चर्य है। निश्चय ही अपने भक्त के ऊपर कृपा करते आये हैं और अब भी करते हैं और आगे भी करेगे। इस भांति पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्रभु के गुण विचार स्मरण भजन करे यह सिद्धान्त है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१०।।

बड़े शिक्षापत्र ११

अब ११वें शिक्षापत्र में भक्तों के कर्तव्य में गुणगान, दुःख भावना (विरह) दीनता और त्याग इन चतुष्ट्य का निरूपण है। ऊपर के शिक्षापत्र में कहा है कि प्रभु अपने भक्त का अहित कभी नहीं करेगे, वे तो हित ही करेगे किन्तु भक्ति मार्ग की रीति को नहीं छोड़ना चाहिए, उसका आगे वर्णन करते हैं। भक्त को इस प्रकार रहना चाहिए –

मूलं – सर्वदा सर्वभावैकहेतुभूतेषु सर्वथा ।
श्रीमदाचार्यपादेषु स्थाप्यतां तन्मयं मनः ।।१।।

श्लोकार्थ – निरंतर सर्वभावी के मुख्य कारण रूप श्री आचार्यजी हैं। अतः उनके चरणारविंद में मन को तन्मय कर निश्चयपूर्वक स्थापन करना चाहिए।

व्याख्या – अब भगवद् भक्त के लक्षण कहते हैं। सर्वदा (सर्वकाल में) सर्व भाव के हेतु भूत श्री आचार्यजी के चरण कमल में अपने मन की स्थिति करना। एकमात्र इन्हीं के चरण कमल का दृढ़ आश्रय करना। अपने मन से तन्मय होकर करना। मन, वचन, कर्म से श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का ही आश्रय रखना।

मूलं – तत एव कृतार्थत्वं निश्चयः क्रियतां हृदि ।
आसुरत्वं विनिश्चेयमन्यत्तत्साम्यवादिषु ।।२।।

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी के चरण कमल में मन स्थापित करना, इसमें ही कृतार्थता है, ऐसा निश्चय हृदय में करना और इनके अलावा समानता जो समझता है व कहता है उसको आसुर समझना चाहिए।

व्याख्या – ऊपर जो यह कहा है कि श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल में मन रखे वह कृतार्थ रूप है। इस सिद्धान्त में किसी वादी का विश्वास नहीं हो तथा वाद करता हो उसको निश्चय ही आसुरी संपद वाला जानना चाहिए। क्योंकि यह सिद्धान्त वेद, शास्त्र, गीता, श्री भागवत् के प्रमाण से सिद्ध है। इनमें जिस का विश्वास नहीं हो वह निश्चय ही आसुर है ऐसा जानना।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – श्रीकृष्णः सर्वदा स्मर्यः सर्वलीलासमन्वितः ।
भक्तैकहृदयस्थायी सकलः पुरुषोत्तमः ।।३।।

श्लोकार्थ – सर्वलीला (वेणुगीत, युगल गीतादिक) युक्त भक्तों के हृदय में स्थित अंशकला सहित श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम का सर्वदा स्मरण करना चाहिए।

व्याख्या – श्रीकृष्ण फलात्मक, रसात्मक, भावात्मक, स्वरूपात्मक है। उनका स्मरण सदा करना चाहिए। लीला सहित, भक्तों सहित स्मरण करे क्योंकि जो रसात्मक श्रीकृष्ण व्रजभक्तों के संग अष्टप्रहर लीला करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण का स्मरण करे उससे हृदय में सदा पुरुषोत्तम स्थिर रहते हैं। यह रीति भक्त की है। जिसका ध्यान करे वह हृदय में आवे, लौकिकाविष्ट हृदय में संसार भरा हुआ है। यदि प्रभु का स्मरण करे तो प्रभु भक्त के हृदय में लीला सहित स्थित हो जाते हैं।

मूलं – गुणगानं तथा दुःखभावनं दैन्यमेव च ।
तथा त्यागः सिद्धदृशः कृत्यमेतच्चतुष्टयम् ।।४।।

श्लोकार्थ – गुण गान तथा दुःख की भावना (विप्रयोगार्ति) और दैन्य तथा त्याग (लौकिक, वैदिक आसक्ति छोड़ना) यह चारों सिद्ध दृष्टि वाले कृत्य हैं।

व्याख्या – श्री ठाकुरजी की लीला का गुणगान करे, विप्रयोग दुःख की भावना करे, दैन्य करे, उनको करके लौकिक संवेदना का त्याग करे यह चारों कृत्य अवश्य करे क्योंकि जो प्रथम गुणगान करे, उनके करने से जितने दोष होंगे उतने सब भस्म हो जायेंगे। तब अपने दोषों का स्मरण करे, अपने को तुच्छ समझे तथा प्रभु को सर्वोपरि माने। मैंने तो कुछ साधन किया नहीं, मेरे को प्रभु अंगीकार कैसे करेगे। इस भांति विचार करने से निःसाधनता की भावना मन में हो तब दीनता होती है, फिर प्रभु के बिना कुछ भी नहीं सुहाता। इसके बाद लौकिक वैदिक सबका त्याग होता है। यह चतुष्टय प्रकार है। यह पुष्टिमार्गीय साधन और फलरूप जानकर कर्तव्य है।

मूलं – गुणगानं भागवतात् सेवया दुःखभावनम् ।
तद्दैन्यभाववद्दैन्यं त्यागो विरह भावतः ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र ११

श्लोकार्थ – श्रीमद्भागवत के (मननपूर्वक) पाठ से गुणगान करना। सेवा कर दुःख की भावना करना, जो प्रथम चौरासी, दोसो बावन भक्तों (वैष्णवों) के पास प्रभु मांग मांग कर अरोगते ऐसे मेरे से कब होगा यह दुःख की भावना करना, जो दैन्य प्रभु की कृपा का कारण है, वह दैन्य भावनाओं से दैन्य सिद्ध होता है और विरह के भाव से (संन्यास निर्णय में कहा है वह) त्याग सिद्ध होता है।

व्याख्या – ऊपर श्लोक में जो चतुष्ट्य कर्तव्य बताये हैं वह किस भांति सिद्ध हो उसको कहते हैं। साधन रूप गुणगान से सर्वदोष दूर होते हैं और फलरूप से भगवान् का दर्शन सिद्ध होता है। जैसे व्रजभक्त वेणुगीत, युगलगीत गाकर निर्वाह करते हैं वैसे ही वैष्णव सेवा के अनोसर में गुणगान करे कि प्रभु की सेवा का कब समय हो। यह दुःख की भावना हो। इस गुणगान से सेवा का दुःख मन में हो। उसके करने से निःसाधनता सिद्ध होती है। कितनी ही सेवा करे परन्तु मन में इस प्रकार दुःख रहे कि सारा जन्म वृथा ही गया है। कुछ भी भगवत्सेवा नहीं बनी। यह दैन्य सिद्ध हो, इस भांति दैन्य की भावना करते करते सर्व देह संबंधी पदार्थ में त्याग उत्पन्न हो, तब शुद्ध विप्रयोग की भावना हो यही सर्वोपरि मुख्य फल है, पीछे सर्व लीला का अनुभव हो तब चतुष्ट्य प्रकार का फल होता है।

मूलं – **एतच्चतुष्टयं सिद्धं यदि नान्यदपेक्षितम् ।**
सर्वस्य मूलं सत्संगस्तद्भावे न सिद्धयति ।।६।।

श्लोकार्थ – ऊपर के श्लोक में कहा गया यह चतुष्ट्य जब सिद्ध होता है तब दूसरा कुछ इच्छित नहीं होता सबका मूल सत्संग है, उसका अभाव हो तो वह फल सिद्ध नहीं होता है।

व्याख्या – ऊपर कहा हुआ यह चतुष्टय प्रकार जिसको सिद्ध हो जाय उसको और साधन की कुछ अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिये प्रथम गुणगान करे और भगवत्सेवा कर दुःख की भावना करे दैन्यमुक्त सर्व त्याग कर विप्रयोग की भावना करे, यह फलरूप साधन सिद्ध होने के पीछे दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। यह चतुष्ट्य फलरूप पदार्थ सत्संग से सिद्ध होता है। इसलिये सब का मूल सत्संग है। भागवत के प्रथम स्कंध में शौनक का वाक्य है –

बड़े शिक्षापत्र

"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"

(भगवद् भक्त के संग के क्षण की तुलना स्वर्ग और मोक्ष भी नहीं कर सकते हैं, वहां मनुष्य के मनोरथ रूप राज्यादिक की तुलना नहीं होती है, इसमें क्या कहना।)

एकादश स्कंध में उद्धव जी के प्रति भगवान् कहते हैं –

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टात्पूर्तं न दक्षिणा ।।१।।

व्रतानि यज्ञश्छंदासि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुंधे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम ।।२।।

सत्संगेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगाः ।
गंधर्वाऽप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगृह्यकाः ।।३।।

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिन् तस्मिन् युगेऽनध ।।४।।

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ।।५।।

सुग्रीवो हनुमान् ऋक्षोगजोगृध्रो वणिक् पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ।।६।।

तेनाधीत श्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपस सत्संगान् मामुपागताः ।।७।।

अर्थ – हे उद्धव! मुझे योग वश में नहीं कर सकता है और सांख्य, धर्म, वेद पाठ, तपस्या, त्याग, अग्नि होत्रादि कर्म, कूप खनन करना, बगीचे आदि का निर्माण, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ, नियम, यम भी वश नहीं कर सकते हैं जैसे सर्वसंगों का नाश कराने वाला सत्संग वश कर सकता है।

बड़े शिक्षापत्र १२

सत्संग से ही दैत्य, यातुधान, खग, मृग, गंधर्व, अप्सराएं, नाग, सिद्ध, चारण, गृह्यक, विद्याधर तथा मनुष्यों में वैश्य, शूद्र, स्त्रियां और अंत्यज, रजतम प्रकृति वाले सब, एवं हे अनध ! निष्पापी उस युग में बहुत मेरे चरणारविंद को प्राप्त हुए हैं और वृत्रासुर, प्रह्लाद आदि वृष पर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जामवंत, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, धर्म व्याध, कुब्जा, व्रज में गोपिया, यज्ञ पत्नियां तथा अन्य जिन्होंने वेदादि शास्त्र नहीं पढ़े थे और न उपासना आदि की थी तथा व्रत, यज्ञ आदि भी नहीं किये थे तो भी केवल सत्संग से मुझे प्राप्त कर लिया था।

इन वचनों से वैष्णवों को यह समझना चाहिए कि सत्संग ही सबका मूल है। सत्संग से ही ह्रदय में तद्रूप ह्रदयारूढ़ होता है। सर्वभाव की सिद्धि होती है। अतः वैष्णव को तादृशी भगवदीय का सत्संग अवश्य शुद्ध ह्रदय से नियमपूर्वक करना चाहिए।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।११।।

बड़े शिक्षापत्र १२

अब १२वें शिक्षापत्र में श्री स्वामिनीजी के वाक्यों की भावना अहर्निश करनी उसका निरूपण करते हैं। ऊपर कहे चतुष्ट्य प्रकार सिद्ध होने के पीछे किस भांति अनुभव हो, उसका वर्णन इस शिक्षापत्र में करते हैं।

मूलं – भावनीयं सदाचित्ते स्वामिनीजल्पितं मुहुः ।
तापक्लेशैरयं मार्गः श्रीमदाचार्यरूपितः ।।१।।

श्लोकार्थ – बारंबार चित्त में श्री स्वामिनीजी के वचन (विप्रयोग दशा में हे नाथ! हा रमण! हा प्रिय! कहां हो ? हा महाभुज! आपकी मैं दीन–दासी हूं। इनको दर्शन दे दो। इत्यादि) भावनीय हैं क्योंकि यह मार्ग विरह ताप के क्लेश सहित श्री मदाचार्यजी ने निरूपण किया है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के विप्रयोग में श्री स्वामिनीजी इस प्रकार बार बार जल्पना करती है। इस भांति पुष्टिमार्गीय भगवदीय चित्त में भावना करे उसको प्रेमामृत में कहा है – **एकदा कृष्णविरहाद्ध्यायंती प्रियसंगमम्। मनोबाप्पनिरासाय जल्पतीदं मुहुर्मुहुः ।।** एक दिन श्रीकृष्ण के विरह से प्रिय संगम का ध्यान करती श्री स्वामिनीजी के हृदय के अश्रु निकालने के लिये बारंबार ऐसे शब्द करते हैं। श्री स्वामिनीजी श्रीकृष्ण के मिलन के लिये विप्रयोग कर बारंबार जल्पना करती है। यह सर्वोपरि है। वैसे ही यह पुष्टिमार्ग तापक्लेश रूप है। क्योंकि जो श्री स्वामिनीजी के ताप क्लेश भावात्मक श्री महाप्रभुजी है इसलिये इनने प्रकट किया। पुष्टिमार्ग तापक्लेश रूप है। उसी से ताप क्लेश करके इस मार्ग की फलसिद्धि है। इसलिये विरह कर श्री स्वामिनीजी जिस प्रकार भाव सहित अनुभव करती है, उस भाव की भावना करनी। श्री स्वामिनीजी की भावना का स्वरूप आगे कहते हैं।

मूलं – दर्शनं देहि गोपीश ! गोकुलानंददायकः ।
गोविंद ! गोपवनिताप्राणाधिप ! कृपानिधे ! ।।२।।

श्लोकार्थ – हे गोपीजन के ईश ! हे गोकुल (धेनुकुल अथवा भक्तकुल) को आनन्द देने वाले ! हे गोविन्द ! हे व्रज भक्तों के प्राणपति ! हे कृपा के भंडार ! दर्शन देओ !

व्याख्या – श्री स्वामिनीजी कहती हैं कि हे गोपीजन के ईश ! हमको दर्शन देओ क्योंकि तुम गोपियों के पति–ईश–राजा हो इसलिये अपने प्रजा को दुःख नहीं देकर सुख ही देते हो। यह मर्यादा है। वैसे ही हे श्रीकृष्ण ! हम तुम्हारी प्रजा हैं इसलिये हमको दर्शन देओ, और तुम गायों के कुल के आनंददाता हो। गायें भी तुम्हारे दर्शन बिना व्याकुल हैं इसलिये गायों को दर्शन दो, तथा वन में गायों को चराकर आनंद दिया। अब शीघ्र पधारकर हमको आनंद दो क्योंकि जो तुम गोविंद हो। गायों के इन्द्र हो। इन्द्र अपने भोग में आसक्त बहुत हैं वैसे तुम व्रजभक्तों को सुख देओ। क्योंकि जो गोप वनिता के प्राण के अधिपति हो। तुम्हारे दर्शन के मिलने से गोपवनिता जीवित है। ऐसे श्रीकृष्ण कृपानिधि हमको शीघ्र दर्शन देओ। इस भांति श्री स्वामिनीजी लीला सहित प्रभु के नाम लेकर विलाप करती है।

मूलं – गोपाल ! पालितव्रज ! निजव्रजसुखांबुधे ।
परमानंद नंदादिरुचिरोत्संगलालित ! ।।३।।

बड़े शिक्षापत्र १२

श्लोकार्थ – हे गोपाल ! (गायों के पालनकर्ता) हे व्रजभक्तों के पालनहार ! हे अपने व्रज अथवा अपने भक्तों के समूह के सुख के समुद्र ! हे परम आनंदरूप ! हे नंदरायजी आदि के रुचिर गोद में खेलने वाले ! (हमको दर्शन दे दो यह पूर्व श्लोक का संबंध पन्द्रहवें श्लोक तक चलेगा)।

व्याख्या – हे गोपाल ! तुम गायों के पालनकर्ता हो और यह व्रज तुम्हारा है। उन सभी का पालन कर सारे व्रज के सुखदाता हो, ऐसे सुख के समुद्र ! हमको सुख दो, तुम परमानंद रूप हो, तुमको नंद यशोदादि उत्संग में लेकर लालन–पालन करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण ! हमको दर्शन देओ।

मूलं – सदानंद निजानंदसमुदायप्रदायकः ।
दामोदर ! दयार्द्रार्द्र ! दीनानाथ ! दयापर ! ।।४।।

श्लोकार्थ – हे सदा आनंद रूप ! हे निजभक्तों को आनंद समुदाय के देने वाले ! हे दामोदर ! (भक्त वश्य) हे दया करके जो आर्द्र है उनके ऊपर आर्द्र ! हे दीनता को प्राप्त भक्तों के चारों ओर के नाथ ! (रक्षक) हे दयापर !

श्लोकार्थ – हे श्रीकृष्ण ! तुम तो सदा आनंद रूप हो, व्रज में समुदित जीव मात्र के आनंद दाता हो, और श्री यशोदाजी ने दाम, उदर से बांधा है। ऐसे भक्तों के वश हो। दया कर तुम्हारा ह्रदय आर्द्र है और दीनानाथ हो। जो अतिदीन भक्त हो (जिनके कोई नहीं) उनके तुम हो और दयापर हो, सर्व पर तुम्हारी दया है। हे श्रीकृष्ण ! दयाकर हमको दर्शन देओ।

मूलं – पुरुषोत्तम ! सर्वांगरुचिर ! प्रेमपूरित ! ।
अनंगरूपपरम ! प्रिय ! गोपवधूपते ! ।।५।।

श्लोकार्थ – हे पुरुषोत्तम ! हे सर्व अंग में सुन्दर ! हे प्रेम पूरित ! हे कामदेव के समस्त रूप से उत्कृष्ट ! हे प्रिय ! अथवा हे गोपवधू के पति !

व्याख्या – हे पुरुषोत्तम ! सब से पर ऐसे सर्वोपर तुम्हारे सर्वअंग रुचिर है। जिस अंग का दर्शन होता है वहां नयन लगे रहते हैं। उसको भगवदीय ने गाया है। **रागनट – "रूप देखि नेना पलक लागे नहीं । श्री गोवर्धनधर के अंगअंगपर निरखि नेन मन रहत**

तहिं'' इस भांति सर्वांग रुचिर हो, प्रेम से पूरित हो, सर्वांग में प्रेमरस भर रहा है। आधि दैविक अनंग रूप परम सुन्दर हो। गोपीजन को तुम परम प्रिय हो। तुमको गोपीजन परम प्रिय है। गोपवधू के पति तुम ही हो। जैसे भूंजाअन्न खेत में डालें तो पैदा नहीं होता है। देखने में अन्न है वैसे ही गोप है। उनकी वधूओं के पति तुम ही हो। ऐसे श्रीकृष्ण हमको शीघ्र दर्शन दो।

मूलं – व्रजावलंबसुकटे ! लंबकेश ! कलानिधे ! ।
विरहार्त्तिहर ! स्वीयमनोहरणतत्पर ! ।।६।।

श्लोकार्थ – हे व्रज के आलंबन सुन्दर कटि वाले ! हे लंबायमान केश वाले ! हे कला के निधि रूप ! हे विरह की आर्ति को हरने वाले ! हे स्वीय (अपने भक्तों के) मन को हरने में तत्पर !

व्याख्या – व्रज के अवलंब तुम ही हो, सारा व्रज तुहारा आश्रय लेकर तुमको ही जानता है। तुम्हारे केश बड़े लम्बे, कुटिल हैं, मानो मधुप पंक्ति आ रही है। कलानिधि हो, सूर्य में षोडश कला है, उनका इतना प्रताप है तो तुम तो कला के निधि हो। इसलिये तुम्हारे प्रताप गुण का कहां तक वर्णन करें। इसमें किसी की सामर्थ्य नहीं है। अपने स्वीय (निज) भक्तों की आर्ति के हरण करने वाले और अपने सुंदर मुख श्रीअंग दिखाकर अनेक लीला कर समस्त व्रजभक्तों के मन का हरण करने में परायण ऐसे श्रीकृष्ण ! हमको शीघ्र दर्शन दो।

मूलं – मनोविनोद ! भावाब्धे ! भाववद् हृदयस्थित ! ।
चंचलीकृतचित्त ! स्वभावांदोलितरूपधृक् ! ।।७।।

श्लोकार्थ – हे मन के विनोद रूप ! भाव के समुद्र ! और भाव वाले के हृदय में विराजने वाले ! तथा भक्तों का चंचल किया है चित्त जिनने और अपने भक्तों के भाव कर आंदोलित रूप को धारण करने वाले ! ।

व्याख्या – व्रजभक्तों के मन का विनोद एवं आनंद उसके दाता तुम ही हो। तुमसे ही व्रजभक्त आनंद पाते हैं। आप भाव के समुद्र हो। जिस भाव से भजे वही सिद्ध हो। कोई भी आपके भाव का पार नहीं पा सकता है। जगत में सारे भाव हैं वे तुम्हारी कणिका रूप

है। तुम भाव के समुद्र हो और भाव से ही भक्तों के हृदय में स्थिर हो। जिस भक्त के हृदय में जो भाव है वहां उसी रीति से विराजते हो। अपने भक्तों के चित्त को चलायमान करते हो। आप ही चंचल हो, कोई भक्त गृह के कामकाज करता हो, वहां से चित्त को चलाकर अपने मन में लगाते हो। भाव से सर्वांग भरे हो। अपने भक्तों का जो–जो भाव रस है वह तुम्हारे स्वरूप में भर रहा है। ऐसे श्रीकृष्ण मेरे को कब दर्शन दोगे।

मूलं – महामुग्ध ! सदादुग्धपानतत्परमानस ! ।
नवनीतालिप्तमुख ! पयोबिन्दुयुताधर ! ।।८।।

श्लोकार्थ – हे महामुग्ध ! हे सदा दुग्धपान में तत्पर मन वाले ! हे नवनीत से चारों ओर लिप्त मुख वाले ! हे दुग्धबिंदु कर युक्त अधर वाले !

व्याख्या – अपने निज भक्तों में महामुग्ध हो, आप कुछ ज्ञान रखते नहीं, जो भक्त कहे वही करते हो, सदा दुग्धपान में तत्पर हो, मन से क्षण क्षण में श्री यशोदाजी के स्तन के दुग्ध पान करने में तत्पर हो, तथा व्रजभक्त दूध संवार कर देते हैं, उसके पान में तत्पर हो। मन भी उसी में हैं। मुख पर नवनीत लिपट रहा है। उससे परम अद्‌भुत शोभा हो रही है। दूध की बूंद अधर में लग रही है। उससे अधर शोभायमान है। ऐसे श्रीकृष्ण हमको दर्शन दो।

मूलं – अलकावृतवदन ! मदनाधिकसुंदर ! ।
कपोलविलसद्राग ! कस्तूरीतिलकांचित ! ।।९।।

श्लोकार्थ – हे अलक से व्याप्त वदन वाले ! हे कामदेव से अधिक सुंदर ! हे कपोल में शोभित रंग वाले ! हे कस्तूरी के तिलक से पूजित !

व्याख्या – सुन्दर अलकों से आवृत्त ऐसा वदनकमल है और सारा श्री अंग काम से अधिक सुन्दर है। कोटि काम सुन्दरता पर वारने के लिये किये हैं। दोनों कपोलों पर कमल पत्र में लाल कुंकुमादिराग से सुन्दर है और कस्तूरी का तिलक भाल में विराजमान है। ऐसे श्रीकृष्ण हमको कब दर्शन देंगे।

मूलं – सिंजन्नूपुरशोभाढय ! नखभूषणभूषित ! ।
सघोषसूक्ष्मसुकटिविलसत्क्षुद्रघंटिक ! ।।१०।।

श्लोकार्थ – हे शब्दायमान नूपुर की शोभा से युक्त ! हे नख के भूषण से शोभित ! हे शब्द सहित सूक्ष्म कटि में शोभित क्षुद्र घंटिका वाले।

व्याख्या – दोनों चरण कमल में स्वर्ण नूपुर से शोभा की आढ्यता से ऐसी शोभा त्रिलोकी में नहीं हैं। दसो नख पर नखभूषण सहित नखावलि विराजित है। वह कोटि सूर्य की कांति को लजाती है। सूक्ष्म कटि पर क्षुद्र घंटिका विलास कर रही है। उससे बारंबार सुन्दर शब्द होता है। ऐसे श्रीकृष्ण ! हमको कब दर्शन देंगे।

मूलं – राजदहृदयवैयाघ्रनखभूषणभूषित ! ।
कंजलोचनलोलाक्ष ! विशालाक्षविलक्षण ! ।।११।।

श्लोकार्थ – हे शोभायमान बघनखा के भूषण से भूषित ! हे कमल के समान चपल नेत्र वाले ! हे विशाल नेत्र से विलक्षण !

व्याख्या – हृदय के ऊपर बाघ का नख सुवर्ण से जटित कर नखभूषण श्री यशोदाजी ने पहनाया है। जिससे मेरे पुत्र को किसी की दृष्टि नहीं लगे। वक्षः स्थल में नखभूषण शोभित है। नयन कमल समान अति सुन्दर तथा चंचल है। जैसे कमल शीतल हैं, ताप हारक हैं, वैसे ही श्री ठाकुरजी के नेत्र कमल सारे भक्तों के हृदय के तापहारक हैं और नेत्रों से अनेक भक्तों को रसदान करते हैं, संकेत सूचन करते हैं। ऐसा करने से नयन चंचल हैं। नेत्र कमलवत् बड़े विशाल हैं। घूर्णायमान आरक्त विलक्षण है, उसकी उपमा किसी से कही नहीं जा सकती है। अर्थात् अनिर्वचनीय है। ऐसे श्रीकृष्ण हमको कब दर्शन देंगे।

मूलं – दीनैकशरण ! स्वीयसर्वसामर्थ्यसंयुत ! ।
व्रजराजसुत ! स्वीयजननीकंठभूषण ! ।।१२।।

श्लोकार्थ – हे दीन के मुख्य आश्रय स्थान ! हे अपने सर्व सामर्थ्य से संयुक्त ! हे नंदराय जी के पुत्र ! हे अपनी माता श्री यशोदाजी के कंठ के आभूषण रूप !

व्याख्या – जो दीन है निजभक्त के शरण है, अपने स्वीयभक्त दीन हो शरण रहे हैं। उनकी सर्वभांति प्रभु रक्षा करते हैं। क्योंकि श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्य युक्त हैं। श्री भागवत के

बड़े शिक्षापत्र १२

नवमस्कंध में भगवान् दुर्वासा के प्रति कहते हैं – **"ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्त मिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ?"** जो स्त्री, गृह, पुत्र, आप्त, प्राण, द्रव्य, यहलोक और परलोक को छोड़कर मेरे शरण आये उनको छोड़ने का मैं कैसे उत्साह करूं। इस वाक्य से श्री ठाकुरजी ने कहा कि जो ऐसे भक्त स्त्री, घर, पुत्र, प्राण, वित्त, सर्व मेरे को समर्पण कर एक मेरे शरण होकर रहे, उनको छोड़ने की इच्छा कैसे करूं ? मैं उनकी अष्टप्रहर ही रक्षा करता हूं। इसलिये दीन होकर जो भक्त शरण है उनकी रक्षा प्रभु स्वयं ही करते हैं। श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्य युक्त हैं। व्रजराज जो श्री नंदरायजी के उनके पुत्र अपनी स्वीय जननी श्री यशोदाजी के कंठ के भूषण हैं, ऐसे श्रीकृष्ण हमको दर्शन कब देंगे ।

मूलं – हा कृष्ण ! हा सदानंद ! हा वृन्दावनभूषण ! ।
हा नंदरायतनय ! हा यशोदांकखेलन ! ।।१३।।

श्लोकार्थ – हा फलात्मक ! हा सदा आनंदरूप ! हा वृंदावन के भूषण ! हा श्री नंदरायजी के पुत्र ! हा श्री यशोदाजी के अंक में खेलने वाले।

व्याख्या – हा कृष्ण ! श्रीकृष्ण नाम फलात्मक है सर्व वेद स्मृति का सार जो व्रजभक्त श्रीकृष्ण इस नाम का स्मरण जप करता है उसी से श्री आचार्यजी महाप्रभु ने अष्टाक्षर – पंचाक्षर में यही सर्वोपरि श्रीकृष्ण ही को शरण बताया है। विरहकारी हा कृष्ण ! कहे, हा सदानंद ! तुम तो सदा आनंद रूप एक रस हो, हमको आनंद दो, हा वृंदावन भूषण ! श्रीकृष्ण ! तुम तो श्री वृंदावन से एक क्षण भी बाहर नहीं जाते हो। क्योंकि उसके भूषण रूप हो। हा श्री नंदरायजी के पुत्र ! हा श्री यशोदाजी के अंक में खेलने वाले, ऐसे श्रीकृष्ण हमको दर्शन दो।

मूलं – हा गोपिकेश ! हा नाथ ! हा गोकुलपुरंदर ! ।
हा हा व्रजजनार्तिघ्न ! हा हा निःसाधनाधिप ! ।।१४।।

श्लोकार्थ – हा गोपिका के ईश ! हा नाथ ! हा गोकुल के इन्द्र ! हा हा व्रजजन की आर्ति को हरने वाले ! हा हा निःसाधन जन की अधिक रक्षा करने वाले !

व्याख्या – हा गोपीजन के ईश राजा ! हा नाथ ! तुम तो हमारे नाथ हो इसलिये हमारी रक्षा शीघ्र करो। जैसे रास पंचाध्यायी में विरह कर भक्त कहते हैं – **"हा नाथ ! रमण ! प्रेष्ठ ! क्वासि ! क्वासि ! महाभुज ! । दास्यास्ते कृपणाया मे सखे ! दर्शय सन्निधिम्"** हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रिय ! हा महाबाहो ! कहां हो ? कहां हो ? आपकी दीनदासी मैं हूं उसको दर्शन दो, वैसे ही यहां कहे हा नाथ ! हे गोकुल के पुरंदर ! जैसे इन्द्र एक क्षण भी भोग नहीं छोड़ता है। वैसे तुम गोकुल के इन्द्र होकर क्यों बैठ रहे हो। हमको आनंद दो। व्रजजन के आर्ति हरणहार ! तुम व्रजभक्तों के दुःख कभी नहीं सहते हो। क्योंकि जो इन्द्र यज्ञ छोड़ गिरिराजजी का पूजन यज्ञ किया। तब इन्द्र ने सारे व्रज को डुबोने को मेघों को भेजा। गोवर्धन को उठाकर सारे व्रज की रक्षा की। अब विरह समुद्र में डूबते हैं उससे निकालने में तुम ही समर्थ हो। इसलिये शीघ्र यह आर्ति हरो और तुम कैसे हो, निःसाधन भक्तों के अधिपति हो। हम विरहकर के व्याकुल हैं। देह, इन्द्रिय, मन सारा शिथिल हो रहा है। साधन से रहित हैं। हमको दर्शन देकर आर्ति हरो।

मूलं – हा हा नंदादिसर्वस्व ! हा हाऽनंगनवांकुर ! ।
हा निरालंबनालंब ! हा हांऽधलकुटिप्रिय ! ।।१५।।

श्लोकार्थ – हा हा श्री नंदरायजी आदि के सर्वस्व। हा हा कामदेव के नवीन अंकुर रूप ! हा आलंबन (आश्रय) रहित के आलंबन रूप ! हा हा अंध के भकुटिवत् प्रिय !

व्याख्या – नंदादि, गोप, गोपी, सखा, गाय, सर्व के तुम एक ही सर्वस्व हो। तुम बिना सारे पदार्थ तुच्छ हैं। एक तुम ही सर्व के जीवन प्राण हो और तुम अनंग जो कामदेव उसके नवांकुर हो। अनंग रूप वृक्ष में नूतन अंकुर रूप आप प्रकटे हो। साक्षात् मन्मथ के मन्मथ हो, कामदेव भी तुमको देखकर मोहित हुआ तो हम सभी मोहित हों, इसमें क्या कहना ? जिसके कुछ भी अवलंब नहीं है उनके तुम ही अवलंब हो। यह कहकर यह जताया है कि सभी जगह आश्रय छोड़कर एक श्रीकृष्ण का ही आश्रय करो। तब प्रभु आश्रय देते हैं। इसलिये निरालंब के अवलंब श्रीकृष्ण हैं। जैसे अंधे को लकड़ी प्रिय है, उसका ही अवलंब है। वैसे हमारे तुम प्रिय हो, अवलंब हो। तुम्हारे ही अर्थ सारी क्रिया करते हैं। इस भांति समस्त श्री स्वामिनीजी विप्रयोग करती हैं।

मूलं – एवंविधानि सततं जल्पितानि मुहुर्मुहुः ।
अवगत्य च भावेन भावनीयान्यहर्निशम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – ऐसे श्री स्वामिनी जी जल्पना करते हैं। बारंबार भाव जानकर अहर्निश उनकी भावना करना।

व्याख्या – इस प्रकार निरंतर श्री स्वामिनीजी बारंबार जल्पना करती हैं। तब श्री ठाकुरजी पधारकर समस्त स्वामिनीजी को दर्शन देकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसमें ६४ नाम कहे हैं। उनका अभिप्राय यह है कि प्रभु चार यूथ के पति हैं। एक एक यूथ के श्री स्वामिनीजी षोडश षोडश नाम षोडश शृंगारात्मक रस का अनुभव लीला सहित करते हैं। इसलिये चौंसठ नाम कहे हैं। अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि तुम इस भांति श्री स्वामिनीजी के विरह भाव की भावना अहर्निश करो तब श्री स्वामिनीजी की कृपा से हृदय में भाव स्थित होगा तब प्रभु अपना अनुभव करायेंगे। यह सिद्धान्त सर्वोपरि है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१२।।

बड़े शिक्षापत्र १३

अब १३वें शिक्षापत्र में सभी से चित्त को निवृत्ति कर एक प्रभु के चरित्र में निरुद्ध कर, पूर्व शिक्षापत्र में कहा है उस रीति से भावना करनी चाहिए। यह निरुपण है। ऊपर कहे अनुसार इस प्रकार विप्रयोग करे तो श्री स्वामिनीजी की कृपा से भावसिद्ध हो। परन्तु यह काल महाकठिन है। सत्संग नहीं हैं। दुःसंग बहुत है। सभी की बुद्धि भ्रष्ट है। इत्यादि विप्रयोग के बाधक दोष का विचार कर दीनता करे तब प्रभु प्रसन्न हो। वह उपाय कहते हैं।

मूलं – कालः करालः समुपागतोऽयं मतिं सतां द्रागहरत् समस्ताम् ।
श्री वल्लभाचार्यसमाश्रितानां यः कालकालः शरणं स एव ।।१।।

श्लोकार्थ – यह काल महाकराल आया है। समस्त सत्पुरुष की मति को शीघ्र हरण करता है। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु का आश्रय करने वाले को काल के कालरूप

प्रभु ही शरण है। (इसलिये जो श्री मदाचार्यजी के शरण आये उनको काल प्रतिबंध नहीं कर सकता है)

व्याख्या – यह काल महाकराल कठिन है। सत्पुरुष की मति का हरण कर लेता है और जीव की तो गति ही क्या है ? इसलिये इस कलियुग ने अपने बल से सर्वजीव की बुद्धि हर ली है। वहां कोई कहे किं किसी को छोडा है ? ऐसी शंका के समाधान में श्रीहरिरायजी कहते हैं कि श्रीआचार्यजी महाप्रभु का आश्रय तन, मन, धन से करते हैं, उनको काल बाधा नहीं करता है। प्रत्युत उनका सहायक होता है। थोड़े दिन में फलसिद्ध होने की रीति एकादश स्कंध में कही है – **"कायेन वाचा मनसेंद्रियैर्वा बुद्धयात्मनावानुसृत स्वभावात् । करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्"** (शरीर से, वाणी से, मन से व इन्द्रियों से आत्मा के अथवा अपने स्वभाव से जो जो करते हैं वह नारायण के लिये अर्पण करे)। इस भांति श्री आचार्यश्री द्वारा प्रभु को समर्पित करने के पीछे निश्चिंत होकर श्री आचार्यजी महाप्रभु का आश्रय करके रहते हैं, उनको काल बाधा नहीं करता है। द्वादश स्कंध में श्री शुकदेवजी कहते हैं – **"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्"**।। (हे परीक्षित ! दोष के निधि रूप कलियुग का एक बड़ा गुण है जो श्रीकृष्ण के कीर्तन से ही बंधमुक्त होकर पर को प्राप्त हो) यद्यपि हे राजन् ! कलियुग यह काल दोष का निधि है। परन्तु इसमें एक महान गुण है कि जो श्रीकृष्ण के नाम का कीर्तन करते हैं, उसके सभी दोष छूटकर प्रभु को पाता है। इसलिये श्री आचार्यजी प्रकटित भाव जिस वैष्णव को हुआ उनको यह कलि परम सुन्दर है।

मूलं – न सेवा न कथा नैव भावनं नापि संश्रयः ।
नित्यमुद्विग्नमनसा कथं कालः प्रयास्यति ।।२।।

श्लोकार्थ – जिनको सेवा नहीं, कथा नहीं, भावना भी नहीं और सम्यक् प्रकार से आश्रय नहीं है। ऐसे का नित्य उद्विग्न मन वाले का काल कैसे व्यतीत होगा ?

व्याख्या – मुख्य पुष्टिमार्ग की रीति से जो भगवत्सेवा भी नहीं करता है तथा श्री आचार्यजी के ग्रंथादिक की कथा सुनने से भगवद् धर्म ह्रदय में आवे, इस कारण कथा भी नहीं सुनता है, कोई अकेला हो, द्रव्यादिक की सहायता नहीं हो, अंगरोधी हो उससे

भगवत्सेवा नहीं हो, किसी भगवदीय के पास से कथा सुने। परंतु भगवदीय ही नहीं मिले तो मन से ही प्रभु के नाम अष्टाक्षर शरण मंत्र की भावना मन में विचारे यह भी नहीं हो तो लौकिक वैदिक सुख–दुःख सर्व छोड़ एक श्री आचार्यजी के ही चरण कमल का आश्रय रखे। इस भांति कभी भगवत्धर्म में मन नहीं लगावे और देह संबंधी संसाराग्नि में (सुख दुःख करके) जले अष्टप्रहर सुख–दुःख में हाय हाय करे, उनको यह काल बाधा ही करता है। वहां कोई कहता है कि कलि के दोष बहुत हैं सेवा और कथा से क्या हो ? वहां कहते हैं कि नवम स्कंध में दुर्वासा के प्रति भगवान् आप कहते हैं – **"मतसेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छंति सेवया पूर्णाः कुतोन्यत्कालविप्लुतम्"** (मेरी सेवा करके साक्षात् प्राप्त हुई सालोक्यादिक चतुर्विध मुक्ति को भी मेरे भक्त इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि जो सेवा से पूर्ण हैं वह कालादिक से नष्ट होने वाले ऐसे राज्यादिक की इच्छा कैसे करे ?) इस विषय में भगवान् कहते हैं कि जीव को मेरी सेवा से प्रतीत प्राप्त जो सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य, चारों प्रकार की मुक्ति की भी इच्छा नहीं है ऐसे सेवा से पूर्ण है उनका काल भी क्या कर सकता है ? मेरी भी नहीं चलती है। भगवान् की कथा कैसी है – **"तस्माद्‌गोविंदमाहात्म्यमानंदरससुन्दरं । शृणुयात् कीर्त्तयेन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः ।।"** (कर्णरूप रंध्र से अपने भक्तों के भाव कमलात्मक हृदय प्रति प्रविष्ठ श्रीकृष्ण मल को मिटा देते हैं। शरद ऋतु जैसे जल के मल को मिटाता है। इस वाक्य से श्री ठाकुरजी की कथा रूप सुंदर अमृत का नित्य कर्ण द्वारा पान करते हैं। वे कृतार्थ हैं) उनके कर्ण रंध्र द्वारा श्री ठाकुरजी की कथा रूप अमृत हृदय में जाता है उनके सारे दोष हृदय से दूर होते हैं। कथा कहे, सुने, अनुवाद करे, ये तीनों जीव कृतार्थ होते हैं। जैसे गंगाजल लावे वह, तथा लाने वाला एवं आसपास के सभी पवित्र होते हैं। वैसे कथा है। इसलिये भगवद् धर्म में मन हो उसका यह काल बाधक नहीं है और सभी को बाधक है।

मूलं – सत्संगो दुर्लभो दुष्टसंगः संचितनादृते ।
अनायासेन संसिद्धः का गतिर्मे भविष्यति ।।३।।

श्लोकार्थ – सत्संग दुर्लभ है और दुःसंग विना विचारे विनाश्रम अच्छी तरह से सिद्ध होता है। इसलिये मेरी क्या गति होगी।

व्याख्या – सत्संग तो महादुर्लभ है। यह जीव तो स्वभाव से ही दुष्ट है इसलिये दुष्ट संग बिना चिंतित ही स्वयं बिना यतन दश दिशा से आता है। वह जीव को भगवद् धर्म में लगने नहीं देता है। दुष्ट संग का गंध भी बाधक होता है। तब दशों दिशा से दुःसंग होकर बाधक हो उसमें क्या कहना ? श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"अहं कुरंगी दृग्भंगीनांगी कृतोस्मियत् । अन्यसंबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते"।।** (जिसमें हरिणी की दृष्टि जैसी चपल दृष्टि वाले व्रजभक्तों के संग श्रीकृष्ण का अंगीकृत हो उससे अन्य गंध संबंध की गंध भी मेरी कंधार को ही दुःख देते हैं) इस भांति अन्य संबंध के गंध से गला कटे ऐसी प्रभु की आज्ञा है और मेरे तो दश दिशा से दुष्टसंग विना चिंतन (बिना विचारे ही) आता है। इसलिये मेरी अब क्या गति होने वाली है वह मेरे को मालूम नहीं पड़ती है।

मूलं – संग्राहयितुमखिलं तैः क्रीडयितुमेव च ।
शकलीकर्त्तुमधुना प्रभोबालचिकीर्षितम् ।।४।।

श्लोकार्थ – समग्र चराचर वस्तु का संग्रह करने का और इनके संग क्रीड़ा करने का ही तथा अब सभी को भिन्न करने का प्रभु की बाल क्रीड़ा करने की इच्छा है। (यह कौन जाने ?)

व्याख्या – ऊपर कहा है कि जो दुःसंग हो संसारी लोक अहंता ममता से भरे हैं उनको ग्रहण कर पास रख ऐसे खिलौनों से खेलता हूं, संसारी से अष्टप्रहर मिलाप है इसमें मैं क्या करूं ? जगत में ऐसे ही मनुष्य मेरे को मिलते हैं। हे प्रभु ! आधुनिक जीव को तो तुम ही नचाते हो। काष्ठ की पुतलीवत् डोरी तुम्हारे हाथ हैं, सारे यंत्र हैं, तुम यंत्री हो, जिस भांति बजाते हैं वैसे ही बजती हैं। तुम तो बालक की तरह क्रीड़ा करते हो सहज में हम तथा सारा जगत् यह माया से घूमता है। इस भांति कहकर अब अपने ऊपर कृपा करने की प्रार्थना दीनता से करते हैं।

मूलं – हा नाथ ! हा कृपानाथ ! गोपीनाथ ! दयानिधे ! ।
व्रजनाथ ! रमानाथ ! निजनाथ ! जगतपते ! ।।५।।

श्लोकार्थ – हा नाथ ! हा कृपानाथ ! गोपीजन के नाथ ! दया के निधि ! व्रज के नाथ ! लक्ष्मी के नाथ ! अपने भक्तों के नाथ ! और जगत के पति ! (हमारे ऊपर दया करो, ऐसी

प्रार्थना आठ श्लोकों में हैं। वहां २ समस्त संबोधन का संबंध है।)

व्याख्या – हा नाथ ! हमारे तुम नाथ हो, स्वामी हो, इसलिये तुम बिना हम और किसको सुखःदुःख कहे ? अब इस संसार का दुःख और नहीं सहा जाता है। तुम अपने जान दया करो। हा कृपानाथ ! तुम आगे से आगे जीवों पर कृपा करते आये हो इसलिये अब हम पर भी कृपा करो। क्योंकि तुम गोपीजन के नाथ हो, गोपीजन निःसाधन हैं। हम पर कृपा करो और तुम व्रज के नाथ हो। कंस संबंधी अनेक दैत्य आये उन सबको मारे। अग्नि से, जल से, कालियके विष से, सर्व प्रकार अपने व्रज की रक्षा ही की। वैसे हमारी रक्षा करो। लक्ष्मी नाथ हो, ऐसे प्रभु हम पर प्रसन्न हो और अपने निज भक्तों के नाथ हो। भक्त प्रसन्न रहे, सुखी रहे वही करते हो। श्री भागवत के नवम स्कंध में दुर्वासा के प्रति भगवान् ने कहा है – **"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज ! । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैभक्तजन प्रियः"** (हे विप्र ! परतंत्र हो वैसे मैं भक्तों के पराधीन हूं। और साधु मेरे भक्त हैं। उनने मेरा हृदय ग्रहण कर लिया है। इसलिये भक्त ही प्रिय है जिनको ऐसा मैं हूं) मैं भक्तों के पराधीन हूं, स्वतंत्र नहीं हूं। हे विप्र ! भक्तजन मेरे को बहुत प्रिय है। मैं भक्तों के हृदय में सदा रहता हूं। इस भांति तुम अपने निजभक्तों के नाथ हो। इसलिये दया करो। जगत के पति हो, सारे जगत में तुम्हीं करते हो वही होता है। इसलिये तुम कृपा करोगे तब यह काल हमको निश्चित ही दुःख नहीं देगा।

मूलं – गोकुलाधीश ! गोपीश ! व्रजाधीश ! व्रजप्रिय ! ।
व्रजानंद ! निजानंद ! गोकुलानंद ! गोप्रिय ! ।।६।।

श्लोकार्थ – गोकुल के अधीश ! गोपीका के ईश ! हे व्रज के अधीश ! हे व्रज हे प्रिय जिनको ऐसे ! हे व्रज के आनंद रूप अथवा व्रज में है आनंद जिनको ऐसे ! हे अपने भक्तों के आनंद रूप ! हे गायों के कुल के अथवा समस्त इन्द्रियों के आनंद रूप ! हे गायें प्रिय जिनको ऐसे ! (दया करो)

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण ! तुम गोकुलाधीश गोकुल के राजा हो, सारे गोकुलवासी तुमही से शोभित हैं। गायों के रक्षक तुम ही हो, गोपीजन के ईश तुम ही हो, और सारे व्रज के राजा तुम ही हो। व्रज तुमको प्रिय है, तुम व्रज को प्रिय हो। दशम स्कंध में ब्रह्मा जी ने कहा

है – **"अहो भाग्यमहो भाग्यं नंदगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्"।।** (श्री नंदरायजी के व्रज में रहने वाले सारे का अहोभाग्य देखो जिनके सदा आनंदरूप पूर्ण ब्रह्म मित्र हैं) इस वचन से व्रज के जन नंद यशोदा गोप गोपी के परम भाग्य है जिनके मित्र श्रीकृष्ण परमानंद रूप हैं। सारे व्रज के आनंददाता हैं और निजभक्तों को भी अपना आनंददान करते हैं। गायों के कुल उनके आनंद दाता हैं। क्योंकि गाय आपको बहुत प्रिय है। इसीलिये भगवदियों ने गाया है – **"आगे गाय पाछे गाय इतगाय उतगाय गोविंदाको गायनमें रहिवोही भावेरी"** ऐसी गाय प्रिय है। ऐसे श्रीकृष्ण हमारे ऊपर कृपा करे

मूलं – हा कृष्ण! हा दयासिंधो! हा राधावर! सुन्दर! ।
दीनेषु सततं श्रीमन्निजाचार्याश्रितेषु च ।।७।।
दुष्टेषु दोषपुष्टेषु भाग्यभुष्टेषुमत्प्रभो! ।
निःसाधनेषून्मतिषु दयां कुरु दयां कुरु ।।८।।

श्लोकार्थ – हा कृष्ण! हा दया के समुद्र! हा स्वामिनीजी के वर! हा सुन्दर! दीन और श्री निजाचार्य के चरण के आश्रित, दुष्ट दोष से पुष्ट हुए, भाग्यहीन और साधनरहित तथा (श्री आचार्यजी के आश्रय से) उत्कृष्ट मति वाले भक्तों के उपर हे हमारे प्रभु! दया करो दया करो।

व्याख्या – हा कृष्ण! तुम निःसाधन फलात्मक हो। इसलिये हम पर कृपा करो। तुम तो कृपा करोगे ही यह निश्चय है। परन्तु हमको धीरज नहीं रहता है। इसलिये विज्ञप्ति करते हैं। श्रीगुसांईजी विज्ञप्ति में कहते हैं – **"अंबुदस्य स्वभावोऽयं समये वारि मुंचति । तथापि चातकः खिन्नो रटत्येव न संशयः ।।"** (मेघ का यह स्वभाव है कि समय होने पर जल की वर्षा करे। किन्तु खेदयुक्त चातक हैं वह रटता ही रहता है। इसमें संशय नहीं हैं) मेघ का स्वभाव है स्वातिनक्षत्र में वर्षा कर जलदान करना है। परन्तु चातक अपनी पुकार वर्ष दिन तक करता ही रहता है। वैसे ही कृष्ण अपने भक्तों पर निश्चय कृपा करेगे परन्तु भक्तों का आर्ति ही कर्तव्य है। हे दयासिंधो! अब तुम शीघ्र दया करो। क्योंकि जो तुम दया करो तो सभी अनुकूल हो, उसमें माया बाधक नहीं होती है और तुम जहां तक

दया करने में विलम्ब करते हो वहां तक माया से हम दुःख पाते हैं। श्रीगुसांईजी विज्ञप्ति में कहते हैं **"नाथेऽनुकूलतां याते सर्वे यांत्यनुकूलताम् । तस्मिंस्तद्विपरीते तु सर्वमेव भवेत्तथा ।।"** (स्वामी अनुकूल हो तो सर्व अनुकूल हो और वह विपरीत हो तब तो सब वैसे ही विपरीत हो) हे नाथ ! तुम्हारे अनुकूल से सर्व अनुकूल हो और तुम्हारे विपरीत से सर्व जगत में विपरीत हुआ है। इसलिये तुम शीघ्र दया करो। तुम स्वामिनीजी के वर हो परम सुन्दर हो और हम बहुत दीन दुःखी हैं। इसलिये कृपा करो तो भला है। मेरे दोष देखकरन कृपा में विलम्ब करते हो। परन्तु निरंतर अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु की कानि से कृपा करो। इस भांति दीनता करते करते अपने दोष की स्फूर्ति हो, प्रथम विरह कर प्रभु के (लीला संबंधी) नाम कहे हैं उनसे अतिदीनता और अपने दोष की स्फूर्ति हो। मैं बड़ा दुष्ट हूं। अपार अनेक भांति के कायिक, मानसिक, वाचनिक, ऐसी अपार दुष्टता कर दुष्ट हूं। भाग्य में भगवद् धर्म नहीं लिखा है, बुद्धि गई है, शून्य हूं। हे मेरे प्रभु ! इतना भरोसा है कि तुम मेरे प्रभु हो, मैं निःसाधन हूं। मेरे से एक भी साधन नहीं बनता है। ऐसा जो मैं हूं, मेरे ऊपर शीघ्र दया करो। मेरे दोष मत देखो। कोई कहते हैं कि प्रभु हैं दोष क्यों नहीं देखें, गुण दोष हो उनको देखना चाहिए। इस भांति कहते हैं। वहां श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"बलिष्ठा अपि मद्दोषास्तवत्कृपाग्रेऽतिदुर्बलाः । तस्या ईश्वरधर्मत्वाद्दोषाणां जीवधर्मतः ।। अपराधेऽपि गणना नैव कार्या व्रजाधिप! । सहजैश्वर्यभावेन स्वस्य क्षुद्रतया च नः ।।"** (मेरे दोष बलिष्ठ हैं तब भी आपकी कृपा से आगे अति दुर्बल हैं। क्योंकि जो कृपा है वह ईश्वर का धर्म है और दोषों का जीव धर्मत्व है। हमारी तुच्छता से जो अपराध हो उसमें आपके सहज ऐश्वर्य भाव करके हे व्रज के अधिप ! गणना नहीं कर्तव्य हैं।) यद्यपि मेरे दोष बहुत बलिष्ठ हैं तब भी तुम्हारी कृपा के आगे दुर्बल हैं। तुम्हारी कृपा ईश्वर धर्म रूप हैं उसके पास दोष जीव धर्म हैं, कहां तक रहेंगे। इसलिये कृपा करो और तुम व्रज के अधिपति हो। निःसाधन फलात्मक हो। इसलिये हमारे अपराध है उनकी गणना करना तुम्हारे लिये उचित नहीं हैं। क्योंकि जो सहज में ही तुम्हारा ऐसा ऐश्वर्य है जो यह दोष महाक्षुद्र है वह क्या है ? पुत्र के भाव से अजामिल ने नारायण नाम लिया वह काल के बंधन से छूटा। तुम तो श्रीकृष्ण दयालु हो इस कारण जीव के दोष देखते नहीं हो। इसलिये हम पर कृपा करो।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – निवर्त्य सर्वतश्चेतो निरुद्धय चरिते हरेः ।
हृदिकृत्य कृपावश्यं स्थीयतां सज्जनैः सह ।।६।।

श्लोकार्थ – चित्त को सर्व (लौकिक) से निवृत्त कर चरित्र में निरुद्ध कर (प्रभु की) कृपा के वश हैं वह निरोध है। उसको हृदय में स्थापित कर सज्जन (पुष्टिमार्गीय भक्त) के संग रहना।

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण ! यह संसार में देह संबंधी अहंता ममता कर मेरा चित्त फस रहा है। उसको इस संसार से निवृत्त करो। सर्व ओर से निरोध कर अपने में लगाओ। जैसे व्रजभक्तों का चित्त दही, दूध, माखन इत्यादिक में था उसकी चोरी कर अनेक लीला कर अपने में लगाया वैसे ही हमारे मन का निरोध कर अपने में लगाओ। अपने हृदय में विचार करो कि यह हमारे हैं। ऐसा जानकर अवश्य कृपा करो अपने सज्जन के हृदय में सदा स्थित हो। इसलिये हम पर कृपा करो।

मूलं – अदृष्टदुःखितमुखोऽननुभूतसुखेतरः ।
स्वदुःखितातिकरुणः स कृष्णः शरणं मम ।।१०।।

श्लोकार्थ – (ऊपर श्लोक में कहा, उस प्रकार चित्त को निरुद्ध कर भक्तों के संग रहकर शरण की भावना करना, यह दो श्लोक में निरुपण करते हैं) जिनने दुःखयुक्त (भक्तों का) मुख नहीं देखा है। दुःख का अनुभव नहीं किया है। ऐसे ओर अपने दुःखितों के ऊपर अति दयायुक्त ऐसे श्रीकृष्ण मेरे शरण (आश्रय स्थान) हैं।

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण ! तुम अपने भक्त जो दुःख क्लेश से पीड़ित हो उनको नहीं देख सकते हो। भक्त प्रसन्न रहे वह तुमको अच्छा लगता है। भक्त दुःखित हो, म्लान्मुख हो उसको तुम नहीं देख सकते हो। क्योंकि तुम सर्व प्राणी मात्र के सुखदायक हो। भक्तों का दुःख कैसे देखोगे। यह विचार कर हमको बड़ी चिंता होती है कि अब आप भक्तों का क्लेश सहन करने लगे। विज्ञप्ति में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"जानामिमंदभाग्योऽहं यदर्थे गोकुलेश्वरः । भक्तक्लेशासहिष्णुत्वस्वभावं कुरुतेऽन्यथा ।।"** (मैं मंद भाग्य वाला हूं ऐसे जानता हूं जिसके लिये गोकुल के ईश्वर (श्रीकृष्ण) भक्त के क्लेश को नहीं सह

सकते हैं। ऐसे अपने स्वभाव को अन्यथा करते हैं। मैं यह जानता हूं कि मेरा अब मंद भाग्य है। हे गोकुलेश्वर ! तुम भक्त के क्लेश को कभी नहीं सहते हो। स्वभाव को मेरे लिये बदला है अब सहता हूं। मैं क्या करूं। सर्वभूत प्राणिमात्र के तुम ही सुखदाता हो और अपने निजभक्त को दुःखित देखकर अत्यन्त करुणा ही करते हो। ऐसे भक्तों के करुणा सिंधु श्रीकृष्ण मेरे शरण हैं। ऐसे शरण की भावना ही करता हूं और क्या कर सकता हूं।

मूलं – अमंदपरमानंदो निजानंदाश्रयस्थितः ।
स्वरूपानंददाता च स कृष्णः शरणं मम ।।११।।

श्लोकार्थ – अधिक उत्तम आनंद रूप और अपने आनंद के आश्रय रूप श्रीमदाचार्य जी अथवा व्रजभक्तादिक उनमें स्थित और (रसात्मक) स्वरूप के आनंद देने वाले श्रीकृष्ण मेरे शरण (आश्रय स्थान) है।

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण ! तुम बहुत आनंद से पूरित हो। परमानंद रूप ही हो। तुम अपने निजभक्तों के आनंददाता हो। जो कोई तुम्हारा आश्रय कर रहे उनके आश्रयरूप आप ही हो उनको स्वरूपानंद का दान करते हो। दशम स्कंध में श्री नंदरायजी उद्धव केप्रति कहते हैं – **"मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादांबुजाश्रयाः । वाचोऽभिध्यायिनीर्नाम्ना कायस्तत्प्रह्वणादिषु"** (हमारे मन की वृत्ति श्रीकृष्ण के चरणारविंद का आश्रय है जिनका ऐसा हो और वाणी इनके नाम का उच्चार करने वाली तथा शरीर इनको दंडवत् प्रणामादिक में हो) मन, वचन, काय से श्रीकृष्ण के पदांबुज का आश्रय है उनको और कुछ कार्य कर्तव्य नहीं है। यह सिद्धान्त हुआ। इसलिये जिस भक्त ने तुम्हारा आश्रय किया है उनके स्वरूपानंद के दाता हो। ऐसे जो श्रीकृष्ण है, वे मेरे शरण (आश्रय स्थान) हो। नवरत्न में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम"** (इसलिये निरंतर सर्वात्मक श्रीकृष्ण मेरे शरण है) नित्य श्रीकृष्ण की शरण भावना कर्तव्य है और भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है – **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।"** (सर्वधर्म को छोड़कर एक मेरे शरण हो मैं तेरे को सर्व पापों से छुड़ाऊंगा, शोक मत कर) इत्यादि अनेक वचन हैं।

इसलिये हे श्रीकृष्ण ! मेरे से कुछ भी धर्म नहीं बन सकता है। एक तुम्हारे शरण की भावना करने से फल सिद्ध हो यह जानकर वही करता हूं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१३।।

बड़े शिक्षापत्र १४

अब १४वें शिक्षापत्र में यह बताया है कि प्रभु के चरणारविंद में चित्त को स्थापित करना। अन्याश्रय और दुःसंग नहीं करना। निवेदन मंत्र का अनुसंधान करना और अपने आचार्य के चरणारविंद का दृढ़ आश्रय रखना। यही वैष्णव का लक्षण है, इसका निरूपण है। ऊपर कहा कि शरण की भावना करने से सर्व फल सिद्ध होता है। ऐसा उपाय कहते हैं।

मूलं – श्रीमत्प्रभु पद्युगले स्थाप्यं चेतश्चमत्कारि ।
तदनुग्रहणा देव हि भवति तदीयस्य सर्वतः सकलम् ।।१।।

श्लोकार्थ – श्री ठाकुरजी तथा श्री गुसांईजी के चरणारविंद में चमत्कारयुक्त चित्त का स्थापन करना। क्योंकि जो इनके अनुग्रह से ही तदीय का सर्वप्रकार सर्व सिद्ध हो।

व्याख्या – श्री सहित ऐसे मेरे प्रभु जो श्री गुसांईजी जिनके दोनों चरणारविंद में अपना चित्त स्थापन करना। दोनों चरण कमल चित्त को परम चमत्कारी भक्ति रस का अनुभव कराता है। उसमें वाम चरण के आश्रय से पुष्टि रस का अनुभव होता है और दक्षिण चरण के आश्रय से मर्यादाभक्ति रस का अनुभव होता है। श्री गुसांईजी ने ललित त्रिभंगी ग्रंथ में कहा है – **"पुष्टिभक्तिं स्थिरीकृत्य मर्यादां च तदाश्रिताम् । कृत्वा वृंदावन क्षोणीमयथा पूर्वसंस्थितः ।।"** (पुष्टि भक्ति को स्थिर कर मर्यादा को पुष्टि की आश्रित कर श्री वृंदावन भूमि प्रतिपूर्व नहीं हुए वैसे स्थित है) इत्यादि वचन से श्री वृंदावन में ललित त्रिभंगी हो प्रभु वेणुनाद करते हैं। वहां पुष्टिरूप वामचरण में स्थित हैं। उसके आश्रित मर्यादाभक्ति रूप दक्षिण चरण टेढ़ा है। ऐसे प्रभु के दोनो चरण का आश्रय कर मन लगाना। उसके करने से अनुग्रह से तदीय के सर्व कल्याण सब स्थान सिद्ध होता है। यह

कहकर यह बताया है कि दोनो चरण कमल में श्रीकृष्ण के चित्त लगावे। उनका कल्याण हो। नवमस्कंध में भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है – **"ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे"**।। (जो स्त्री, घर, पुत्र, लौकिक, हितैषी, प्राण, धन, यह लोक और परलोक छोड़कर मेरे शरण में आवे उनका त्याग करने में मैं कैसे उत्साह करूं ?) श्रीकृष्ण को घर, स्त्री, पुत्र प्राणादि सर्व समर्णण कर शरण रहे, उनको प्रभु कभी नहीं छोड़ते हैं। श्रीकृष्णाश्रय में श्री आचार्यजी ने कहा है – **"शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्"** (शरण आये उनका उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण को मैं विनती करता हूं) इस वाक्य से शरणस्थ जीवों का निश्चय ही उद्धार है।

मूलं – अन्याश्रयस्तदीयैकपदाश्रयविरोधकृत ।
प्रभोरुदासीनतायाः कारणं त्यज्यतां द्रुतम् ।।२।।

श्लोकार्थ – तदीय के चरणों के आश्रय वाले का विरोध करने वाला अन्याश्रय है अथवा तदीय के स्थानक जो व्रज उसका आश्रय का निवास उसका विरोध करने वाला है और प्रभु (श्री ठाकुरजी तथा श्री गुसांईजी) की उदासीनता का कारण है, उसका शीघ्र त्याग करना।

व्याख्या – ऊपर कहा कि श्रीकृष्ण के चरण में मन लगावे। तब सर्व सिद्ध हो वहां अन्याश्रय महाबाधक है। वह ऐसा बाधक है जो भगवदीय के चरण कमल के आश्रय में विरोध ही करे तो और जीव भगवदीय का भी चरण कमल के आश्रय में विरोध करे तो और जीव क्या वस्तु ? वैसा तो गिरेगा। इसलिये अन्यदेव, मनुष्य, राजा इनका आश्रय नहीं करे वहां कहते हैं – **"भगवत्पदपद्मपरागजुषो नहि युक्ततरंमरणेऽपितराम् । इतराश्रयणम् गजराजधृतो न हि रासभमप्युररीकुरते ।।"** (भगवान् के चरणारविंद की रज का सेवन करने वाले को मरण से अधिक दुःख में भी ओर का आश्रय युक्त नहीं क्योंकि हाथी उपर बैठा हुआ गधा पर बैठना स्वीकार नहीं करेगा) भगवान् के चरण कमल को छोड़कर अन्य देव का आश्रय ऐसा है जैसे हाथी की सवारी छोड़कर गधे पर बैठे। हारीत स्मृति में कहा है – **"नान्यदेवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत् । नान्य प्रसादमद्याच्चनान्यदायतनं व्रजेत् ।। अनन्यशरणा ये तु तथैवानन्य साधनाः । अनन्यभोगभोग्या ये ते तु**

सर्वेऽधिकारिणः'' ।। (अन्य देवता को नमस्कार नहीं करे, अन्य देव को देखे नहीं, अन्य प्रसाद को खाये नहीं, अन्य देव के मंदिर में जाय नहीं अनन्य है शरण जिनका वैसे ही अन्य है साधन जिनका, और औरों के भोग्य का भोग नहीं करने वाले जो हैं वे सर्व अधिकारी हैं) इत्यादि वचन से ओर देव को नमस्कार नहीं करे, अन्यदेव का प्रसाद नहीं ले, अनन्य प्रभु की शरण रहे। एक श्रीकृष्ण की साधन सेवा स्मरण करे तब प्रभु प्रसन्न हो। अन्य आश्रय करे उसके ऊपर प्रभु उदासीन हो जाते हैं। मैं क्या देने में समर्थ नहीं हूं जो यह अन्याश्रय करता है? जैसे दामोदरदास संभलवाले की स्त्री ने रंचक अन्याश्रय किया जिससे उसके म्लेच्छ पुत्र हुआ। बहुत खेद किया। इसलिये वैष्णव भरगवदीय अन्याश्रय का निश्चय ही शीघ्र त्याग करे।

मूलं – असत्संगस्य च त्यागो भावबाधकता यतः ।
यथा व्याघ्रो बाधकः स्याच्छरीरादेः शरीरिणः ।।३।।

श्लोकार्थ – असत् के संग का त्याग करना क्योंकि जो असत्संगत से भगवद् भाव का नाश हो, जैसे शरीरी जो जीव है उनके शरीरादिक का बाधक बाघ है वह शरीर का नाश करता है। (इसलिये ये जीव बाघ से दूर रहते हैं वैसे ही असत्संग को जानकर उससे दूर रहना।)

व्याख्या – अन्याश्रय छोड़े क्योंकि भगवद् भाव में असत्संग बाधक है। उसको लौकिक दृष्टान्त से समझाते हैं जैसे बाघ (सिंह) के आगे मनुष्य जावे तो उसके शरीर का विघ्न ही हो। उससे देह का नाश हो वैसे ही असत्संग हो तो भगवत्भाव का निश्चय नाश हो। असत्संग से जड़ भरत को तीन जन्म लेने पड़े। द्विविद वानर को नरकासुर के संग से श्री बलदेवजी से लड़ना पड़ा। इसलिये असत्संग महाबाधक हैं, यह जानकर तत्काल छोड़ना चाहिए।

मूलं – असत्संगस्तथा प्रोक्तः श्रीमदाचार्यपंडितैः ।
अध्यासः स्वशरीरादौ तदीयत्वप्रकारतः ।।४।।

श्लोकार्थ – श्री मदाचार्यजी जो महापंडित हैं उनने अपने शरीरादिक में तदीयपन के प्रकार से जो अध्यास उसको असत्संग कहा है। अथवा शरीरादिक में (अहंताममतात्मक) अध्यास को असत्संग कहा है और यह देह तदीय (भगवत्संबंधी) हैं इस प्रकार से जाने वह सत्संग है।

व्याख्या – असत्संग महादुःख रूप है। हमारे श्री आचार्यजी महाप्रभु महापंडित ने वेद, पुराण, श्री भागवत सर्व मथकर श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रंथ प्रकट किये हैं उसमें अन्याश्रय और असत्संग महाबाधक है उसका स्थान स्थान पर निरूपण किया है। इसलिये भगवदीय के संग रहे। उनके संग से सारे असत्संग छूट जाय ऐसे अन्याश्रय से बचे।

मूलं – विधाय सर्वथा भीतिं विधेयेतरयोगतः ।
सत्संगेन स्वमार्गैकनिष्ठत्वेन च सर्वथा ।।५।।

समर्पणाऽनुसंधानं विधेयं मिलितैः सदा ।
इदमेवाऽस्मदाचार्यमार्गे साधनमुत्तमम् ।।६।।

श्लोकार्थ – कर्तव्य और अकर्तव्य के योग से सत्संग करके और सर्वथा पुष्टिमार्ग में ही एक निष्ठपना कर असत्संग प्रति निश्चय भय कर मिले। ऐसे भगवदियों के संग निवेदन मंत्र का अनुसंधान सदा करना यह ही अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग में उत्तम साधन हैं।

व्याख्या – इस भांति असत्संग से महाभय रखे यह निश्चय सिद्धान्त मन में जानना कि जीव को यह योग्य है। यह कर्तव्य है। ऐसा जान जितना भगवद् धर्म बने उतना करना। परन्तु असत्संग नहीं करे जिस भगवदीय की पुष्टिमार्ग में निष्ठा हो उसी का संग करे और का नहीं करे क्योंकि एतन्मार्गीय भगवदीय के संग से अपने पुष्टिमार्ग की सारी रीति जाने, मार्ग में पूर्ण निष्ठा हो जब भाव बढ़े और सब सिद्ध हो। श्री आचार्यजी महाप्रभु द्वारा श्री ठाकुरजी को सर्व समर्पण किया है ऐसे भगवदीय से मिलकर सदा विचार करे कि मैंने क्या समर्पण किया ? अब मैं क्या क्रिया करता हूं ? कितनी वस्तु प्रभु में अंगीकार होती है ? कौनसी इन्द्रियां बहिर्मुख है ? तथा कितने दिन से प्रभु से बिछुड़ा हूं। अब श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कृपा करके मिला दिया है। मैं किस प्रकार सेवा स्मरण करूं ? इत्यादि भाव भगवदीय से मिलकर विचार करे भगवदीय से दैन्य रखे। जो वे कृपा कर के बतावे यही श्री आचार्यजी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग में उत्तम साधन हैं। भगवदीय के संग निवेदन का स्मरण करे इसी कारण से नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **'निवेदनं तु**

स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः" (निश्चय तादृश जन के संग निवेदन का स्मरण करे) भगवदीय का संग सर्वथा करना तथा सर्वदा करना। उनसे नित्य निवेदन का प्रकार सुनकर अपने मन में भाव रखना। यह सत्संग ही श्री आचार्यजी महाप्रभु के मार्ग में उत्तम से उत्तम साधन है, वही करे इससे विरुद्ध साधन नहीं करे।

मूलं – स्वाचार्यचरणद्वन्द्वदृढाश्रयमादृतैः ।
विधेयं तेन सकलमस्मिन् मार्गे भविष्यति ।।७।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के दोनों चरणों का दृढ़ आश्रय, आदरयुक्त होकर करना। उस करने से इस पुष्टिमार्ग में सर्व सिद्ध होगा।

व्याख्या – अपने श्री वल्लभाचार्यजी के दोनों चरणारविंद का दृढ़ आश्रय जो कोई पुष्टिमार्गीय जीव आदरपूर्वक करे उनको यह सर्वोपरि पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त हृदयारूढ़ हो। इससे दैवी जीवों को श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का दृढ़ आश्रय निश्चय ही कर्त्तव्य है। उसी के करने से सकल कार्य सिद्ध होंगे।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१४।।

बड़े शिक्षापत्र १५

अब १५वें शिक्षापत्र में भगवान् की लीला के अनुसंधानपूर्वक भगवत्स्मरण करने का निरूपण है। ऊपर कहा कि जो भगवदीय का संग करे, अपने श्री आचार्यजी के दोनों चरणारविंद का आश्रय करे तो पुष्टिमार्ग का फल सिद्ध हो। श्री महाप्रभुजी के चरण कमल का आश्रय किस प्रकार से हो उसका निरूपण इस शिक्षापत्र में करते हैं।

मूलं – यदंगीकृतजीवानां न दुःखं लेशतोऽपि हि ।
सदानंदः सदानंदतत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।१।।

श्लोकार्थ – जिनको प्रभु ने अंगीकृत किया है। ऐसे जीवों को रंचक भी दुःख नहीं हैं। सदानंद ऐसे प्रभु सदा आनंद रूप है उनका स्मरण सदा करना चाहिए।

व्याख्या – अपना जो अंगीकृत जीव पुष्टिमार्ग में शरण में आया है, उसको रंचक दुःख हो उसको श्री आचार्यजी महाप्रभु नहीं सह सकते हैं। अपने जीवों का सकल दुःख दूर कर सदा आनंद का दान करते हैं।

मूलं – यो निजानतिसंतप्तान्स्वकृते वीक्ष्य विस्मितः ।
प्रादुर्भवत्यचिरतस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।२।।

श्लोकार्थ – जो प्रभु अपने लिये अति (विप्रयोगाग्नि से) तप्त अपने भक्तों को देखकर विस्मित हो शीघ्र (आचार्य रूप) प्रकट हुए हैं। उनकी स्मृति सदा रखनी चाहिए।

व्याख्या – यह जीव जिस दिन से भगवान् से बिछुड़ा है उस दिन से चौरासी लक्ष योनि में भटक रहा है। जन्म मरण के अनेक प्रकार के दुःख को पाता है। संसाराग्नि में महा संतप्त है। यद्यपि दैवी जीव है तब भी अपना दासपना और प्रभु का स्वरूप भूल गया है। इस कारण संसार में महादुःखी है। इस भांति अपनी कृति से दुःखी होता है। श्री ठाकुरजी यह देखकर विस्मित हुए और मन में खेद पाकर कहा कि हमारे दैवी जीव बहुत दुःखी हैं। तब करूणा कर श्रीकृष्ण ने श्रीआचार्यजी महाप्रभु के स्वरूप में अग्नि से प्रादुर्भूत हो अपने दैवी जीवों के अनेक चिरकाल के सारे दुःखों को दूर किया। ऐसे श्री आचार्यजी महाप्रभु भक्त वत्सल परम दयाल है। उनका स्मरण सदा कर्तव्य है।

मूलं – यः स्वतः सेवाकानां हि पराश्रय निवारकः ।
कृपासरित्पतिः कृष्णस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।३।।

श्लोकार्थ – अपने सेवकों का अन्याश्रय निवारण करने वाले श्रीकृष्ण दया के सागर हैं। सदा उनकी स्मृति रखनी चाहिए।

व्याख्या – जैसे श्रीकृष्ण ने सारे व्रज भक्तों का अन्याश्रय छुड़ाया, गिरिराज द्वारा आपने अरोगा। अंबिका पूजन में श्री नंदरायजी को दंड देकर छुड़ाया। वैसे श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने सेवकों का पराश्रय (अन्य देव का भजन) छुड़ाकर एक श्रीकृष्ण ही का भजन बताया। सर्व ओर से निवृत्त कर एक श्रीकृष्ण का ही शरण किया। श्रीकृष्ण कृपा के सागर हैं। जिसको अंगीकार करते हैं उसको फिर कभी छोड़ते नहीं हैं। भक्त पर कृपा ही करते हैं।

नवमस्कंध में दुर्वासा के प्रति भगवान् ने कहा है – **"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज ! । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।"** (हे द्विज ! में परतंत्र की तरह भक्त के पराधीन हूं और साधु भक्तों ने मेरे हृदय को ग्रसा है इसलिये भक्तजन मेरे को प्रिय है) भगवान् कहते हैं, हे द्विज दुर्वासा ! मैं तो भक्त के वश पराधीन हूं। स्वतंत्र नहीं हूं। मेरे को अपने हृदय में धर लिया है। मेरे को भक्त जन बहुत प्रिय है। ऐसे कृपालु श्रीकृष्ण हैं। उनकी प्राप्ति अपने भक्त जीवों को कराया है। ऐसे श्री आचार्यजी के चरण कमल का स्मरण सेवकों को अहर्निश कर्तव्य हैं।

मूलं – हृदयस्थः समस्तानां धुनोति विषयादरम् ।
दयादामोदरः श्रीमांस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।४।।

श्लोकार्थ – समस्त भक्तों के हृदय में रहते हैं, ऐसे दयाकर के दामोदर हुए हैं। ऐसे श्रीमान् विषय में (भक्तों का) आदर मिटाते हैं। ऐसे हैं उनकी सदास्मृति करना।

व्याख्या – श्रीकृष्ण सर्व प्राणिमात्र के हृदय में स्थित है। भक्तों के हृदय में हो इसमें क्या कहना ? परन्तु जीव (विषयादि, खान, पान, देह संबंधी संसार सुख में आदर कर मन को लगाते हैं) हृदय में प्रभु हैं उनको भूल गये हैं। अनेक विषय के लिये भटक रहे हैं। प्रभु दामोदर है श्री यशोदाजी के ऊपर दयाकर आप बंधे हैं। ऐसे शोभायमान श्रीकृष्ण तथा श्री आचार्यजी को एकरूप जान उनका स्मरण वैष्णव को सदा कर्तव्य हैं।

मूलं – यः प्राणप्रेष्ठगोपीनां संगं गोपयति स्वतः ।
निलायनादिलीलाभिस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।५।।

श्लोकार्थ – जो प्रभु प्राणप्रिय गोपीजन गोपांतर स्थित हो उनके संगम को निलायनादि (छुप छुपकर खेल रूप) क्रीड़ा कर आप गोप्य करते हैं। उनकी स्मृति सदा करना।

व्याख्या – स्वामी के संग गोपीजनों को रसात्मकता को गोप्य करते हैं। जिसमें श्री नंदरायजी, श्री यशोदाजी और अनेक गोप जानते नहीं हैं, इस भांति व्रज भक्तों को रस दान करते हैं। वे गोपीजन श्री ठाकुरजी के प्राणप्रिय हैं। इसलिये उद्धवजी से भगवान् ने दशम स्कंध में कहा है – **"ता मन्मनस्का मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्त लोक**

धर्माश्च मदर्थे तान बिभर्म्यहम् ।।" (यह गोपी मेरे में हैं मन जिनका मेरे में हैं। प्राण जिनका अथवा मैं हूं प्राण जिनका, और मेरे अर्थ सर्व दैहिक धर्म जिनने त्याग किया। मेरे लिये लोक धर्म का त्याग करने वाले हैं, उनका मैं पोषण करता हूं।) तन, मन, प्राण, देह प्रभु अर्थ अर्पण किया है और प्रभु के अर्थ लोक, वेद, धर्म, त्याग किया है। इसलिये श्रीकृष्ण को प्राण समान प्रिय है। प्रभु कैसे दयालु हैं उसको तृतीय स्कंध में उद्धवजी ने कहा है – **"अहो बकीयं स्तनकाल कूटं जिधांसया पाययदप्यसाध्वी । लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुंशरणं व्रजेभ"** ।। (अहो दुष्ट पूतना ने मारने के लिये ही स्तन का विष जिनको पिलाया वह पूतना भी माता के योग्य गति को प्राप्त हुई, इसलिये अन्य ऐसा कौन दयालु है जिनके शरण जाये)। पूतना अपने स्तन में कालकूट (विष) लगाकर पिलाने लगी ऐसी राक्षसी को श्रीकृष्ण ने माता की गति दी। तब जो भक्त दूध आदि नाना प्रकार की सामग्री अरोगाते हैं ऐसे व्रजभक्त के वश भगवान् हो उसमें क्या कहना ? ऐसे श्रीकृष्ण श्रेष्ठ गोपी को सबसे छिपाकर रसदान करते हैं। नित्य रासादि लीला करते हैं। ऐसे रसात्मक श्रीकृष्ण का स्मरण सदा ही कर्तव्य है।

मूलं – यः उद्धवेन भक्तेन स्वस्वरूपमबोधयत् ।
गोपिकानां हृदंतस्थस्तत्स्मृतिः क्रियतां सदाः ।।६।।

श्लोकार्थ – जो प्रभु अपने भक्त उद्धव को स्वरूप का बोध कराते हैं और गोपिका के हृदय के भीतर रहे हैं ऐसे स्वरूप का उद्धव जी द्वारा गोपीजनों को जिनने बोध किया है। उनकी स्मृति सदा करनी है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को निजभक्त जानकर विचार किया कि उद्धवजी ने बहुत सेवा की है। अब व्रजलीला का अनुभव हो तो अच्छा है। अनुभव तो श्री स्वामिनीजी के हाथ है। भावात्मक स्वरूप तो श्री स्वामिनीजी के और व्रजभक्तों के हृदय में स्थित है। इसलिये योग का मिष (बहाना) कर उद्धवजी को अपने निज स्वरूप के बोधार्थ भगवान् ने व्रज में भेजा। तब गोपीजन ने भगवान् के सखा जानकर अपनी समग्र लीला उद्धवजी को दिखलाई। तब उद्धवजी को अनुभव हुआ, तब अपने योग को भूल गये। वंदन करने लगे।

बड़े शिक्षापत्र

"नायं श्रियोंऽगज ! नितांतरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगंधरुचां कुतोऽन्याः । रासोत्सवेऽस्य भुजदंडगृहीतकंठलब्धाशिषां य उद्‌गाद् व्रजबल्लवीनाम् ।।१।। आसमहो चरण रेणुजुषामहं स्यां वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजन मार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।२।। वंदे नंदव्रजस्त्रीणां पादरेणुममीक्ष्णशः । यासां हरि कथोद्‌गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।३।।

(रसोत्सव में भगवान् के श्रीहस्त को ग्रहण किया। वह कंठ उनसे प्राप्त हुआ है) सर्वमनोरथ जिनके ऐसे जो व्रजभक्त उनको जो प्रसाद हुआहै वह निरंतर प्रीति वाली लक्ष्मी जी को नहीं हुआ। कमल जैसा गंध है, कांति जिनकी ऐसी है कि अप्सराओं की भी नहीं हुई तो दूसरे की कहां से हो ? जो व्रजभक्त पति पुत्र संबंधी सारा कुटुम्ब तथा वेद मर्यादा छोड़कर श्रृतियों के विमृग्य (ढूंढ़ने योग्य) श्रीकृष्ण की पदवी को प्राप्त हुए क्योंकि आप श्रुति रूप हैं। उनकी चरण रेणु का सेवन करते हैं। ऐसे जो वृंदावन के प्राणी होने की योग्यता नहीं है। गुल्म, लता, औषधियों में कुछ में हो अर्थात् सात्विक, राजस, तामस जो स्थावर है उनमें कुछ में हो। जिनकी हरिकथा का स्वतंत्र निकला ऐसा रटन तीनों लोगों को पवित्र करता है। ऐसे जो व्रजभक्त उनके चरण कमल की रज को प्रतिक्षण दण्डवत् करता हूं यह दशा उद्धव जी की हुई। गोपीजन के चरण कमल की रज की आशा करके गुल्मलता औषधी की प्रार्थना की, वह भावात्मक भगवान् व्रज भक्तों के हृदय में स्थित है। वे भाव रूप श्री अचार्यजी महाप्रभु हैं उनके चरण कमल का स्मरण सदा करे।

मूलं – यः स्वमाहात्म्यबोधाय प्रादुर्भावितवान्स्वयम् ।
प्रभुः श्रीवल्लभाचार्यास्तस्मृतिः क्रियतां सदा ।।७।।

श्लोकार्थ – जो प्रभु (अपने भक्तों को) अपना माहात्म्य जताने के लिये आप ने श्री वल्लभाचार्य जी को प्रकट किया। उनकी स्मृति सदा करनी।

व्याख्या – श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को अपना निजभक्त जानकर (अपने स्वरूप को आपने नहीं जताया) गोपीजन के पास भेजा। वहां यह बताया कि भगवान् करे उससे अधिक भगवदीय द्वारा स्वरूप का बोध हो, यह सर्वोपरि है। वैसे ही दैवी जीव संसार में प्रभु को

भूल गये हैं। तब श्री ठाकुरजी अपने स्वरूप माहात्म्य बोधार्थ श्री आचार्यजी को भेजा। तब श्री आचार्यजी महाप्रभु पृथ्वी पर प्रार्दुभूत (प्रकट) हुए। भूमि पर स्थित होकर दैवी जीवों को स्वरूपानंद का अनुभव कराया। ऐसे श्रीकृष्ण सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं। जिनके चरण कमल का स्मरण सदा कर्तव्य है।

मूलं – यस्य स्मरणमात्रेण सकलार्तिविनाशनम् ।
तत्क्षणादेव भवति तत्स्मृतिः क्रियतां सदा ।।८।।

श्लोकार्थ – जिनके स्मरण मात्र से ही सभी की सर्व आर्ति का नाश तत्क्षण में ही हो, उनकी स्मृति सदा कर्तव्य है।

व्याख्या – ऐसे श्रीकृष्ण रूप भावात्मक श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरणारविंद का स्मरण करने मात्र से ही सकल आर्ति, संसार के दुःख सर्वदोष का नाश हो जाय और तत्काल श्री वल्लभदेव श्रीकृष्ण देव जीव के ऊपर प्रसन्न हो। इसलिये यह पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का यह धर्म है यह निश्चय है। जो ऐसे श्री महाप्रभुजी के चरण कमल का स्मरण मन लगाकर अहर्निश करता है। जैसे व्रज भक्त रात दिन स्मरण करते हैं वैसे ही करना।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१५।।

बड़े शिक्षापत्र १६

अब १६वें शिक्षापत्र में अहर्निश भगवत्सेवन, स्मरण, कीर्तन करे उनका भगवान् निरोध करते हैं तथा ऐहिक, पारलौकिक स्वतः सिद्ध करते हैं। इसलिये भक्त को कुछ चिंता नहीं करनी चाहिए। यह इस शिक्षापत्र में निरूपण है। ऊपर कहा उस भांति महाप्रभुजी का स्मरण करे तो प्रभु प्रसन्न होते हैं, तब प्रभु के स्वरूप का ज्ञान होता है और अपना दोष स्फुरित हो, वह प्रकार कहते हैं।

मूलं – सदा स्वभक्तहृदयावासः स्वाचार्यभावितः ।
यशोदाऽतिप्रियः श्रीमान् नंदसूनुर्व्रजेश्वरः ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र

स्मरणीयो यथाशक्तिः सेवनीयस्तथा पुनः ।
तादृशैः सह संगेन कथनीयश्च सर्वथा ।।२।।

श्लोकार्थ – सदा अपने भक्तों के हृदय में विराजने वाले, अपने श्री आचार्यजी के भाव से भावित, श्री यशोदाजी के अतिप्रिय, शोभायुक्त, श्री नंदरायजी के पुत्र व्रज के ईश्वर, स्मरण करने योग्य तथा अपनी शक्ति अनुसार सेवा करने योग्य है। पुनः तादृशीय के साथ संग कर निश्चय (इनकी लीला) कथा सदा कर्तव्य है।

व्याख्या – सदा श्री ठाकुरजी अपने भक्तों के हृदय में बसते हैं। वे कैसे के हृदय में बसते हैं ? वहां कहते हैं कि श्री आचार्यजी महाप्रभु का भाव कर प्रसन्न किये हैं। श्री आचार्यजी के भक्त हैं। ऐसे पुष्टिमार्गीय भगवदियों के हृदय में प्रभु सदा बिराजते हैं। वे प्रभु कैसे हैं ? श्री यशोदोत्संग लालित श्री यशोदाजी को अति प्राणप्रिय श्री (शोभा) सहित नंदसूनु नंदरायजी के पुत्र के विषय में दशम स्कंध में नंद महोत्सव में श्री शुकदेव जी ने कहा है – **"नंदस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः"** (श्री नंदरायजी अपने आत्मज (आत्मा में अथवा देह से उत्पन्न हुए ऐसे पुत्र) उत्पन्न हुए तथा आह्लादयुक्त और बड़े मन वाले हुए, नंदरायजी के आत्मा से उत्पन्न हुए ऐसे श्रीकृष्ण व्रज के राजा हैं। वे सदा ही व्रज के भक्तों के साथ विहार करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण पुष्टिमार्ग में सेव्य है। एतत्मार्गीय भगवदीय (श्री आचार्यजी के कृपा पात्र) हैं उनके हृदय में बसते हैं तथा श्री ठाकुरजी के हृदय में बसते हैं। श्री भागवत के नवम स्कंध में भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है – **"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानंति नाहं तेभ्यो मनागपि"** ।। (साधु है वह मेरा हृदय है और मैं साधुओं का हृदय हूं। मेरे से अन्य यह भक्त नहीं जानते हैं और मैं इनसे कुछ अन्य नहीं जानता हूं।) भगवान् कहते हैं भक्त के हृदय में मैं हूं मेरे हृदय में भक्त है। भक्त मेरे से अन्य नहीं जानते हैं। भक्त से और को मैं नहीं जातना। ऐसे श्रीकृष्ण है। ऐसे व्रज में सदा विहारकर्ता नंद यशोदाजी के पुत्र हैं। उनका स्मरण करना क्योंकि जो ऐसे भावात्मक प्रभु व्रजभक्तों के वश हैं। इसलिये व्रजभक्तों के सहित स्मरण करना और सेवा भी ऐसे ही भक्तों के भाव सहित करना तथा तादृशीय भगवदीय से मिलकर श्रीकृष्ण की कथा भी सर्वथा नित्य नियम से सुननी चाहिए।

बड़े शिक्षापत्र १६

मूलं – अहर्निशं व्रजाधीशः प्रपंचास्मृतिसाधकः ।
स्वकीयपक्षपाती च निजसक्त्या विरोधकृत ।।३।।

स्मरणीयः कृपापारावारो विदितरूपवान् ।
स एवास्मत्सर्वकर्त्ता चिंताणुरपि नो हृदि ।।४।।

श्लोकार्थ – अहर्निश प्रपंच की विस्मृति के साधक, अपने भक्तों के पक्षपाती और अपनी आसक्ति कराकर निरोध करने वाले श्री व्रजाधीश कृपा के समुद्र और वेणुगीत में **"बर्हापींड"** इस श्लोक से नटवर रूप बताया है। ऐसे रूप वाले स्मरणीय हैं, वे ही अपना सर्व सिद्ध करने वाले हैं। उनसे अणु मात्र भी चिंता नहीं कर्तव्य है।

व्याख्या – स्मरण, सेवा, कथा, वार्ता, अहर्निश एक व्रजाधीश की करे यह प्रपंच देह सम्बन्धी लौकिक वैदिक सबकी विस्तृति हो यही (स्मरण, सेवा, कथा, वार्ता ही) प्रपंच विस्मृति का साधन तथा पुष्टिमार्गीय भगवद् धर्म है और नहीं। वे व्रजाधीश अपने भक्तों के पक्षपाती हैं, अपने सामर्थ्य से भक्तों को सब स्थान से निरोध सिद्ध करते हैं और जो जप, तप, यज्ञ, होम, तीर्थ, व्रजादिक मर्यादा मार्ग के साधन हैं, उसमें अनेक कालादिदोष प्रति बंधक होते हैं। उसमें प्रभु रक्षा नहीं करते हैं और भगवद् धर्म में प्रभु रक्षा करते हैं। जैसे प्रह्लाद के अर्थ प्रभु स्तंभ से प्रकट हुए तथा भक्त की रक्षा की इसलिये श्रीकृष्ण के स्मरण सेवादि में मन लगाकर करना वहां कालादिक कुछ बाधा नहीं करेगा। अपने भक्तों के पक्षपाती भगवान् हैं। वे अपनी आसक्ति का सामर्थ्य भक्तों में धरकर सब स्थान से निरोध करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण का सदा ही स्मरण कर्तव्य है। वे श्रीकृष्ण परम दयालु है। वेद, शास्त्र, श्री भागवत में प्रसिद्ध है। षष्ठ स्कंध में कहा है, **"सांकेत्यं पारिहास्यं च स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुंठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।।१।। अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् । संकीर्त्तितमघं पुसां दहेदेधो यथाऽनलः ।।२।।** (संकेतयुक्त, हास्य युक्त, मशकरि में कहा, अपराध से लिया ऐसे ही वैकुंठ (भगवान्) के नाम का ग्रहण है। वह सर्व पाप को हरने वाला है। ऐसे ऋषि जानते है।

अज्ञान से अथवा ज्ञान से उत्तम यश वाले भगवान् के नाम का कीर्तन है वह अग्नि जैसे काष्ठ को जलाता है वैसे सर्वपाप को जला देते हैं। इस वचन से और श्री आचार्यजी

बड़े शिक्षापत्र

महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् । यैः कृष्णसात्कृतप्राणैरतेषां का परिदेवना"** ।। (अज्ञान से अथवा ज्ञान से प्रभु के आधीन प्राण वाले जिन भक्तों ने आत्म निवेदन किया है उनको वैदिक लौकिक की (विधि निषेधादिक की) चिंता क्या है ? कुछ नहीं। इत्यादि वचन से जानना। जो सेवा स्मरणादिक भगवद् धर्म जानकर करे अथवा अनजान में करे तब श्री प्रभु कृपा करते हैं। श्री महाप्रभुजी ने चौरासी वैष्णव की वार्ता में कहा है कि गदाधर दास ने शाक के लिये कहा वह माधवदास ले आया। इस कारण माधवदास को भक्ति हुई। इस भांति प्रभु सेवा मान लेते हैं। इस भांति प्रभु की कृपा शास्त्र में प्रसिद्ध है। प्रभु ही हमको अपने जानकर सर्वकार्य सिद्ध करेगे। इसलिये भगवदीय को लौकिक वैदिक की चिंता तथा अपने उद्धार की चिंता नहीं करनी है।

मूलं – सतामप्यसतां वाऽपि स्वकीयानां कृपानिधिः ।
करिष्यन्ति स्वतः सर्वमतश्चिंता न काऽपि हि ।।५।।

श्लोकार्थ – सत् (सात्विक) असत् (तामस) अथवा सत् व्रजभक्त असत् अपने भी उनके शरण जाकर उनके हुए तब सर्व मनोरथ कृपा के निधि रूप प्रभु आप ही करेगे। इसलिये निश्चय ही कुछ चिंता नहीं है।

व्याख्या – प्रभु की यह प्रतिज्ञा है कि भक्तों के ऊपर सदा कृपा ही करते हैं। यह प्रतिज्ञा सत्य है। मन, वचन, क्रिया तीनों से अपने स्वकीय भक्तों पर कृपा ही हैं। कृपानिधि ऐसा प्रभु का नाम है। त्रिविध नामावली में नाम कहे हैं – **"भक्तजनकल्पवृक्षाय नमः"**, **"भक्ताधीनाय नमः"** इत्यादि बहुत नाम हैं। अतः प्रभु स्वतः ही स्वयं सर्व सिद्ध करेगे। इसलिये अपने को कुछ चिंता नहीं करनी है।

मूलं – सत्संगाऽभावतो नित्यमसत्संगस्वभावतः ।
वर्तते विषयाऽवेशैश्चक्राऽऽरुढेव मनमतिः ।।६।।

श्लोकार्थ – अब श्रीहरिरायजी वैष्णवों को दीनता भाव सिखाने के लिये पांच श्लोक में अपनी व्यवस्था लिखते हैं। सत्संग के अभाव से और नित्य दुःसंग के स्वभाव से विषय के

आवेश कर मेरी मति (बुद्धि) चक्र में आरूढ़ हो वैसे भ्रमित हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि ऊपर जो कहा है उसकी चिंता नहीं करनी। प्रभु सर्व प्रकार रक्षा करेगे। तभी भगवदियों का अभाव हैं। यदि सत्संग हो तो दुःसंग बाधा नहीं करता है। सत्संग तो इस काल में दुर्लभ है। असत्संग बिना यत्न कलिकाल में स्वभाव से सिद्ध हैं। वह ह्रदय में विषयावेश कराता है। यद्यपि भगवद् धर्मादिक करता हूं तो भी विषय का आवेश ह्रदय में रहता है तथा आवेश जहां तक रहता है वहां तक प्रभु का आवेश नहीं होता है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वदा हरेः"** (विषयाक्रांत देह वालों के ह्रदय में निरंतर अथवा निश्चय हरि का आवेश नहीं होता है) इत्यादि वचन से असत्संग के विषय का आवेश होता है। उससे मेरी बुद्धि चक्रारूढ़ की तरह दशो दिशाओं में फिरती हैं। प्रभु में विश्वास नहीं होता है। चिंता से अनेक संसार के दुःख आकर लग जाते हैं। उससे बुद्धि मलीन हैं।

मूलं – नैतस्मिन् समये कोऽपि सहायो मम वर्त्तते ।
विना श्रीवल्लभचार्यचरणांबुरुहाश्रयात् ।।७।।

श्लोकार्थ – इस समय में श्री वल्लभाचार्य जी के चरणारविंद के आश्रय बिना मेरे कोई सहायक नहीं हैं।

व्याख्या – दुःसंग कर विषयावेश से मन भ्रमित है। अनेक दुःख पाता हूं। भगवदीय कोई मिलता नहीं। इसलिये यह करालकाल में मेरी सहायता कौन करने वाला है। एक श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल का मैंने आश्रय किया है। वे ही मेरे सहायक हैं और कोई सहाय करने में समर्थ नहीं है। यह कहकर श्री हरिराय जी ने यह जताया है कि इस कलिकाल में श्री आचार्यजी के चरणकमल का आश्रय किया है उनको तो सर्व फल की सिद्धि होगी और जिनके श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय नहीं हैं वे कोटानकोटि साधन करे परन्तु संगदोष कालदोष से विषयावेश कर चक्रारूढ़ की तरह घूमेगा उनको कुछ भी फल सिद्धि नहीं हैं। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णव को श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का दृढ़ आश्रय निश्चंय ही कर्त्तव्य है।

मूलं – **ततश्च्युता मतिः कालबलात् केवललौकिके ।**
नित्यं स्थिता ततो भीतिर्भूयसी जायते हृदि ।।८।।

श्लोकार्थ – कालबल के आश्रय से मति निकल गई है और केवल लौकिक में नित्य रही है। उससे हृदय में बहुत बड़ा भय है।

व्याख्या – मैंने अपने श्रवण से (कान से) काल का दुःख सुना है, जो जन्म मृत्यु समान और कोई दुःख नहीं है। यह अनेक बार बड़ों के मुख से सुना है और मन में काल दुःख आता है। तब भी यह काल ऐसा कठिन है जो बलात्कार कर सारा ज्ञान धरा रहता है। केवल लौकिक कार्य ही बनता है। इस भांति नित्य ही लौकिक कार्य में स्थित है। उसको करने से अपने हृदय में बहुत भय बारंबार पाता हूं। जैसे परीक्षित राजा को काल का भय हुआ तब प्रभु की कृपा से शुकदेवजी भगवदीय ने आकर उस काल भय से निवृत्त किया। वैसे ही अब मेरे मन में बहुत भय हुआ है। वह श्री आचार्यजी के कृपापात्र भगवदीय के संग से दूर हो वह मेरे को दुर्लभ है। इसलिये भय से बारंबार हृदय कंपायमान है।

मूलं – **किंवा को वेद भगवान् करुणात्मा चिकीर्षति ।**
न जाने तेन मे चेतः खिन्नं भवति सर्वथा ।।६।।

श्लोकार्थ – करुणात्मा भगवान् क्या करने की इच्छा करते हैं। यह कौन जाने ? मैं नहीं जानता हूं। उसको देखकर मेरा चित्त निश्चय ही खेदयुक्त होता है।

व्याख्या – करुणात्मा भगवान् के अभिप्राय को कौन जाने ? किसी से नहीं जाना जाता है। कोटानकोटि साधन करे परन्तु भगवान् के हृदय के अभिप्राय का ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि भगवान् की करुणा हो तो सर्व जाना जाय। मन, वचन से भगवद् धर्म सेवा स्मरण हो सके प्रभु करुणा बिना कभी दृढ़ विश्वास नहीं होता है। इसलिये मैं अपने चित्त में निश्चय ही खेद पाता हूं। जहां तक प्रभु की कृपा नहीं हो वहां तक सर्वथा सर्वकार्य में दुःख ही है।

मूलं – **विशेषः प्रेमजित्पत्राद्बोधव्यः सकलोऽपि हि ।**
अनेनैव वयं किंचित्स्वास्थं मन्यामहे हृदः ।।१०।।

श्लोकार्थ – विशेष सकल समाचार प्रेमजी रूप पत्र से (अर्थात् प्रेमजी वैष्णव के मुख से) अथवा प्रेमजी के पत्र से जानना। यह प्रेमजी से ही हमारे हृदय में कुछ स्वास्थ्य को हम मानते हैं।

व्याख्या – और विशेष समाचार प्रेमजी वैष्णव के पत्र में लिखकर भेजा है। उस पत्र से बोध नहीं हो तो उस में देखकर मन लगाकर बांच कर जानना। उससे करुणात्मा प्रभु के ही हम हैं। यह जानकर हृदय में चिंकित्स्वास्थ्य (धीरज) है। जो प्रभु कृपा ही करेंगे। भगवद् धर्म जानकर करना। अथवा अनजाने कुछ बन जाय तभी प्रभु कृपा करे उसको नवरत्न में कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् । यैः कृष्णसात्कृत प्राणैस्तेषां का परिदेवना"** (अज्ञान से अथवा ज्ञान से प्रभु के आधीन प्राण करके जिनने आत्मनिवेदन किया है उनको क्या लौकिक कर्तव्य की चिंता है ?) वह निवेदन तो किसी प्रकार हुआ है इसलिये मन में स्वास्थ्य है जो प्रभु करुणा करेगे।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१६।।

बड़े शिक्षापत्र १७

अब १७वें शिक्षापत्र में त्याग के द्वैविध्य निरुपणपूर्वक अत्याग का निरूपण तथा जीव के स्वरूप निरूपण से मार्गस्थिति की दृढ़ अशक्यता है। उससे अपने श्री आचार्यजी के चरणारविंद का दृढ़ आश्रय कर दुःसंग तथा अविश्वास के अभाव से सर्वफल की सिद्धि प्राप्त होती है। उसका निरूपण है। ऊपर कहा है कि भगवान् के अभिप्राय को कौन जानता है। इसलिये मन में खेद है। तब श्री प्रभु करुणात्मा है। उस कारण मन में कुछ धीरज है। जब प्रभु करुणा करे तब उत्तम, मध्यम, भगवद् धर्म बन सकता है। वहां कोई कहे कि भगवद् धर्म तो एकसा है, उत्तम, मध्यम कहां ? वहां कहते हैं –

मूलं – यदुक्तमस्मदाचार्यैर्गौणमुख्यविभेदतः ।
त्यागो गृहधनादीनामथवा कृष्णयोजनम् ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु ने गौण और मुख्य भेद से त्याग दो प्रकार का संन्यास निर्णयादि ग्रंथ में कहा है उसमें गृहधनादि का त्याग है। वह गौण त्याग है अथवा गृहधनादिकों का श्रीकृष्ण में विनियोग करना मुख्य त्याग है।

व्याख्या – श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी–आदि ग्रंथ में उत्तम, मध्यम प्रकार कहे हैं – **"अव्यावृत्तो भजेकृष्णं पूजया श्रवणादिभिः । व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा"** ।। (अव्यावृत्त हो पूजा तथा श्रवणादि करके श्रीकृष्ण को भजे और व्यावृत्त हो तब भी हरि निमित्त जो श्रवणादिक उसमें सदा यत्न करे) इस वचन से श्रीकृष्ण की कथा, सेवा, स्मरण, अत्यावृत्त होकर करे, यह मुख्य और व्यावृत्ति भी करे परन्तु मन हरि में रखे। यह गौण है। श्रीहरिरायजी कहते हैं घर, धन, लौकिक, वैदिक सब त्यागकर प्रभु का भजन करे, जैसे गदाधरदास अव्यावृत्त रहे जल की लोटी भर पद्मनाभदास ने छोला रखे। यह मुख्य प्रकार नहीं बने तो सर्व श्रीकृष्ण के लगावे, राजसेवा करे उसमें सारा धन, गृह लगावे तभी प्रभु कृपा करे।

मूलं – **वैराग्यपरितोषादेश्त्यागेऽपि निरुपितः ।**
तथा विषयभोगस्य त्यागोऽपि विनिबोधितः ।।२।।

श्लोकार्थ – वैराग्य और परितोषादिकों का त्याग, अत्याग का निरूपण किया है और विषय भोग का त्याग भी विशेष करके निरंतर बताया है।

व्याख्या – वैराग्य और संतोष का त्याग नहीं करे क्योंकि जो वैराग्य हो तो इस संसार में लौकिक देह संबंधी सुख दुःख हृदय में बाधा नहीं करे भगवद् धर्म बनाता रहे और संतोष हो तो सहज में आकर प्राप्त हो। उससे आनंद रहे लोभ से पाप का आचरण नहीं करे क्योंकि श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्री सुबोधिनीजी निबंधादि ग्रंथ में कहा है – **"अचौर्याणामपापानां"** (चोरी करने वाले नहीं हो तथा पापी नहीं हो उनके द्रव्य को प्रभु अंगीकार करते हैं) चोरी कर, पाप कर कुछ लावे उस द्रव्य (अन्न) को प्रभु कैसे अरोगे? इसलिए वैराग्य, संतोषादिक धर्म नहीं छोड़ना और विषय भोग का त्याग करना क्योंकि जो विषय बहुत करने से हृदय में विषय का ध्यान हो जाय तो पीछे विषयावेश सारे देह में हो तो प्रभु का आवेश नहीं हो। संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी ने कहा है – **विषयाक्रांतदेहानां**

नावेशः सर्वदा (सर्वथा) हरेः" (विषय से आक्रांत देह वाले को निरंतर अथवा निश्चय हरि का आवेश नहीं होता है) इसलिये विषयाभोग का भी अवश्य त्याग करे।

मूलं – तथा सत्संगमाऽत्यागः सर्वत्रैव विशेषतः ।
अन्याश्रयपरित्याग उक्तो बाधकरूपतः ।।३।।

श्लोकार्थ – वैसे भी सर्व स्थान पर विशेष कर सत्संग का अत्याग है और बाधक रूप से अन्याश्रय का चारों ओर से त्याग कहा है।

व्याख्या – भगवदीय का संग नहीं त्यागे, यह सत्संग बहुत बड़ा है। सर्वोपरि कर्तव्य है। श्री भागवत के प्रथम स्कंध में शौनक का वाक्य है – **"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम् । भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"** (जहां हम भगवद् भक्तों के संग के एक क्षण बराबर स्वर्ग तथा मोक्ष के आनंद की तुलना नहीं करते हैं तो मनुष्यों के आशीर्वाद की तुलना कैसे करेगे ?) सत्संग के सुख समान स्वर्ग लोक, अपवर्ग (मोक्ष भी) नहीं हैं। इसलिये भगवदीय का संग छोड़ना नहीं। जहां भगवदीय हो वहां आप जाकर के सर्वथा संग करे और अन्याश्रय का शीघ्र ही त्याग करे क्योंकि यह (अन्याश्रय) भाव में बाधक है। श्रीनंदरायजी अंबिका पूजन को गये तो सर्प ने ग्रस लिया। श्रीगुसांईजी की सेवक डोकरी (बुढ़िया) ने हाकम (अधिकारी) को कहा तुमने मेरे को जीवनदान दिया। इतना कहते ही प्रभु अंतर्धान हो गये। दामोदरदासजी की स्त्री ने अन्याश्रय किया उसके कारण म्लेच्छ पुत्र हुआ। इसलिये अन्याश्रय का सर्वथा त्याग करना। क्योंकि अन्याश्रय बड़ा बाधक है।

मूलं – एवं निरुपितौ त्यागाऽत्यागौ सर्वत्र सर्वशः ।
न जीवाः स्वबलात्किंचित्कर्तुं शक्नुवते स्वतः ।।४।।

श्लोकार्थ – ऐसे सर्व प्रकार से सर्वत्र त्याग और अत्याग का निरूपण किया है। जीव अपने बल से कुछ करने में समर्थ नहीं है।

व्याख्या – इस भांति निरूपण श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सुबोधिनीजी आदि ग्रंथ में किया है। विचार कर त्याग करना हो उसका त्याग करना, अत्याग करना हो उसका अत्याग

करना भगवद् धर्म में साधक उसका अत्याग यह विचार रखे। परन्तु जीव का बल नहीं है। न त्याग कर सकता है न रख सकता है। ब्रह्मादिक, शिवादिक, नारदादिक बड़े त्यागी हैं। उनका भी त्याग कुछ वश में नहीं हैं तो तुच्छ जीव की क्या सामर्थ्य ? उसका किया कुछ नहीं होता है। जीव तो माया के वश स्वभाव से दुष्ट हो रहा है।

मूलं – **अतः कथं भवेन्मार्गस्थितिर्जीवेषु सर्वथा ।**
फलाशाऽपि कथं कार्या जनैस्तत्रास्थितौ पुनः ।।५।।

श्लोकार्थ – ऐसी अवस्था में जीव की मार्ग में स्थिति कैसे हो ? मार्ग में स्थिति न होने पर फल की आशा भी कैसे की जाय ?

व्याख्या – ऐसे दुष्ट क्रिया करने वाले दुष्ट जीव हैं उनकी यह सर्वोपरि पुष्टिमार्ग में स्थिति सर्वथा नहीं होती है। अष्टप्रहर लौकिक विषयादिक में पड़ा है। उसकी पुष्टिमार्ग में किस भांति स्थिति हो ? सर्वथा न हो तो यह जीव पुष्टिमार्गीय फल की आशा कैसे करे ? यह स्थिति नहीं तो फल कहां से सिद्ध होगा। जीव तो तुच्छ और दुष्ट है उनका भी जिस प्रकार लौकिक से छूटने की सिद्धि हो वह उपाय कहते हैं।

मूलं – **तथाऽपि श्रीमदाचार्यचरणाश्रयणादपि ।**
अशक्यमपि यच्छक्यं तद्भवेत्सर्वथैव हि ।।६।।

श्लोकार्थ – श्री मदाचार्यजी के चरणारविंद के आश्रय से जो अशक्य है वह भी सर्वथा ही शक्य हो जाता है।

व्याख्या – यद्यपि जीव अनेक दोषों से भरा हुआ है। इस जीव से दोष छूटते नहीं है। ऐसे ही जिस जीव ने श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरणकमल का दृढ़ आश्रय किया है उसके दोषों का त्याग शक्य है। पुष्टिमार्गीय फल की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। श्रीगुसांईजी कहते हैं – **"चित्तेनदुष्टो वचसाऽपि दुष्टः कायेन दुष्टः क्रियया च दुष्टः । ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराध कतिधा विचार्यः ।।१।। संसार सागरे मग्न जीवोद्धार परायणम् । आश्रये त्वत्पदां भोजं पुरुषोत्तम ! सदगुरो ! ।।२।।** चित्त से दुष्ट, वचन से दुष्ट, काया से दुष्ट, क्रिया से दुष्ट, ज्ञान से दुष्ट और भजन से दुष्ट मेरे

अपराध को कितने प्रकार से विचारने योग्य है ? संसार रूप समुद्र में मग्न जीव के उद्धार करने में तत्पर ऐसे तुम्हारे चरणारविंद को हे श्री पुरूषोत्तम !, हे सद्गुरो में आश्रय करता हूं। श्री महाप्रभुजी कहते हैं – **"शरणस्थसमुद्धारम्"** (शरण में रहे उनके उद्धार करने वाले) **"अशक्येवा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः"** (अशक्य में वा सुशक्य में निश्चय हरि शरण है) इस भांति निःसाधन होकर श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का दृढ़ आश्रय करे इससे पुष्टिमार्ग का फल निश्चय होगा।

मूलं – यदि दुःसंगदोषेण न भवेच्छिथिलं मनः ।
यदि वा कालदोषेणाऽपिविश्वासोऽपि भवेन्न हि ।।७।।

श्लोकार्थ – यदि दुःसंग के दोष से आचार्यश्री के दृढ़ आश्रय करने में मन शिथिल न हो तथा कालदोष से अविश्वास न हो तो अशक्य भी सुशक्य होता है।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि आश्रय से निश्चय फल की सिद्धि होती है उसमें जो दोष महाबाधक है उससे बचे तो फल सिद्धि हो, एक तो दुःसंग हो उस दोष से भाव घट जाय, मन शिथिल हो जाय, उससे आश्रय जाता रहता है। भरत को मृग के दुःसंग से तीन जन्म हुए, द्विविदवानर रामभक्त था वह नरकासुर के संग से श्री बलदेवजी से लड़ा। ऐसे और बहुत से जीव दुःसंग से घिरे हैं। कालदोष से अविश्वास हुआ, जहां अविश्वास हुआ, वहां आश्रय छूटा तब यह जीव निश्चय गिरा।

मूलं – "अविश्वासो न कर्त्तव्य" इत्युक्तेः स तु बाधकः ।
अयमेवाऽस्य मार्गस्य मूलमाश्रयसाधकः ।।८।।

श्लोकार्थ – अविश्वास नहीं करना क्योंकि वह बाधक है ऐसा श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है। इसलिये वह बाधक है क्योंकि पुष्टिमार्ग का आश्रय सिद्ध करने वाले का यह विश्वास है वही मूल है। वृक्ष का मूल स्थित हो तो समग्र वृक्ष स्थित रहे। वैसे ही विश्वास दृढ़ हो तो पुष्टिमार्गीय धर्म – आश्रय दृढ़ रहे।

व्याख्या – अविश्वास नहीं करना, इसके लिये श्री आचार्यश्री महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में कहा है – **"अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः । ब्रह्माऽस्त्र चातकौ**

भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।" (अविश्वास नहीं करना, यह निश्चय ही बाधक है। ब्रह्मास्त्र और चातक पक्षी की भावना करना) ब्रह्मास्त्र में अविश्वास से हनुमान जी लोह की सांकल में बंधे नहीं रहे और चातक का विश्वास है कि मेघ जल देते हैं उस विचार से और ममता रहित होकर प्राप्त का सेवन करना, इस वचन में अविश्वास सर्वथा नहीं करे रावण को अविश्वास हुआ तब ब्रह्मास्त्र छूट गया और हनुमानजी ने लंका जलाई। चातक का विश्वास है तो मेघ का मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसलिये अविश्वास आसुर धर्म है वह सर्वथा नहीं करे यह श्री आचार्यजी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग का मूल है। सर्वोपरि आश्रय का साधक विश्वास ही है।

मूलं – **आश्रयेणैव सकलं सिद्धिमेति न संशयः ।**
पृथक्शरणमार्गोक्तिरत एव प्रभोरपि ।।६।।
शरणस्थसमुद्धारकृतिविज्ञापनादपि ।
विवेकधैर्यभक्त्यादिसाधनाभाववादतः ।।१०।।

श्लोकार्थ – आश्रय करके ही सर्व सिद्धि होती है, इसमें संशय नहीं है। इसीलिये – **"पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा"**। ऐसे नाम श्रीगुसांईजी ने कहे हैं। विवेक, धर्म, भक्त्यादिक साधन के अभाव वाद से शरण में रहे, ऐसे जीवों का उद्धार करने की विज्ञप्ति करने से ही आश्रय में सकल सिद्ध होंगे।

व्याख्या – जिस जीव का प्रभु में दृढ़ आश्रय हुआ उनका सकल कार्य निश्चय सिद्ध हुआ। इसमें संशय नहीं है। श्रीकृष्ण फलात्मक पुष्टि पुरूषोत्तम की शरण का यह पुष्टिमार्ग अपने दैवीजीवों के अर्थ श्री आचार्यजी महाप्रभु ने अलग प्रकट किया है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कृष्णाश्रय ग्रंथ में कहा है – **"शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्"** (शरण में रहे ऐसे जीव का उद्धार करने वाले (अथवा उद्धार करने के निमित्त) श्री कृष्ण को मैं विज्ञप्ति करता हूं।) इस भांति श्री महाप्रभुजी ने श्रीकृष्ण से कहकर अपने पुष्टिमार्गीय सेवकों को शरण सिद्ध किये और विवेक धैर्याश्रय में कहे साधन का जीवों में अभाव है। विवेक धैर्य भक्त्यादि रहित हैं उनको भी शरण किये हैं और विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः"** (अशक्य में वा सुशक्य में निश्चय हरि

शरण है) इस भांति पुष्टिमार्गीय शरण, बिना साधन के जीवों को सिद्ध किया और मर्यादा मार्ग में भगवद् गीता में भगवान् ने शरण मार्ग कहा है – **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"** सर्वधर्म को छोड़कर एक मेरी शरण हो, मैं तेरे को सर्व पाप से मुक्त करूंगा। शोक मत कर। भगवान् ने कहा है, हे अर्जुन ! तू सर्वधर्म छोड़कर मेरी शरण आ, मैं सारे पापों को दूर करके मोक्ष करूंगा। यह मर्यादा की रीति है जो पाप दूर करके फल देते हैं और श्री आचार्यजी महाप्रभु ने तो अपने जीव यद्यपि दोष सहित विवेक, धैर्य, आश्रय रहित हैं तब भी उनका शरण सिद्ध किया है।

मूलं – सन्मार्गविद्भिः सततं कृतप्रभुपदाश्रये ।
तदुक्तवाक्यभावार्थ विभावनपरायणैः ।।११।।

श्लोकार्थ – सन्मार्ग को जानने वाले तथा निरन्तर किया है प्रभु (श्रीकृष्ण तथा श्रीगुसांईजी) के चरणारविंद का आश्रय जिनसे ऐसे और इनने कहे वाक्य (गीता जी तथा विज्ञप्ति आदि) का जो भावार्थ उसकी विशेष भावना में तत्पर ऐसे (भगवदियों) के संग सदा रहना, इसका संबंध तीसरे श्लोक से है।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में जो जीव श्री आचार्यजी द्वारा शरण आये हैं उनको श्री आचार्यजी निश्चय प्रभु के पद का आश्रय आप ही सिद्ध करेगे। अपने जीवों के अर्थ यह शरण मार्ग प्रकट कियाहै। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु के वाक्य की भावना अष्टप्रहर करे। मेरे लिये श्री महाप्रभुजी की प्रतिज्ञा कर शरण सिद्ध किया है। इस भांति वचन के भाव में अष्टप्रहर परायण रहे, दृढ़ विश्वास रखे, श्रीकृष्ण के सन्मुख कृष्णाश्रय का पाठ करे तो सकल कार्य सिद्ध हो।

मूलं – यथाशक्तिस्वमार्गीयप्रभुसेवापरैरपि ।
विरुद्धकृतिसंदेहदाहनोद्योगतत्परैः ।।१२।।

श्लोकार्थ – जो भगवदीय यथाशक्ति प्रभु की स्वमार्गीय प्रकार से सेवा करने में परायण है तथा विरुद्ध कृति एवं संदेहों के भस्म करने में उद्यमशील हैं उनका संग करना चाहिए।

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – यथाशक्ति पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा जितनी हो उतनी करे। **"अकाले वा सुकाले वा विकाले वा"** (समय बिना, अच्छे समय में अथवा विपरीत समय में) इस भांति तीनों वचन श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहे हैं। श्री भागवत के अष्टम स्कंध में ब्रह्माजी ने कहा है – **"यथा हि स्कंधशाखानांतरोर्मूलावसेचनम् । एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि"** (जैसे वृक्ष के मूल को (जल का) सिंचन है, वह बड़ी शाखा, छोटी शाखा, पत्र तक सर्व को प्राप्त होता है और पत्र शाखा में सिंचन करे तो कुछ फल नहीं हो, उल्टा बिगाड़ हो) वैसे विष्णु की आराधना है। वह सर्व देवों की तथा आत्मा की ही आराधना है। अन्य देव का आराधन है वह देव को तथा प्रभु को प्राप्त नहीं होती है। भगवान् की सेवा कर जो वृक्ष के मूल में जल दिया है उससे शाखा, पत्र, सर्व हरा होता है। वैसे ही ओर देवों की सेवा पत्र शाखावत् है। इसलिये प्रभु की सेवा करनी। यह पुष्टिमार्गीय भगवदीय का मुख्य धर्म है और पुष्टिमार्ग से जितना विरुद्ध है उसको अग्निवत् जानना। इससे जलूंगां इस भांति भय मानकर छोड़ने का उद्यम रखे। एतन् मार्ग विरुद्ध कृति का त्याग ही करना।

मूलं – **निरंतरं स्वमार्गीयसतां संगसमन्वितैः ।**
स्थेयं संसारविमुखैः स्वगुरुं प्रणतैरपि ।।१३।।

श्लोकार्थ – निरंतर स्वमार्गीय सत्पुरुष के संग युक्त तथा अहंता ममता रूप संसार से विमुख और अपने गुरु श्री मदाचार्यजी के अत्यन्त नम्रीभूत (नमनपूर्वक श्रीआचार्यजी की आज्ञा में रहने वाला) ऐसे भगवदीय के संग रहना।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय भगवदीय का संग निरन्तर करे, श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"सेवायां वा कथायां वा यस्या सक्तिर्दृढ़ा भवेत्"** (सेवा में अथवा कथा में जिनकी आसक्ति दृढ़ हो) सेवा से पहुंचकर भगवदीय के मुख से कथा सुनना, क्योंकि जो निरोध लक्षण में कहा है – **"महतां कृपया यद्वत्कीर्त्तनं सुखदं स्मृतम्। न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरुक्षवत्"** (महत्पुरुष की कृपा से कीर्त्तन जैसा सुख देने वाला सुना है वैसा लौकिक के संग से नहीं है। महत्संग है वहां स्निग्ध (घृतयुक्त) भोजन बराबर और लौकिक संग है वह रुक्ष (घृत बिना रुखा) भोजन बराबर है।

भगवदीय के संग कथा है वह सुन्दर स्निग्ध है। महाप्रसाद भोजन है उससे सर्वदोष निवृत्ति है, और लौकिक जन के मुख की वार्ता है, वह रुखा आसुरी भोजन है। इसलिये स्वमार्गीय वैष्णव का संग कर्तव्य है। इस लौकिक संसार से विमुख रहे, अपने गुरु के शरण रह दीन होकर प्रणिपत्ति में रहे – **"त्रायस्व भो जगन्नाथ! गुरो! संसारवह्निना । दग्धं मां कालदष्टं च त्वदीयशरणागतम्।।"** (हे जगत् के नाथ! गुरो! संसार रुप अग्नि से जला और कालरुप सर्प ने डसा ऐसा आपके शरण में आया हूं। उसकी रक्षा करो) यह भाव करके गुरु की शरणागत रहे क्योंकि जो गुरू की कृपा हो तो प्रभु कृपा करे और गुरु अप्रसन्न हो तो प्रभु भी अप्रसन्न हो। **"हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन"** (प्रभु अप्रसन्न हो तो गुरु रक्षा करे और गुरु अप्रसन्न हो तो कोई रक्षा नहीं करे) इसलिये गुरु से प्रणिपात युक्त रहे। इस भांति वैष्णव रहे उसको श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के फल का अनुभव हो।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१७।।

बड़े शिक्षापत्र १८

अब १८वें शिक्षापत्र में भगवदियों को केवल उदर भरणार्थ कार्य करना उचित नहीं है किन्तु विरह करके सर्वत्र भगवत्स्फूर्ति से लीलातिरिक्त सृष्टि में आनंद रहित जान जो कुछ उपाय कर प्रपंच का विस्मरण कर हृदय में स्थापन करे और श्री मदाचार्यजी तथा श्री गुसांईजी और स्वामिनीजी आदि से अन्य में भगवद् तुल्यबुद्धि नहीं करना यह निरूपण है। ऊपर शरण का और सेवा का प्रकार कहा है। उसमें यह कालबाधक है। इसको जीव नहीं जानता है, उनको जिस भांति ज्ञान हो उसका निरूपण करते हैं।

मूलं – कालः स्वकार्यं कुरुते न जानाति जनो यतः ।
प्रमाद्यति हरेः कार्ये स्वात्मकार्येऽतिविह्वल ।।१।।

श्लोकार्थ – काल (सर्व का आयुष्य हरण करने का) अपना कार्य करता है, यह जीव नहीं जानता है इसलिये प्रभु के कार्य सेवादिक में प्रमाद करता है। अपने कार्य में बहुत विह्वल है।

व्याख्या – काल अपना कार्य करता जाता है। क्षण–क्षण में जीव की आयुष्य को हरता है। जीव यह नहीं जानता है कि मेरी आयु दिन–प्रतिदिन घटती है। काल नित्य लिये जाता है। यह ज्ञान जीव को नहीं होता है। इसलिये अपने कार्य में प्रमादी हो रहा है। लौकिक वैदिक संसार को काम देह इन्द्रियों का पोषण, विषयादिक अनेक कार्य की चिंता से ग्रसित है। इसलिये प्रमादी है। इस कारण ज्ञान नहीं होता है। वह काल सारी आयुष्य का भक्षण करता है। मेरी क्या गति होगी ? मेरा क्या कर्तव्य है ? यह ज्ञान नहीं होता है। अनेक कार्य में प्रमादी है और अपने कार्य में विह्वल हैं। देह संबंधी संसार का कार्य है उसमें तत्पर है। आत्म संबंधी भगवद् धर्म, सेवा, स्मरण, कीर्त्तन, वार्त्ता, कथा इत्यादि कार्य में विह्वल नहीं होता है।

मूलं – **केवलौदरिकत्वं तु तदीयानां न चोचितम् ।**
न पूरयेत् किमुदरं सेवकानां कृपानिधिः ।।२।।

श्लोकार्थ – तदीयों को केवल उदर भरण संबंधी व्यापार करना उचित नहीं है क्योंकि जो कृपा के निधि प्रभु हैं, वे अपने सेवकों के उदर को क्या नहीं पूरेंगे ? पूरेंगे ही।

व्याख्या – ऊपर कहा है कि लौकिक कार्य में विह्वल हैं। केवल उदर भरण के कार्य में तत्पर है। यह पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिये उचित नहीं है। क्योंकि वे श्रीकृष्ण तो कृपा के निधि हैं। सारे जगत के भरण पोषणकर्त्ता हैं। वे क्या अपने सेवकों का पालन नहीं करेगे ? सेवकों के ऊपर तो सदा कृपा करते ही आये हैं। इस भांति वैष्णव श्री ठाकुरजी का विश्वास मन में रख सर्वदा भगवद् धर्म आचरण करे तथा व्यवहार बिना नहीं चले तो अनवसर में प्रहर एक तथा घड़ीचार व्यवहार भी करे और मन में यह जाने कि जितना मिलना होगा, वह प्रहर एक तथा चार घड़ी में सब मिलकर रहेगा। यह विचार वैष्णव मन में रखे। भगवान् का माहात्म्य विचारे कि प्रभु सर्व सामर्थ्ययुक्त है। सब सिद्ध करेगे।

मूलं – **चिंता कापि न कार्येति प्रभुवाक्यं विचिंत्यताम् ।**
अज्ञानिनो ज्ञानिनश्च यदि स्यात् समता कृतौ ।।३।।
तदा तु साधनाभावात् किं वृत्तं ज्ञानतः फलम् ।

बड़े शिक्षापत्र १८

श्लोकार्थ – नवरत्न में श्री महाप्रभुजी ने कहा है कि चिंता कुछ भी नहीं करनी उसके ऊपर विवरण में श्री गुसांईजी कहते हैं कि जो लौकिक चिंता तो भगवदीय को नहीं होती है। परन्तु भगवदर्थ भी चिंता नहीं करनी ऐसा प्रभु का वाक्य है। यह विचारना और जहां अज्ञानी और ज्ञानियों की कृति में तुल्यता निरूपण किया है। साधन का अभाव हो तब साधन के अभाव से ज्ञान का क्या फल हुआ?

व्याख्या – मन में चिंता नहीं करे उसके लिये नवरत्न में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदाऽपि । भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्।"** (निवेदन किया है आत्मा (आत्म संबंधी सर्व) जिनने ऐसे वैष्णवों को कुछ भी चिंता नहीं कर्तव्य है। क्योंकि जो जिनको निवेदित हुआ है ऐसे भगवान् भी पुष्टिस्थ हैं इसलिये लौकिक गति नहीं करेगे) इत्यादि वचन का अहर्निश मन में विचार करे यह नहीं जाने कि मैं कुछ जानता नहीं हूं प्रभु कैसे कृपा करेगे? यह विचारना कि प्रभु का ज्ञान, भक्त और अज्ञानी दोनों बराबर हैं। इसके लिये नवरत्न में श्री आचार्यजी ने कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम्"** (अज्ञान से अथवा ज्ञान से जिनने आत्मनिवेदन किया है, उसको क्या चिंता है?) यह निवेदन श्री आचार्यजी द्वारा ज्ञान से किया अथवा अज्ञान से अथवा देखादेखी किया तब भी चिंता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अग्नि का यह स्वभाव है कि जानकर या अजानकर हाथ धरे वह भस्म हो जाय इस लौकिक अग्नि में इतना सामर्थ्य है तो यह तो श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन किया उसकी लौकिक गति कभी नहीं होती है। श्री भागवत के षष्ठ स्कंध में कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् । संकीर्तितमघं पुंसां देहेदेधो यथाऽनलः।।"** (अज्ञान से अथवा ज्ञान से ग्रहण किया ऐसा जो उत्तम यश वाला भगवान् का नाम है वह अग्नि काष्ठ को जलाता है वैसे पाप को जला देता है) अज्ञान से और ज्ञान से भगवन्नाम ले तो सकल दोष भस्म हो जाते हैं। इत्यादि वचन की भावना मन में रख चिंता रंचक भी नहीं करनी एक प्रभु का आश्रय मन में रख वहां जीव बुद्धि से यह चिंता हो जो साधन कुछ नहीं तब ज्ञान से क्या फल सिद्ध हो? वह भी चिंता नहीं कर्त्तव्य है। यदि साधन नहीं बने तब भी श्री आचार्यजी के अंगीकार से निवेदन की फलसिद्धि है और ज्ञान वाले भक्तों को जो विरह

भावना होती है, वह आगे श्लोक में कहते हैं।

मूलं – **विरहेण हरिस्फूर्त्या सर्वत्र क्लेशभावनात् ।।४।।**
लीलातिरिक्तिसृष्टौ हि निरानंदत्वनिश्चयात् ।
यथाकथंचिद्विस्मृत्य प्रपंचं हृदये न्यसेत् ।।५।।

श्लोकार्थ – जो ज्ञान वाले हैं उनको लीला व्यतिरिक्त पदार्थ में आनंद रहित का निश्चय होने से सर्वत्र क्लेश की भावना हो उससे विरह कर हरि की स्फूर्ति हो, उसी से जैसे तैसे प्रपंच का विस्मरण कर श्रीकृष्ण का हृदय में स्थापन करे

व्याख्या – जब श्री आचार्यजी महाप्रभु जीव को विप्रयोग दान दें तब विरह हृदय में हो, क्लेश की भावना हो, हरिसर्व दुःखहर्त्ता का विरह सब स्थान पर हो, श्री ठाकुरजी के संबंध बिना और कुछ अच्छा नहीं लगे। क्षण–क्षण में विप्रयोग की भावना हो। इस भांति जिसके विप्रयोग अग्नि हृदय में प्रकट हो उन्हीं को ये पुष्टिमार्गीय फल का अनुभव हो। लीला संबंध रहित जो प्रवाही सृष्टि है वह निरानंद है। उसको प्रभु अपने आनंद का दान कभी नहीं करते हैं। वे चर्षणी की तरह सदा संसार में घूमते हैं। उनके यह संसार ही फल हैं। उनको भगवद् लीला संबंध का आनंद नहीं है। आनंद से रहित है। यह निश्चय जानना। भगवत्लीला संबंधी दैवी सृष्टि है। वह श्री महाप्रभुजी द्वारा शरण आकर सत्संग कर एक ही बार जिनका प्रपंच नहीं छूटता है वह थोड़ा–थोड़ा क्रम–क्रम से छोड़ता है। अहर्निश अपने मन में विचार कर प्रभु का स्मरण करता है। यह ज्ञान हृदय में होता है। हम तो प्रभु के दास हैं अज्ञान से प्रभु को भूल गये हैं। हमारा तो धर्म यही है कि प्रभु की सेवा स्मरण करना इस भांति दैवी जीवों को ज्ञान होता है। आसुरी जीवों को नहीं होता है।

मूलं – **कृष्णं गूढं सदानंदं तथा लीलायुतं सदा ।**
रसं स्वसमनामानं भक्तभावात्मकं पुनः ।।६।।

श्लोकार्थ – पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापन करे, ऐसा कहा है वे श्रीकृष्ण कैसे हैं ? वह आगे निरूपण करते हैं। गूढ सदा आनंद रूप तथा लीलायुक्त, सदा रसरूप, अपना नाम जो सच्चिदानंदात्मक (कृष्ण) हैं उनके बराबर नाम वाले (ब्रह्म रूप) और फिर भक्तों के भावात्मक ऐसे श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापित करे

व्याख्या – श्रीकृष्ण कैसे हैं ? महागूढ़ सर्वोपरि है जिनका वेद आदि पार नहीं पाते हैं। 'नेति नेति' कहते हैं। बुद्धि से अगोचर है और सदा आनंद रूप है। एक रस रूप है, जिनके आनंद की एक कणिका में सारे जगत को आनंद है। श्रीकृष्णाश्रय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"प्राकृताः सकला देवा गणितानंदकं बृहत् । पूर्णानंदो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम"** (सर्वदेव प्राकृत है। इनके आनंद की गिनती होती है जो मनुष्यों के शत आनंद हो जब मनुष्य गंधर्व को एक आनंद हो ऐसे गिनते अक्षर ब्रह्म भी आनंद की गणना वाले हैं और श्रीकृष्ण पूर्णानंद है वह मेरे गति हो) और देवता तो प्राकृत हैं। उनका आनंद भी प्राकृत है। अक्षरानंद भी सारे आनंद की गणना में अपार नहीं है और श्रीकृष्ण पूर्णानंदी है। जिनके आनंद का पार नहीं है। श्रीकृष्ण सदा आनंद रूप है और सदा व्रज भक्तों के हित रस रूप लीला में मगन है। भक्तों के संग मानादिक लीलाओं में रस वृद्धि करते हैं। आप रस रूप अपने भक्तों से मान छोड़ते हैं। दीन होकर मनाते हैं। गीत गोविंद में कहा है – **"स्मरगरलखंडनं मम शिरसि मंडनं धेहि पदपल्लवमुदारम्"** (इस भांति प्रार्थना करते हैं। जो अपना चरणारविंद मेरे मस्तक ऊपर धरो तुम्हारा पद पल्लव मेरे मस्तक का श्रृंगार है। इस भांति अनेक दैन्य करते हैं। व्रजभक्तों के भावात्मक है। श्रीकृष्ण का रस व्रजभक्त भाव करके अनुभव करते हैं)

मूलं – यशोदोत्संगललितं मुग्धभावसमावृतम् ।
प्रपंचवैरिणं बाधहेतुलौकिकनाशनम् ।।७।।

श्लोकार्थ – श्री यशोदाजी के उत्संग में शोभित, मुग्ध भाव से अति सुन्दर, प्रपंच के वैरी और सेवा में बाधक रूप लौकिक हेतुओं का नाश करने वाला (श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापन करे)

व्याख्या – श्रीकृष्ण कैसे हैं ? श्री यशोदाजी अपने उत्संग में लेकर खिलाती हैं। उससे परम शोभा हो रही है। मुग्ध बालक की तरह श्री यशोदाजी के कंठ में वेष्टित है। प्रपंच यह देह संबंधी स्त्री, पुत्र, पति, घर, लौकिक वैदिक कार्य उसके वैरी हैं। श्री यशोदाजी रंचक भूमि में प्रभु को धरकर दूध उफन रहा था उसको संभालने गई यह श्री ठाकुरजी सह नहीं सके (मेरे से दूध विशेष प्रिय है) दही के माट फोड़ दिये। माखन बंदरों को खिला दिया। यह कहकर बताया कि मेरे को छोड़ गृह कार्य करेगे उसका गृहकार्य लौकिक,

वैदिक कुछ सिद्ध नहीं होगा। जिन–जिन भक्त ने प्रभु का आश्रय किया उन सबका प्रपंच नष्ट हुआ, क्योंकि प्रपंच में आसक्ति बाधक है। इसलिये लौकिक, काम, क्रोध, मद, मत्सर, अहंता, ममता, माया कृत लौकिक सभी के नाशकर्त्ता हैं। अपने में आसक्ति वाले भक्तों के लौकिक सब दूर करते हैं।

मूलं – स्वप्रवेशाय कामादिसर्वदोषनिवारकम् ।
स्वार्थत्यक्ताखिलस्वीयपरमार्तिमहोत्सवम् ।।८।।

श्लोकार्थ – अपने प्रवेश के अर्थ (हृदय में से कामादि दोष निकले तब प्रभु का आविर्भाव हो, उसके लिये) कामादिक सर्व दोषों की निवृत्ति करने वाले और अपने लिये त्यक्त किये हैं अखिल (लौकिक वैदिक) जिनने ऐसे स्वीय–भगवदियों की विप्रयोग की आर्ति कर बड़ा उत्सव है जिनका (ऐसे श्रीकृष्ण का हृदय में स्थापन करे)

व्याख्या – ऐसे श्रीकृष्ण जब भक्तों के हृदय में प्रवेश करने का विचार करते हैं, उसी समय उस भक्त के हृदय में काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि सकल दोष दूर करते हैं। यह कहकर यह जताया है कि जहां तक भक्त के हृदय में कामादि दोष भरे हैं वहां तक श्रीकृष्ण हृदय में नहीं पधारते हैं। जब दोष दूर हो तब जानना कि प्रभु हृदय में निश्चय ही पधारेंगे। श्रीकृष्ण भक्त के हृदय में पधारकर (लौकिक वैदिक कार्य छोड़कर अपने दर्शन की आर्ति वाले भक्तों का विरह होता है वह) परम आर्ति (दुःख) देते हैं। वह महा उत्सव रूप जानते हैं। व्रजभक्तों को सिद्ध है जिनके हृदय में भावात्मक श्रीकृष्ण बिराजते हैं इसलिये गृहकार्य नहीं बनते हैं, सारे दिन वेणु गीत युगल गीतादिकों ज्ञान करके बताते हैं और रास पंचाध्यायी में प्रभु अंतर्धान हुए पीछे व्रजभक्तों को महा विरह हुआ तब फिर प्रभु प्रकट हुए और रस दान किया। यदि विरह नहीं होता तो प्रभु कैसे प्रकट होते ? इसलिये श्रीकृष्ण में जितनी विरहार्त्ति अधिक हो वह महोत्सव रूप है।

मूलं – श्रीमदाचार्यहृदयशेषपर्यंकशायिनम् ।
अनंतभावरुपात्मगोपीरमणतत्परम् ।।६।।

श्लोकार्थ – श्री मदाचार्यजी के हृदय रूप शेष शैय्या में पोढ़ने वाले और अनंत भाव रूप हैं स्वरूप जिनका ऐसे व्रजभक्तों के संग रमण करने में तत्पर (श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापित करे)।

व्याख्या – ऐसे भावात्मक श्रीकृष्ण श्री आचार्यजी के हृदय में भक्तों सहित लीला करते हैं, जैसे क्षीरसागर में शेष शय्या है। वैसे ही श्री आचार्यजी का हृदय शय्या रूप है। वहां शेष शय्या पर नारायण पोढ़े हैं, यहां श्रीकृष्ण भावात्मक रसात्मक पोढ़े हैं। वहां एक लक्ष्मी संग है यहां अनेक भावात्मक कोटानकोटि व्रजभक्तों के संग रमण में तत्पर हैं। वे श्री आचार्यजी अपने हृदय के भाव जताकर दशम स्कंध में श्री सुबोधिनीजी में कहा है – **"नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम् । लक्ष्मीसहस्रलीलाभिःसेव्यमानं कलानिधिम् ।।"** (हृदय रूप शेष में लीला रूप क्षीरसागर में पोढ़ने वाले और अनेक लक्ष्मी की लीला करके सेव्यमान कला के निधि रूप श्रीकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ) इस भांति अपने श्री आचार्यजी के हृदय में प्रभु लीला करते हैं। उनको (मंगलाचरण में नमस्कार कर श्री सुबोधिनीजी प्रकट की है) इस भांति श्री आचार्यजी महाप्रभु अपने निजभक्तों में अपने हृदय की लीला प्रकट कर दिखाते हैं। वह भक्त इस भांति लीला सहित श्री आचार्यजी महाप्रभु का स्मरण करे तो अनुभव हो।

मूलं – मधुपालिजवोद्युक्तरोमालिसुविराजितम् ।
प्रसन्नवदनांभोज करुणारसवद्दृशम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – भंवर पंक्ति के वेगयुक्त रोम पंक्ति कर विशेष शोभित और प्रसन्न हैं। मुखारविंद ऐसे और करुणा (दया) रस वाली दृष्टि जिनकी (ऐसे श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापित करे)।

व्याख्या – श्रीकृष्ण कैसे हैं। नाभिकमल पास रोमावलि हैं वह भ्रमर की पंक्ति की तरह शोभा देती है। मुखारविंद अत्यन्त प्रसन्न है, व्रजभक्तों के संग अनेक लीला करते हैं। उसका आनंद हुआ है। उस कारण वदन कमल अति प्रफुल्लित है। करुणारस संयुक्त है। भक्तों के उपर करुणा रस से युक्त हैं। भक्तों के ऊपर करुणा दृष्टि कर रसपान कराते है।

मूलं – बर्हिपिच्छशिरोभूषं श्रृंगाररसरुपिणम् ।
एवंविधानंतगुणं विधाय हृदये सदा ।।११।।
तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः ।
न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये ।।१२।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – मयूर के पिच्छ का मुकुट है जिनके ऐसे और श्रृंगार रस रूप, ऐसे अनंत गुण वाले श्रीकृष्ण को सदा हृदय में स्थापित कर स्वधर्म से जीवित रहे वहां तक इनकी सेवा करे फल के अर्थ, भोग के अर्थ और प्रतिष्ठा की सिद्धि के अर्थ नहीं करे

व्याख्या – मोर के पिच्छ का मुकुट संवार कर मस्तक पर धारण किया है। वही श्रृंगार रस रूप है। मोर जब रसदान करता है तब नृत्य करता है। वैसे ही श्री ठाकुरजी मोर के मुकुट का श्रृंगार कर भक्तों को रसदान करते हैं। इसलिये मोर मुकुट का श्रृंगार है वह श्रृंगार रस रूप है। इस भांति रसादिक लीला में अनेक जल स्थल लीला संयुक्त श्रीकृष्ण का अपने हृदय में ध्यान कर, स्मरण कर, दर्शन कर हृदय में सदा ही नित्य नियम कर धारण करे उपर कहा है ऐसे श्रृंगार रस रूप श्रीकृष्ण का सदा हृदय में मानसी सेवा से ध्यान करे। प्रथम तनुजा वित्तजा सेवा मन लगाकर करे तब मानसी सेवा सिद्ध होती है।

सिद्धान्त मुक्तावली ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता"** (श्रीकृष्ण सेवा सदा करनी उसमें मानसी उत्तम है।) श्रीकृष्ण की सेवा सदा करे उनको मानसी सेवा सिद्ध हो यह पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का धर्म है। श्रीकृष्ण की सेवा सदा करे, जैसे ब्राह्मण गायत्री जप नहीं करे तो ब्राह्मत्व चला जाता है वैसे वैष्णव होकर भगवत्सेवा नहीं करे तो वैष्णवता जाय इसलिये श्रीकृष्ण की सेवा अपना स्वधर्म जानकर करे। कुछ लौकिक, वैदिक, मोक्ष आदि फल की आशा रखकर सेवा नहीं करे, मैं सेवा करूंगा तो मेरे को वैष्णव जानकर कोई कुछ दे जाय यह लोभ मन में नहीं रखे और प्रतिष्ठा के अर्थ भी सेवा नहीं करे मैं सेवा करूंगा तो मेरी बडाई होगी, लोक भला वैष्णव जानेंगे इस भांति अपने को प्रसिद्ध करने के लिये सेवा नहीं करे श्री भागवत के नवम स्कंध में भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है – **"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छंति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विप्लुतम्।।"** (मेरी सेवा करके प्राप्त सालोक्यादि चारों मोक्ष वे नहीं चाहते हैं क्योंकि जो सेवादि से पूर्ण हैं ऐसे काल में डूबे ऐसे राज्यादिक को कैसे चाहेंगे?) इत्यादि वचन से श्री भगवान् कहते हैं जो भक्त मेरी सेवा कर पूर्ण है, वे चारों प्रकार की मुक्ति (सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारुप्य) मेरे देने पर भी नहीं लेते हैं। ऐसे पूर्ण निष्काम हैं, उनको काल बाधित करने वाला क्या पदार्थ है? इस भांति मन पूर्वक सेवा करे यह वैष्णव का स्वधर्म है।

बड़े शिक्षापत्र १८

मूलं – **श्री मदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन ।**
न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात् ।।१३।।

श्लोकार्थ – श्री मदाचार्यजी ने सर्व निर्णय में सेवा प्रकार निरूपण किया है, उस रीति से सेवा कर, अन्य मार्ग से कभी नहीं करे, कल्पित प्रकार से (ग्रीष्म ऋतु में आभरण धरना इत्यादि नहीं करे) और दुर्भाव आ जाय (जैसे समृद्धि में आभरण वस्त्रादि उत्तम नहीं मिले) उससे दुर्भाव आवे वैसा नहीं करे

व्याख्या – वैष्णव सेवा करे वह श्री आचार्यजी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग की रीति है, उस अनुसार करे कदाचित् भूलकर भी अन्य मार्ग की रीति से नहीं करे और अपने मन से कल्पित प्रकार से भी नहीं करे पुष्टिमार्गीय प्रकार नहीं जाने तो भगवदीय से पूछ ले, मन कल्पित सर्वथा नहीं करे, दुर्भाव से नहीं करे, जो जैसे लौकिक कार्य है वैसे सेवा भी है। ऐसे अश्रद्धा से नहीं करे प्रीतिपूर्वक सर्वोपरि परम फलरूप जानकर सेवा करे।

मूलं – **तत्त्वं विदित्वा परमं यशोदोत्संगलालितम् ।**
श्रीमदाचार्यतत्पुत्रान् हित्वाऽस्मत्स्वामिनीरपि ।।१४।।

तत्तुल्यबुद्धया नाशः स्यात्सर्वथेति विनिश्चयः ।
एतावती सती शिक्षा संक्षिप्ता ध्रियतां हृदि ।।१५।।

श्लोकार्थ – श्री यशोदाजी के उत्संग में लालित श्रीकृष्ण को परम तत्व जानकर श्री मदाचार्यजी, इनके पुत्र और श्री व्रजभक्तों को छोड़कर इनके तुल्य बुद्धि से सर्वथा नाश हो यह निश्चय है। इतनी सत्य संक्षेप शिक्षा हृदय में धारण करनी।

व्याख्या – वैष्णव भगवत्सेवा करे और यह चारों पदार्थ को परम तत्व जाने। श्री यशोदोत्संग लालित प्रंथम तत्व, श्रीगुसांईजी ने कहा है – **"जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संग लालितम् । तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः"** (श्री यशोदोत्संग लालित श्रीकृष्ण को परम तत्व जाने उससे अन्य अथवा अन्य ऐसे जो कहे उनको आसुर जानना) इस भांति प्रथम तत्व श्री यशोदोत्संग लालित, श्री आचार्यजी महाप्रभु दूसरा तत्व, श्री गुसांईजी (श्री विट्ठलनाथजी) तृतीय तत्व, अस्मत्स्वामिनीजी (व्रजभक्त) चतुर्थ तत्व, यह परम तत्व अपने मन में जाने। उपर कहे चारों तत्व श्रीकृष्ण, श्री आचार्यजी, श्री गुसांईजी,

बड़े शिक्षापत्र

श्री स्वामिनीजी समान लौकिक में किसी अन्य को जाने उनका शीघ्र ही नाश हो तथा उसको आसुर जानना। वार्ता में बताया है कि मीराबाई के घर रामदास जी ने श्री आचार्यजी के पद गाये तब मीराबाई ने कहा कि कुछ श्री ठाकुरजी के पद गाओ। यह सुनते ही रामदास ने कहा कि दारी रांड यह पद कहा तेरे खसम को है ? आज पीछे तेरा मुख नहीं देखूंगा। पीछे मीरा बाई ने बहुत मनुहार की, रखने लगी परन्तु नहीं रहे। वह गांव छोड़ दिया और छीतस्वामी बीरबल के यहां वरसोंदी लेने गये (वार्षिक बंधान) वहां गाया – **"छीतस्वामी गिरिधरन श्रीविट्ठल येही तेही तेही येहि कछु न संदेह"** यह सुनकर बीरबल ने कहा देशाधिपति पूछेगा तो क्या जवाब दोगे, यह सुनते ही छीतस्वामी ने कहा जो मेरे भाये तो तुम भी म्लेच्छ हो। आज पीछे तेरा मुख नहीं देखूंगा। ऐसे कहकर वार्षिक बंधान छोड़कर चले आये। ऐसी टेक वैष्णव रखे। इसलिये इन चारों तत्व को लौकिक में इन समान जाने उसका निश्चय ही नाश हो। अब श्रीहरिरायजी कहते हैं जो इस प्रकार पत्र में शिक्षा लिखी है, वह तुम विचार कर हृदय में अवश्य ही धारण करना।

मूलं – अन्येऽपि चोपदेष्टव्या यदि स्युरधिकारिणः ।
मिलंति स्वेच्छया श्रद्धायुताः पृच्छंति चेत्तदा ।।१६।।

श्लोकार्थ – यदि अन्य भी अधिकारी मिले और श्रद्धायुक्त होकर अपनी इच्छा से पूछे तो इनको भी उपदेश करना।

व्याख्या – ऊपर जो शिक्षा कही है वह ओर के आगे मत कहना। शिक्षा के अधिकार योग्य हो उसके आगे कहना। भगवदिच्छा से आप ही आकर प्रार्थना कर श्रद्धायुक्त होकर पूछे। चित्त लगाकर सुने उससे कहना। अपनी इच्छा से बुलाकर मत कहना। यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। इसलिये अधिकारी पात्र बिना रस नहीं ठहरता, यह जानकर ओर के आगे मत कहना।

मूलं – जीवतत्परतासिद्धौ कृपालुस्तेषु तुष्यति ।
यथा विषयिणां तोषो दूतिकासु तथा हरेः ।।१७।।

श्लोकार्थ – जीव की भगवतत्परता की सिद्धि हो तब कृपालु प्रभु भगवद् वार्तादिक करने वाले उपर प्रसन्न होते हैं, जैसे कामी पुरुषों को संतोष इसी के उपर होता है वैसे ही हरि

को संतोष भगवद् वार्ता करने वाले भक्तों के उपर होता है।

व्याख्या – उपर कहे तद्नुसार यह जीव भगवद् धर्म में तत्पर हो तब यह पुष्टिमार्गीय फल सिद्ध हो जैसे प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु ने बहुत दुःख दिया परन्तु प्रह्लाद जी ने अपनी तत्परता भगवद् धर्म भगवान् का आश्रय नहीं छोड़ा। तब श्री नृसिंहजी ने प्रकट होकर प्रतिबंध दूर किया। फलसिद्धि हुई। वैसे ही पुष्टिमार्गीय वैष्णव पुष्टिमार्ग में तत्पर हो तब फल सिद्ध हो। प्रभु कृपालु हैं वह ऐसे भक्तों के उपर संतोष हो तब प्रसन्न हो। जैसे विषयी को इसी में संतोष होता है वैसे ही श्री भगवान् अपने भक्तों की अनन्यता देखकर उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न होकर अपने दास के सारे कार्य पूर्ण करते हैं। सदा कृपा करते हैं। प्रतिबंध दूर का फल देते हैं, यह निश्चय सिद्धान्त है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१८।।

बड़े शिक्षापत्र १६

अब १६वें शिक्षापत्र में इस कराल कलिकाल में कुसंग से सत्पुरुषों की बुद्धि भी नाश को प्राप्त होती है, वहां सत्संग तो अत्यन्त दुर्लभ है इसलिये निरंतर अष्टाक्षर मंत्र का उच्चारण कर मन को श्री मदाचार्यैक शरण करने का निरूपण है। उपर कहा उस प्रकार वैष्णव तत्पर रहे तो फल सिद्ध हो उसमें यह कलिकाल महाबाधक है, इससे बचे तो फल की सिद्धि होती है, उसका वर्णन आगे करते हैं।

मूलं – इदानीं वर्त्तते कालः करालः कलिरीदृशः ।
यस्मिन् विनश्यति मतिः सतामपि कुसंगतः ।।१।।

श्लोकार्थ – अब ऐसा कराल कलिकाल है जिसमें सत्पुरूष की भी मति कुसंग से नष्ट हो जाती है।

व्याख्या – यह अब जो काल वर्तमान है वह महाकराल है। उसका प्रवाह दिखाई देता है। क्योंकि सत्पुरूष की मति भी कुसंगति से भ्रष्ट हुई है। तब अज्ञानी की बुद्धि भ्रष्ट हो उसमें क्या कहना ? ऐसा कठिन काल आया है। वहां कोई कहे कि सत्पुरूष की बुद्धि क्यों

भ्रष्ट हुई, वहां कहते हैं –

मूलं – **सत्संगो दुर्लभो यत्र सततं सत्प्रसंगतः ।**
कथाः कृष्णचरित्रैकयुता नित्यं भवंति हि ।।२।।

श्लोकार्थ – सत्संग दुर्लभ है जिस सत्संग में सत्पुरुष के प्रसंग से श्रीकृष्ण के चरित्र से युक्त ऐसी कथा नित्य होती है।

व्याख्या – सत्संग तो बहुत दुर्लभ है, मिलता नहीं है। निरन्तर दुःसंग से सत्प्राणी की बुद्धि का नाश हुआ है। एक क्षण भी भगवदीय का प्रसंग दुर्लभ हुआ है तब सदा कहां से हो ? जब निरन्तर भगवदीय का संग हो। श्रीकृष्ण की लीला प्रीति से सुने, नित्य श्रीकृष्ण की सेवा करे, जो भगवदीय स्वयं सेवा करता हो, कथा लीला सुनता हो, ऐसा भगवदीय हो स्वयं करे और को बतावे, उसका संग करे जैसे भीगा कपड़ा हो वह सूखे कपड़ा को भी गीला करे। वैसे ही आप भगवद् धर्म में तत्पर हो और को भी तत्पर करे।

मूलं – **निजाचार्यपदांभोजसेविनस्तु सुदुर्लभाः ।**
अदंभिनः कृष्णसेवाकथाचिंतनतत्पराः ।।३।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के चरणारविंद का सेवन करने वाले और दंभ रहित तथा श्रीकृष्ण की सेवा कथा के चिंतन करने में तत्पर, ऐसे भगवदीय तो दुर्लभ है।

व्याख्या – और भगवदीय कैसे हो ? जो अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल की सेवा में अहर्निश जिसका मन हो ऐसे अनन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीय बहुत दुर्लभ हैं। अदंभी हो, पाखंडी नहीं हो, श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर हो, श्रीकृष्ण की लीला चिंतन में तत्पर हो। जो दिखाने के लिये सेवा नहीं करता हो, मन शुद्ध हो, ऐसे भगवदीय तो इस काल में बहुत दुर्लभ है।

मूलं – **अहं तु सर्वथा नित्यं तथा सत्संगवर्जितः ।**
क्लिश्यामि मनसा नूनं निरानंदेन नित्यशः ।।४।।

बड़े शिक्षापत्र १६

श्लोकार्थ – अब श्री हरिरायजी अपने को सत्संग के अभाव का निरूपण करते हैं कि मैं तो सर्वथा नित्य ऐसे सत्संग से वर्जित हूं। इसलिये आनंद रहित मन में नित्य क्लेश पाता हूं।

व्याख्या – और मैं कैसा हूँ, सर्वथा नित्य सत्संग से वर्जित हूं। मेरे को तो सत्संग मिलता नहीं है। इसलिये मन में बहुत क्लेश पाता हूं। मेरे को भगवदीय का संग नहीं हुआ। भगवदीय का संग हो। श्रीकृष्ण सदा आनंद रूप में हैं उनके आनंद का अनुभव हो। भगवदीय बिना आनंद से नित्य रहित हूं।

मूलं – बाष्पनिःसरणोपायं न पश्यामि महीतले ।
को वा मदीयहृदयदुःखं दूरीकरिष्यति ।।५।।

श्लोकार्थ – अश्रु (आंसू) के निकलने का उपाय (भक्त को) पृथ्वी के तल में नहीं देखता हूं। उससे मेरे हृदय को जो दुःख है, उसको कौन दूर करेगा ?

व्याख्या – श्रीहरिरायजी दीनता के आवेश में कहते हैं कि मैंने इस महीतल (पृथ्वी में) वास किया है, वह किसलिये किया है जब हरिशरण का उपाय नहीं बना, क्योंकि पृथ्वी ऊपर आकर हरिशरण नहीं करे उसका जन्म वृथा है। प्रह्लादजी ने श्री भागवत के सप्तम स्कंध में कहा है – **"कौमारं आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्य ध्रुवमर्थदम् ।।"** (कुमार अवस्था में बुद्धिमान् इस संसार में भगवद् धर्म का आचरण करे क्योंकि मानुष जन्म दुर्लभ है) फिर निश्चय नहीं है तब भी अर्थ देने वाला है। एकादश स्कंध में जनक विदेह कहते हैं – **"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः। तत्रापिदुर्लभं मन्ये वैकुंठ प्रियदर्शनम् ।।"** (देहि जीव का यह मनुष्य का देह दुर्लभ है और क्षणभंगुर है उसमें भी भगवद् भक्त का दर्शन दुर्लभ मानता हूं। इस वाक्य से यह मनुष्य देह महा उत्तम है। कौमार अवस्था में प्रभु की शरण कर भगवद् धर्म करना उचित है क्योंकि क्षण में भंग हो जाय तो अंतकाल समय कुछ नहीं बनेगा फिर यह देह मिलना दुर्लभ है। इसलिये भगवद् धर्म भगवान् का दर्शन दुर्लभ है। इस देह से बने यह अवश्य कर्तव्य हैं। मेरे से तो कुछ नहीं हुआ। इस कारण इस देह को महाशोक है जैसे चिंतामणि पाकर कोड़ी के बदले दे दे फिर चिंतामणि के गुण सुनकर अनेक दुःख पावे वैसे देह पाकर लौकिक में

लगावे। हरिशरण नहीं करे उसका जन्म वृथा है) इसलिये मैंने हरिशरण का उपाय नहीं किया, इस कारण हृदय में महा दुःख है। यह मेरे हृदय का दुःख दूर करे ऐसा कौन है ?

मूलं – व्रजवासस्तथा श्रीमद्यमुनादर्शनं गतम् ।
दूरे गोवर्धनदृशिर्दूरे तन्नाथदर्शनम् ।।६।।

श्लोकार्थ – व्रज में वास तथा श्रीमद् यमुनाजी का दर्शन और और यमुनाजी के स्वरूप का ज्ञान तथा श्री गिरिराज के स्वरूप का ज्ञान और श्री गोवर्धननाथजी का दर्शन सर्व दूर हो गये हैं।

व्याख्या – हरिशरण का कुछ भी साधन नहीं बना, व्रजवास भी न हुआ, व्रजदेश है, वह महा उत्तम है। प्रभु शरण करने का स्थल है वहां पड़े रहो तो प्रभु अपना जानकर कृपा करे, वह भी मेरे को नहीं हुआ और श्री यमुनाजी का दर्शन नहीं है। श्री यमुनाजी कैसे हैं ? दुष्ट प्राणी अनजाने एक बार जलपान करे तो उस जीव को यम यातना नहीं हो, ऐसा प्रताप है। जो जीव श्री यमुनाजी का आश्रय करे उनको श्री यमुनाजी श्री ठाकुरजी की लीला का अनुभव करावे। सर्वकार्य सिद्ध कर अलौकिक देह सिद्ध करे, ऐसे श्री यमुनाजी का दर्शन भी नहीं है और श्री गिरिराज भी मेरे से दूर है। श्री गिरिराजजी कैसे हैं, इनके संग से भीलनी को भी भक्ति हुई। ऐसे श्री गिरिराज भी मेरे से दूर हैं और श्री गोवर्धननाथजी का दर्शन भी दुर्लभ हैं। इस भांति मैं परदेश में हूं, अब क्या करूं ? वहां कोई कहे कि मन में भाव कर जिस वस्तु का स्मरण करे तो वह पास ही है। इसलिये मन से भावकर व्रज, श्री यमुनाजी, श्री गिरिराज, श्री गोवर्धननाथजी इन सबके दर्शन कर लूं इतना खेद क्यों पाता हूं ? इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं।

मूलं – विषयाक्रांतितो दूरे भगवद्भावसंततिः ।
देशान्तरस्थितस्याद्य दूरे संगः सतामपि ।।७।।

श्लोकार्थ – विषयाक्रांति से भगवद् भाव का विस्तार दूर रहा और अब देशान्तर में रहा, ऐसा जो मैं, मेरे से सत्पुरुष का संग भी दूर रहा।

व्याख्या – विषयाक्रांत से देह भरा हुआ है, उनसे लौकिक भगवद् भाव बहुत दूर रहता है। जिनका हृदय शुद्ध हो अष्टप्रहर लौकिक स्फुरित नहीं हो, मन में भगवत्स्मरण रहे

उनको भावना से सारी वस्तु सिद्ध है और मेरे विषयावेश से भगवद्भाव दूर है। अनेक देशान्तर में स्थित हूं इसलिये अनेक प्रकार के लौकिक प्रवाही सृष्टि का संग है। भगवदियों का संग मेरे से दूर है। भगवदीय मिलें और भगवद्भाव का विचार करे, वह मेरे से दूर है। इसलिये मन में खेद बहुत होता है।

मूलं – **तद्भावात् कथा दूरे ततो विमुखता हृदः ।**
एवंविधस्य सततं श्रीकृष्णः शरणं मम ।।८।।

श्लोकार्थ – सत्संग के अभाव से भगवत्कथा दूर है। उससे हृदय की विमुखता (बहिर्मुखता) होती है। मेरे तो श्रीकृष्ण ही आश्रय है।

व्याख्या – जो भगवदीय हो तो श्री सुबोधिनीजी आदि भावात्मक कथा कहे और सुनकर हृदय में भाव उत्पन्न हो। वे भगवदीय मेरे से दूर हैं। इसलिये भावात्मक कथा भी मेरे से दूर है। इस कारण हृदय में विमुखता छा रही है। इस भांति सर्वसाधन से रहित हूं। इस देशान्तर में स्थित हूं। ऐसा जो मैं उन श्रीकृष्ण की शरण हूं और कुछ नहीं बने तब शरण की भावना करता हूं और मैं क्या करूं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्रीकृष्णाश्रय में कहा है – **''विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः। पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम।।''** विवेक, धैर्य, भक्ति आदि से रहित विशेष कर पाप में आसक्त और दीन ऐसा जो मैं उनकी गति (आश्रय स्थान श्रीकृष्ण ही है) विवेक, धैर्य, भक्ति आदि सर्वधर्म से रहित हूं, पापासक्त हूं, अतिदीन होकर उन श्रीकृष्ण की शरण हूं। सर्वसाधन से रहित हूं इसलिये निरन्तर श्रीकृष्ण ही शरण हैं।

मूलं – **को वेद कृष्णः किं कर्त्ता न जानेऽहं कृपानिधिः ।**
तथापि श्रीमदाचार्यशरणं करवै मनः ।।६।।

श्लोकार्थ – कौन जानता है, कृपा के निधि श्रीकृष्ण क्या करेगे, वह मैं नहीं जानता हूं। तब भी मन को श्री मदाचार्यजी के शरण करता हूं।

व्याख्या – यह मैं नहीं जानता हूं कि श्रीकृष्ण क्या करने वाले हैं। मेरी क्या गति करेगे। वह नहीं जानी जाती है। परन्तु इतना श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से जानता हूं कि श्रीकृष्ण दयानिधि हैं, अपने निजभक्तों पर निश्चय ही कृपा करते हैं। इसलिये मैं एक श्री

आचार्यजी के चरणकमल की शरण अपने मन से कर रहा हूं। उस करने से श्रीकृष्ण भी कृपा करेगे और सर्वकार्य भी सिद्ध होगा। यह कर यह बताया है कि श्री आचार्यजी की शरण जीव आया है, उनके सर्वकार्य सिद्ध होंगे। व्रज, श्री यमुनाजी, श्री गिरिराजजी, श्रीजी की सर्वलीला इनके अनुभव होंगे और जो श्री आचार्यजी की शरण नहीं आया, उनका कुछ भी फल सिद्ध नहीं है। इसलिये मैंने श्री वल्लभाचार्यजी की शरण में मन किया है। इस प्रकार आश्रय कर अपने मन को समझा कर रखे।

मूलं – विशेष प्रेमजित्पत्राद् बोद्धव्यः सर्ववृत्तयुक् ।
अनेन केवलेनैव किंचित्स्वस्थं मनो मम ।।१०।।

श्लोकार्थ – सर्ववृत्तांत सहित विशेष (समाचार) प्रेमजी नाम के पत्र से जानना, यह केवल बोध करके ही मेरा मन कुछ स्वस्थ है।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी लिखते हैं कि विशेष समाचार प्रेमजी के पत्र से जान लोगे। श्री महाप्रभुजी की शरण कर किंचित् मन में स्वास्थ्य हैं। इस कारण श्री महाप्रभुजी कृपा कर अपनी ओर देखेंगे।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।१६।।

बड़े शिक्षापत्र २०

अब २०वें शिक्षापत्र में शरणागति से प्रथम दोष हुआ उनकी चिंता नहीं करनी और शरणगति पीछे तो सावधानी से रहना, निवेदन का अनुसंधान करना, भगवत्सेवा गुणगानादिक करना, अल्पज्ञ के वचन से पुष्टिमार्ग से बुद्धि विचलित नहीं करना, सर्वदा सत्संग में रहना, अपने श्री आचार्यजी के ही वाक्य में निष्ठा रखना, पुष्टिमार्गीय भगवदियों से मिलकर रहना, जो मार्ग के विरुद्ध हो, उनके संग नहीं रहना, इसका निरूपण इस शिक्षापत्र में हैं –

मूलं – समाचारावगत्यैव संतोषो जनितो महान् ।
सदोषेऽपि हरिर्जीवेऽनुग्रहं कुरूते स्वतः ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र २०

श्लोकार्थ – समाचार को जानकर ही बड़ा संतोष हुआ, क्योंकि जो दोष सहित जीव के ऊपर भी हरि भगवान् स्वयं ही अनुग्रह करते हैं।

व्याख्या – श्रीहरिरायजी कहते हैं कि तुम्हारा पत्र आया उसको बांचकर मन में संतोष हुआ क्योंकि गृहभंग का दुःख बड़ा दुःख था, वह दुःख तुम्हारा निवृत्त हुआ, तुम्हारे हृदय में संतोष हुआ, उससे हमको भी मन में संतोष हुआ। आगे जो शिक्षा है उसको मन में धारण करना। हरि भगवान् जो हैं वे कैसे हैं। वे यद्यपि जीव के दोष को जानते हैं तब भी अपनी ओर से जीव पर अनुग्रह करते हैं। जीव की ओर नहीं देखते हैं। शिशुपाल श्रीकृष्ण की निंदा ही करता था। दुष्ट था उसको भी गति दी। इन्द्र ने जलवृष्टि कर द्वेष किया तब भी उस पर प्रसन्न हुए, ऐसे श्रीकृष्ण है वे सदा कृपा ही करते हैं। अपने प्रमेय बल से इस जीव पर अनुग्रह करते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण ही का भजन स्मरण आश्रय सदा करना कर्तव्य है।

मूलं – प्रमेयबलमासाद्य किमसाध्यं तदा भवेत् ।
अतः प्रथमदोषाणां चिंता नैव विधीयताम् ।।२।।

श्लोकार्थ – प्रमेय बल को प्राप्त हो तब असाध्य क्या होता है। इसलिये प्रथम के दोषों की चिंता नहीं कर्तव्य है।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में तो प्रमेय बल ही से सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। जीव के साधन से कुछ कार्य सिद्ध नहीं होते हैं। जीव कहां तक साधन करेगा इसके साधन से दोष दूर नहीं हो सकते हैं। इसलिये वृथा चिंता क्यों करनी। इस विषय में श्री महाप्रभुजी ने कहा है – **"जीवाः स्वभावतो दुष्टाः"** (जीव स्वभाव से दुष्ट है) जीव तो स्वभाव से दुष्ट है परन्तु अपने अज्ञान से उत्तम मानता है, इसलिये जीव के साधन से कुछ सिद्ध नहीं होता है। प्रभु प्रमेय बल से सिद्ध करेगे। ऐसा विचार कर चिंता नहीं करे

मूलं – संजात भगवद्भावमपथ्यमिव सद्गुणम् ।
लोकनिंदाभवं दुःखं न धर्त्तव्यं हि मानसे ।।३।।

श्लोकार्थ – जैसे रोगी के लिये उत्तम औषध पर भी अपथ्य हानिकारक है, वैसे जिनके मन में भगवद्भाव उत्पन्न हुआ है वह यदि लौकिक चिंता आदि कुपथ्य करे तो भगवद् भाव रहित हो जाता है। अतः लौकिक निंदा के कारण मन में दुःख नहीं करना चाहिए।

व्याख्या – लौकिक चिंता से भगवद् भाव का नाश होता है उसका दृष्टान्त कहते हैं, जैसे सुन्दर औषधी खाकर उसके उपर कुपथ्य करे (खारा, खट्टा खावे) तो विनापथ्य औषध का गुण जाय और रोग बढ़े, वैसे मन में भगवद् भाव हो स्मरण भजन करे, वह सुन्दर औषधी की तरह है, वह लौकिक चिंतादि कुपथ्य करे तो भगवद् भाव विपरीत हो, इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में चिंता निवृत्त करने के लिये कहा है – **"चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि"** (निवेदन किया है आत्मसंबंधी जिनने ऐसे वैष्णव कुछ चिंता किसी दिन भी नहीं करते हैं) जिस जीव ने निवेदन किया है उनको तो निश्चय ही चिंता नहीं कर्तव्य है और जो लौकिक वाले निंदा करते हैं वह भी महादुःख रूप है। उसको अपने मन में नहीं रखना क्योंकि जो लौकिक में अनेक भांति के जीव हैं उनका कहा नहीं करे तो निंदा करे, उसको सहन करना ही उचित है। जैसे श्री भागवत में निरुपण है कि गोपीजनों ने लोकवेद छोड़कर प्रभु का भजन किया है तब गोप ने और माता–पिता ने निंदा की उसको धारण नहीं किया तब श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर रासलीला में फलदान किया, इसलिये भगवदीय को लौकिक निंदा सहन करनी चाहिए।

मूलं – **अग्रे तु सावधानत्वं विधेयं सर्वथा पुनः ।**
दुःसंगादिमहादोषा नाशयंत्येव तत्क्षणात् ।।४।।

श्लोकार्थ – आगे निश्चय कर फिर सावधान रहना, क्योंकि जो दुःसंगादि बड़े दोष हैं वे जब मिले उसी क्षण भगवद्भाव का नाश करते हैं।

व्याख्या – आगे सदा सावधान रहना क्योंकि जो दुःसंग दोष है वह महाबाधक है। जन्म–जन्म से जोड़कर एकत्रित किया हो वह एक क्षण में ही तत्काल दुःसंग से सारे भाव का नाश हो जाता है। श्री भगवतादि पुराण में कहा है कि बड़े–बड़े भगवदीय दुःसंग से गिरे हैं। इसलिये तुम दुःसंग से निश्चय ही क्षण–क्षण में सावधान रहना।

मूलं – **असज्जनकृता निंदा तुष्टयै सत्त्वविनिश्चयात् ।**
यतस्तेषां न रोचंते संत एव हि सर्वथा ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र २०

श्लोकार्थ – असज्जनों को सज्जन सर्वथा प्रिय नहीं है। अतः निंदा करते हैं किन्तु भक्तों में सतोगुण है जिससे असज्जनकृत निंदा उनके संतोषार्थ ही है।

व्याख्या – असज्जन (अवैष्णव) तथा अन्यमार्गीय तथा बहिर्मुख निंदा करे उसको सुनकर मन में दुःख मत पाना, मन में प्रसन्न (संतुष्ट) रहना, यह सत्य ही कहा है कि मैं निश्चय ही दोषवान ही हूं। इस भांति मन में ज्ञान कर विचार कर निंदा को सहन करना, इससे जो संतजन हैं, उन दुष्टों की वाणी में सर्वथा रुचि नहीं रखते हैं। जैसे प्रह्लादजी को हिरण्यकशिपु ने कैसे दुःख दिया और निंदा की उसको प्रह्लादजी ने सह लिया उसमें प्रह्लादजी का कुछ बिगड़ा नहीं, हिरण्यकशिपु को प्रभु ने मारा। इसलिये जो संत है वह दुष्टों की वाणी में सर्वथा मन नहीं रखते हैं।

मूलं – मार्गविश्वासरहिताः पूर्वदोषैकदृष्टयः ।
यतो नामैव हि हरेः सर्वदोषनिवर्त्तकम् ।।६।।

श्लोकार्थ – असज्जन पुष्टिमार्ग में विश्वास रहित हैं और पूर्व से ही दोष दृष्टि वाले हैं। इसलिये इनकी वाणी में रुचि नहीं रखे तथा इनको सत्पुरुष अच्छे नहीं लगते हैं। हरि का नाम है वही सर्वदोष की निवृत्ति करने वाला है।

व्याख्या – वे दुष्ट कैसे हैं, ये पुष्टिमार्ग में विश्वास नहीं रखते हैं क्योंकि पूर्व जन्म से ही दोष देखते हैं, पुष्टिमार्ग का प्रकार सारे जगत में प्रसिद्ध है उसको देखते नहीं है। वे मार्ग में शरण आये हैं। पूर्व जन्म की दुष्टता है इसलिये दोष देखते हैं। अपनी कुटिलता नहीं छोड़ते हैं क्योंकि वे असुर हैं। उनका मार्ग में विश्वास नहीं है। सदा दुष्ट है, इस कारण दुष्टता प्रकट करते हैं। ऐसा जानना। भगवान् का नाम साधारण में भी है जिनका नाम लेने मात्र से सर्वदोष दूर होते हैं। श्री भागवत के षष्ठ स्कंध में कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् । संकीर्त्तितमघं पुसां दहेदेधो यथानलः ।।१।। सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनाम ग्रहण मशेषाघहरं विदुः।।२।। नामोच्चारण माहात्म्यं हरेः पश्यतपुत्रकाः । अलामिलोऽपि ये नैवमृत्यु पाशादमुच्यत् ।।३।।"**

बड़े शिक्षापत्र

अज्ञान से अथवा ज्ञान से उत्तम श्लोक (भगवान्) के नाम का कीर्तन अग्नि काष्ठ को जैसे जलाता है वैसे पुरुष के पाप को जलाता है। संकेत में लिया, परिहास में लिया, गीतालाप पूरणार्थ और अवज्ञा से लिया, ऐसा जो भगवत्नाम का ग्रहण वह समग्र पाप को हरता है। ऐसे ऋषि लोग जानते हैं। हे पुत्र ! (दूत) हरि के नाम का माहात्म्य देखो, नाम लेने मात्र से ही अजामिल मृत्यु के पाश से छूट गया। अष्टमस्कंध में वाक्य है – **"मंत्रतस्तंत्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्त्तनं तव।।"** (शुक्राचार्य ने श्री वामनजी को कहा है मंत्र से तंत्र से देशकाल योग्य वस्तु से जो न्यून हो वह सर्व आपके नाम कीर्त्तन से ही पूर्ण करते हैं) और **"ते सुभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्। स्मरंति स्मारयंतीह हरे र्नाम कलौ युगे।"** (जो इस कलियुग में हरि के नाम का स्मरण करते हैं तथा स्मरण कराते हैं वे हे राजन् ! मनुष्यों में भाग्य सहित है तथा कृतार्थ है यह निश्चय है) द्वादश स्कंध में श्री शुकदेव जी का वाक्य है – **"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्।।"** (दोष के निधि रूप कलियुग का एक बड़ा गुण है कि श्रीकृष्ण के कीर्त्तन से ही मुक्त हो गये हैं बंध जिनके ऐसे मनुष्य पर को प्राप्त हुए हैं) षष्ठ स्कंध में विष्णुदूत का वाक्य है – **"ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान् ! श्वादः पुल्कसको वापि शुद्धयेरन् यस्य कीर्त्तनात् ।।"** (ब्रह्म हत्या करने वाला, पितृ हत्या करने वाला, गोहत्या करने वाला, मातृ हत्या करने वाला, आचार्य (वेदोक्त यज्ञ करने वाला) अथवा आर्य (अपने से बड़े) की हत्या करने वाला, पापी हो, चांडाल हो, नीच जाति में उत्पन्न हुआ हो, उनके कीर्त्तन से शुद्ध हो। इत्यादिक ठोर–ठोर नाम का माहात्म्य है। इसलिये सहज में ही मुख में भगवन्नाम अनजाने निकल जाय तब भी वह नाम सर्व दोष दूर करता है।

मूलं – तदपि श्रीमदाचार्य वदनांबुजनिःसृतम् ।
तत्प्रकाशितमार्गस्य सर्वसंपादनक्षमम् ।।७।।

श्लोकार्थ – वह भगवन्नाम श्री मदाचार्यजी के मुखारविंद से निकला (अष्टाक्षर मंत्र है वह) श्री आचार्यजी ने प्रकाश किया। ऐसा जो भक्तिमार्ग है वह सर्व संपादन करने में योग्यता वाला है।

बड़े शिक्षापत्र २०

व्याख्या – यद्यपि सर्व भगवन्नाम सर्वगुण दाता है संसार दुःख से छुड़ाता हैं। तब भी उसमें यह अष्टाक्षर मंत्र (श्रीकृष्णः शरणं मम) रूपनाम श्री आचार्यजी महाप्रभु के वदनकमल से निकला है यह पुष्टिमार्ग में स्थिति कराता है क्योंकि इस पुष्टिमार्ग को श्री आचार्यजी महाप्रभु ने प्रकट किया है। इसलिये जिस जीव को श्री आचार्यजी द्वारा नाम प्राप्त हुआ है उनको सर्व सिद्धि हो गयी। श्रीगुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"यदुक्तं तातचरणैः" "श्रीकृष्णः शरणं मम"। तत एवास्ति नैश्चिंत्यमैहिके पारलौकिके।।"** (जो तात चरण श्री महाप्रभुजी ने **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह अष्टाक्षर मंत्र कहा है, उससे ही यह लोक और परलोक संबंधी सर्व में निश्चिंतता है) इत्यादि वचन के भाव से अष्टाक्षर मंत्र का जाप वैष्णव करे यह सर्वसिद्ध करने में समर्थ है।

मूलं – **ततोऽपि ब्रह्मसंबंधः सर्वदोषनिवर्त्तकः ।**
निर्दोषानंदसेवापि दोषाभावप्रसाधिकाः ।।८।।

श्लोकार्थ – इसलिये (भगवन्नाम) ब्रह्मसंबंध है, वह सर्वदोष को निवृत्त करने वाला है। निर्दोष आनंद रूप भगवान् की सेवा ही निर्दोष आनंद रूप है और दोष के अभाव को साधने वाला है।

व्याख्या – उपर कहा है कि नाम से सर्वदोष का नाश होता है। जिस जीव का ब्रह्म संबंध हो, उसके सर्वदोष का नाश होता है, यह तो उचित ही है। क्योंकि जो सर्व दोष करणार्थ प्रभु ने ब्रह्म संबंध की आज्ञा दी है। सिद्धान्त रहस्य में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"ब्रह्मसंबंधकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः। सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषा पंचविधा स्मृताः।।"** (ब्रह्म संबंध करने से सर्व के देह जीव को सर्वदोष की निवृत्ति निश्चय होती है। वे दोष पांच प्रकार के हैं) इत्यादि वचन से जानना कि श्री आचार्यजी द्वारा जिस जीव का ब्रह्मसंबंध हुआ उसके सकल दोष दूर हुए, क्योंकि भगवान् निर्दोष है। जीव भी निर्दोष होकर सेवा करे तो अंगीकार होता है। इसलिये श्री महाप्रभुजी अपने जीवों को ब्रह्म संबंध कराकर निर्दोष कर पीछे सेवा में लगाये। वह भगवत्सेवा कैसी है जिसमें दोष नहीं है, निर्दोष आनंद रूप है, सारे दोष (प्रतिबंध) का नाश करने वाली है। वहां कोई शंका करे कि

बड़े शिक्षापत्र

ब्रह्मसंबंध से ही सर्वदोष का नाश हुआ तब फिर सेवा से कौनसे दोष का नाश होता है ? उसका समाधान यह है कि देह जीव के सारे दोष तो ब्रह्म संबंध से निवृत्त हुए फिर प्रभु की लीला प्राप्ति में प्रतिबंध रूप जो दोष है, वे सेवा से दूर होते हैं तब स्वरूपानंद का अनुभव हो, यह भाव विचार कर ब्रह्मसंबंध और भगवत्सेवा करे

मूलं – गुणगानं तु सर्वेषां दोषाणां विनिवारकम् ।
गुणगाने ज्ञानमार्गादुत्कर्षः प्रभुणोदितः ।।६।।

श्लोकार्थ – गुणगान सर्वदोषों को निवृत्त करने वाला है। उससे ज्ञान मार्ग से गुणगान में उत्कर्ष प्रभु ने किया है।

व्याख्या – भगवद् गुणगान सारे दोषों का निवारक है। गुणगान दो प्रकार के हैं, एक पुष्टिमार्गीय तथा एक मर्यादामार्गीय है। दोनों के भेद कहते हैं। पुष्टिमार्गीय गुणगान जैसे व्रजभक्त गुणगान करते हैं, श्री ठाकुरजी के संयोग में सेवा दर्शन करते हैं और श्री ठाकुरजी गोचारण को पधारते हैं तब विरह कर वेणुगीत, युगलगीत गा–गाकर संध्यापर्यन्त काल बिताते हैं। वैसे ही श्री आचार्यजी महाप्रभु ने पुष्टिमार्ग में विरह कर गुणगान विप्रयोग की भावना है, संयोग विप्रयोग दोनों रस का अनुभव है और मर्यादा मार्ग (ज्ञान मार्ग) में केवल गुणगान ही करते हैं।

मूलं – ज्ञानं सकलदोषाणां दाहकं परिकीर्तितम् ।
तथापि न प्रभोः प्रादुर्भावे यत्प्रतिबंधकम् ।।१०।।
तन्निवर्त्तयितुं शक्तमतो न्यूयं निरुपितम् ।
ततः स्वाचार्यसान्निध्यं क्षणाद्भावप्रदायकम् ।।११।।

श्लोकार्थ – ज्ञान को सकल दोषों को भस्म करने वाला कहा है, तब भी प्रभु के प्रादुर्भाव में जो प्रतिबंधक है, उनको निवृत्त करने में समर्थ नहीं है। इसलिये न्यून कहा है। श्री आचार्यजी का सानिध्य ही क्षण में भाव को देता है।

व्याख्या – ज्ञानमार्ग का गुणगान कैसा है, उसके करने से संसार के सकल दोष भस्म हो जाते हैं। पीछे सदा निर्विघ्न हो तो मोक्ष की प्राप्ति हो परन्तु प्रभु प्रकट होकर दर्शन नहीं

देते हैं इसलिये ज्ञानमार्ग का गुणगान है, वह भक्तिमार्ग में प्रतिबंधक रूप है। क्योंकि वहां प्रभु का दर्शन नहीं है, लीला का अनुभव नहीं है, स्वरूपानंद का अनुभव नहीं है, इसलिये ज्ञानगम्य है। भक्तिमार्ग में प्रतिबंधक ही जानना। ज्ञान तुम मत करना, अपने भगवत्सेवा ही मुख्य है यह जानना क्योंकि जो यह ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग से न्यून है। यह श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"ज्ञानार्थमुत्तरांगं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम"**। सौ जन्म लो तब ज्ञान मार्ग का साधन सिद्ध हो, प्रतिबंध नहीं हो, तब ब्रह्मा के लोक में जाने पर पीछे ब्रह्मा का लय हो, तब उसका मोक्ष हो। इसलिये ज्ञानमार्गीय जीव भक्ति से अलग है। इसलिये तुम पुष्टिमार्ग की रीति में तत्पर रहना। श्री आचार्यजी का यह पुष्टिमार्ग कैसा है कि जो एक क्षण भी आचार्यजी का सान्निध्य हो तो भगवद् भाव का दान करे, स्वरूपानंद का अनुभव हो, इसलिये सर्वोपरि फलरूप सेवा पुष्टिमार्ग में है, जिसमें भगवद् रस का अनुभव हो, यह भाव विचार कर श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सेवा की रीति प्रकट की है, उस भांति सेवा करना। तब ही श्री आचार्यजी महाप्रभु भावदान करेगे, यह निश्चय सर्वोपरि सिद्धान्त है।

मूलं – तद्दिदृक्षाऽऽर्त्तितापानां क्रमादेवेह संभवात् ।
तत उत्तरभावस्य भावनं वह्निरुपतः ।।१२।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा, आर्ति और ताप का क्रम से ही इस पुष्टिमार्ग में संभव (उत्पत्ति) है। इसलिये विरहात्मक का भाव (भावना) विप्रयोगाग्नि से होती है।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में ज्यों–ज्यों मन लगाकर भगवत्सेवा करे त्यों–त्यों श्रीकृष्ण के दर्शन का ताप क्रम–क्रम से बढ़ता है। इस भांति जब अधिक हो उसके करने से सारा दोष दूर हो जाता है तब दैन्य सिद्ध होता है। उसके पीछे जब उत्तर भाव हृदय में सिद्ध हो तब व्रजभक्तों के भाव की भावना करे उसको मानसी सेवा कहते हैं। वह सर्वोपरि है। व्रजभक्तों का भाव अग्निरूप है वह भाव हृदय में हो तब जानना कि श्री आचार्यजी महाप्रभु हृदय में पधारे हैं। भावाग्निरूप श्री आचार्यजी महाप्रभु हैं।

मूलं – क्षणेन दोषसंघस्य नाशकं सर्वथा मतम् ।
एवंभूते स्थिते मार्गे नूनं येषामभाग्यतः ।।१३।।

अविश्वासस्ततस्तेषां न गतिः काऽपि विद्यते ।
अतः स्वयं श्रुतं यद्वा भाग्याद्हृदि समागतम् ।।१४।।

तदेव हि दृढं स्थाप्यं सर्वथा जीवनावधि ।
नाल्पज्ञवचनाच्चाल्या बुद्धिरापातसुंदरात् ।।१५।।

श्लोकार्थ – विप्रयोगाग्नि की भावना क्षण में सर्व दोषों का नाश करती है। ऐसे जो पुष्टिमार्ग में जो निश्चय ही अभागी है उनका विश्वास नहीं होता है। ऐसे जनों की गति कहां भी नहीं होती है। अतः स्वयं सुना अथवा भाग्य से यह विरहाग्नि भावना हृदय में आ गई हो तो जीवन पर्यन्त दृढ़ कर स्थापन करती है। जो ऊपर से सुन्दर (विद्वान् न वैष्णव) देखने में आता है किन्तु वास्तव में अल्पज्ञ हो, ऐसे पुरुषों के वचनों से बुद्धि को पुष्टिमार्ग से विचलित नहीं करना ही उचित है।

व्याख्या – रंचक भी भावरूप अग्नि हृदय में हो तो एक क्षण में सारे दोषों को सर्वथा नाश करे, इस भांति पुष्टिमार्ग सर्वोपरि है। ऐसा व्रजभक्तों का भावात्मक यह पुष्टिमार्ग है। भाग्यहीनों को विश्वास नहीं हो, इसलिये अविश्वास से ही पुष्टिमार्गीय फल सिद्धि नहीं होती है। जिस जीव को पुष्टिमार्ग में अविश्वास है उसकी गति कहीं नहीं है। कोई जीव हो अविश्वास सबका बाधक है। अविश्वास कैसा होता है, एक तो अपने मन में स्वकल्पित विचार उठे कि पुष्टिमार्ग में कुछ मेरे को सिद्धि नहीं दीखती है। दूसरा कोई ज्ञानमार्गीय, कर्ममार्गीय, भाव विरुद्ध कहे उसे सुने, अन्य मार्गीय इस पुष्टिमार्ग को देख नहीं सकता है। इसलिये उनका संग ही बाधक है। उनके मुख से मार्ग की निंदा सुनकर अविश्वास हो, तीसरा पुष्टिमार्ग का फल सर्वोपरि है, वह भाग्य में नहीं हो, जीव ही भीतर प्रवाही हो, मर्यादामार्गीय हो, पुष्टि नहीं हो, तो यह फल कहां से प्राप्त हो ? उसको अविश्वास हो, चौथा हृदय में अनेक भांति के लौकिक वैदिक के विषय के तरंग उठे तो विश्वास छूट जाने से ओर ही क्रिया करने लगे, पांचवां किसी बहिर्मुख के समागम से दुःसंग से अविश्वास हो। ऐसे पांच प्रकार के कारण से अविश्वास हो उसको पुष्टिमार्गीय फल सर्वथा नहीं हो। उपर कहे इत्यादिक दोष से अविश्वास हृदय में दृढ़ हो जाता है वह अविश्वास सर्वथा जीव का बाधक ही है। जैसे जल अग्नि का नाश करे वैसे ही दुःसंग दोष भाव का नाश करे, अल्प

बड़े शिक्षापत्र २०

ज्ञान वाले जीव के वचन चातुर्य से बुद्धि चलायमान नहीं करनी, अल्पज्ञ जीव अज्ञान से निंदा दुर्वचन (मर्यादा छोड़कर) बोले, इसलिये अज्ञानी के संग वाद सर्वथा नहीं कर्तव्य है।

मूलं – सत्त्वनिश्चयतः संगः साधको नहि संशयात् ।
यत्र वै विपरीतैव कृतिस्तत्र भ्रमः कथम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – सत्संग सर्वसिद्धि का साधक तब बनता है जब संशय नहीं हो किन्तु हृदय में विवेक धैर्यादि से यह निश्चय हो कि सत्संग से फलसिद्धि होगी। जहां कृति ही विपरीत है वहां भ्रम कैसे ?

व्याख्या – मन में यह निश्चय जानना कि इस जीव के सत्संग से ही भगवद् धर्म साधक हैं, इसमें संशय नहीं है। श्री भागवत् के प्रथम स्कंध में शौनक का वाक्य है – **"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं ना पुनर्भवम् । भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"** (भगवद् भक्त के संग के बराबर स्वर्ग और मोक्ष तुले नहीं है। वहां मनुष्य की आशिष का तो क्या कहना) एकादश स्कंध में भगवद् वाक्य है – **"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव! । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा।। व्रतानि यज्ञाछंदांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरुंधे सत्संग सर्व संगापहो हि माम्"** (हे उद्धव! मेरे को योग वश नहीं करता है, नहीं सांख्य, धर्म, नहीं स्वाध्याय, तप, त्याग, नहीं इष्टापूर्त (कूप, आराम, मठादिक) नहीं दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, नियम, यम (कोई वश में नहीं करता है) जैसे सर्वसंग को मिटाने वाला सत्संग मेरे को वश में करता है। इत्यादिक वचन से जानना कि जीव का सत्संग ही बड़ा साधक है। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णव निश्चय ही सत्संग करे और पुष्टिमार्ग से जिनकी विपरीत कृति हो, उसमें वैष्णव को भ्रम किसलिये हो। इसलिये पुष्टिमार्ग से विपरीत कृति वाले का संग सर्वथा नहीं करे।

मूलं – तत्र भ्रांताः परं मूढास्तत्संगः खलु बाधकः ।
अतः सत्संगसहितस्तिष्ठेत्सर्वत्र सदा ।।१७।।

श्लोकार्थ – उसमें जो भ्रांत है वह अत्यन्त मूढ़ है। इनका संग निश्चयबाधक है। इसलिये सत्संग सहित सर्वस्थान पर सदा रहे।

व्याख्या – जो जीव भ्रांत है या पुष्टिमार्ग में विश्वास से रहित है वह महामूढ़ अज्ञानी है। उन खल (दुष्ट) का संग महाबाधक है। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णव जहां जाय वहां सब स्थान पर सदा पुष्टिमार्गीय भगवदीय के संग ही स्थित रहे। तभी दुःसंग से बचा जा सकता है। इसलिये सर्वथा सत्संग में रहे। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (निश्चय तादृशीय वैष्णवजनों के संग निवेदन का स्मरण करना) इस निवेदन का स्मरण सदा सर्वदा तादृशीय से मिलकर करे, उस सत्संग से भाव वृद्धिकर्त्ता होने से पुष्टिमार्गीय भगवदीय का नित्य कर्त्तव्य है।

मूलं – **सेवा कुर्वन् सदाचारो धर्ममार्गस्थितोऽपि च ।**
अविरुद्धवचोवक्ता ह्यविरुद्धकृतिप्रियः ।।१८।।

श्लोकार्थ – सेवा करने वाला, सदाचार वाला और धर्ममार्ग में रहा हो तब भी अविरुद्ध वचन कहने वाला तथा अविरुद्ध कृति को प्रिय कर रहने वाला हो।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय वैष्णव श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन पाकर पुष्टिमार्ग की रीति से आचार सहित भगवत्सेवा करे, आचार है वह वैष्णव का प्रथम धर्म है। इसलिये आचार विचारपूर्वक खासा, सेवकी, छूया, सखड़ी, अनसखड़ी, प्रसादी, जूठन प्रभृति का ज्ञान रखे। धर्म में तत्पर रहे, अपने पुष्टिमार्गीय धर्म में रहे और पापा चरण नहीं करे पुष्टिमार्ग से अविरुद्ध वचन कहे और जो कोई पुष्टिमार्ग से अविरुद्ध सुन्दर शिक्षा दे उसको मान ले, अविरुद्ध (क्रिया) मार्ग की रीति की सेवा कृति मन में प्रिय जाने।

मूलं – **स्वाचार्यमात्रवाक्यैकनिष्ठः सततभावुकः ।**
तदीयजनसंसृष्टः सर्वसंगविवर्जितः ।।१९।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के वचन–निबंध, श्री सुबोधिनीजी और षोडश ग्रंथादिकों में निष्ठा वाले निरंतर भाव वाले, भगवदीय से मिलने वाले और दूसरे सर्वसंग से वर्जित हो।

व्याख्या – एक अपने श्री वल्लभाचार्यजी के वचन पर निष्ठा रखे। इनके द्वारा किये श्री सुबोधिनीजी – निबंधादिक – एतन्मार्गीय को कहे, सुने उसमें जो क्रिया भाव कहे हैं, उसी

में मन लगाकर उसी भांति रहना और जो भगवदीय श्री आचार्यजी के वचन अनुसार चलते हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु के वचन में जिनकी पूर्ण निष्ठा है। ऐसे का संग करे और सर्व का त्याग करे जो ऐसे भगवदीय मिले तो संग करे नहीं तो सर्व संग छोड़कर भगवत्सेवा स्मरण मार्ग रीति प्रमाण करे परन्तु अन्य का संग सर्वथा नहीं करे इस भांति वैष्णव रहे तो श्रीआचार्यजी महाप्रभु की कृपा से पुष्टिमार्ग का फल प्राप्त करे

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२०।।

बड़े शिक्षापत्र २१

अब २१वें शिक्षापत्र में लौकिक व्यावृत्ति को छोड़कर ही सेवा करनी उससे बुद्धि दृढ़ होती है। जब भगवदीय के संग निरन्तर निवेदन के चिंतन से ही बुद्धि में दृढ़ता होती है। विपरीत वार्त्ता के श्रवण से चित्त खेदयुक्त हो उसकी प्रभु उपेक्षा करते हैं। यह काल है सत्पुरुषों की बुद्धि का हरण करता है। इसलिये पुष्टिमार्गीय भगवदियों के संग रहना, यह निरुपण है। उपर कहे उस प्रकार वैष्णव रहे तो फल सिद्ध हो। कलिकाल के दोष से भक्तिमार्ग का भाव और सत्संग तिरोभूत है इसका कैसे फल हो, यह कहते हैं।

मूलं – भक्तिमार्गस्तिरोभूतस्त्था संगः सतामपि ।
ततो भावस्य शैथिल्यं तद्भावेऽखिलं वृथा ।।१।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्ग तिरोभूत हो गया है। वैसे ही सत्पुरुषों का संग भी तिरोभूत हो गया है। उसके करने से भाव की शिथिलता हुई है और भाव का अभाव हुआ तब सकल वृथा है।

व्याख – इस महा कठिन काल से भक्तिमार्ग तिरोभूत हुआ है और पुष्टिमार्गीय भगवदीय का संग भी तिरोभूत हुआ है और उसके कारण पुष्टिमार्ग का भाव भी शिथिल हुआ है। वह भाव बिना सर्व वृथा है। क्योंकि इस पुष्टिमार्ग में सारा भाव ही है, भावात्मक मार्ग है। जितनी क्रिया दिखती है वह सर्व भावात्मक ही है। उस भाव से पुष्टिमार्ग में स्थित होकर भगवदीय

का संग हो तभी जाने अन्यथा कैसे जाने ? भक्तिमार्ग में अष्टप्रहर केवल प्रभु के ही सुख का विचार करे, अपने देह संबंधी सुख रंचक भी नहीं विचारे। इस भांति सेवा करे वह दुर्लभ है। भाव शिथिल हो रहा है। इसलिये भाव बिना सर्व वृथा है।

मूलं – भक्तिमार्गीयताभावे क्रियामात्रं हि कर्मवत् ।
तत्रापि न मनः स्थैर्यं विक्षेपाद्व्यवहारतः ।।२।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्गीय प्रकार से सेवा नहीं हो तो वह सेवा कर्म की तरह क्रिया मात्र ही है। यदि ऐसी सेवा में भी व्यवहार के कारण विक्षेप से यदि मन स्थिर नहीं रहे तो वह कर्मवत् क्रिया मात्र भी नहीं समझना।

व्याख्या – भक्ति मार्ग की रीति यह है कि अष्टप्रहर भाव में रहे, वह तो कहां है ? परन्तु कर्मवत् क्रिया है। जैसे कर्ममार्गीय कर्म करे, वहां तक प्रयोजन पीछे कुछ नहीं है। वैसे ही सेवा समय न संयोग का सुख हुआ, न अनोसर में विप्रयोग हुआ, इसलिये कर्ममार्गवत् क्रिया मात्र ही है। वह कर्मवत् मन लगाकर नहीं है। वहां सेवा में भी मन एकाग्र नहीं, अनेक भांति के विक्षेप मन में होते हैं। नाना भांति के व्यवहार के तरंग मन में उठते हैं। उस कारण मन स्थिर नहीं है किन्तु विक्षेप पाता है। वह कर्मवत् क्रिया मात्र भी भगवत्सेवा नहीं बनती है।

मूलं – व्यवहारोऽप्यसिद्ध श्चेद्विशेषक्षोभको मतः ।
तद्भावे तु गार्हस्थ्य प्रकारैः सेवनं कुतः ।।३।।

श्लोकार्थ – व्यवहार भी सिद्ध नहीं हुआ तब विशेष क्षोभ करने वाला होता है। व्यवहार का अभाव हो तब गृहस्थाश्रम का सेवन कैसे हो।

व्याख्या – भगवत्सेवा में व्यवहार के तरंग उठते हैं। इस कारण व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता है। तब मन में और अधिक क्षोभ होता है। धीरज छूट जाता है। तब गृहस्थ में भाव कैसे रहे ? और भगवत्सेवा भी कैसे करे ? इसलिये यह पुष्टिमार्ग तो भावात्मक है, सर्वोपरि है और जीव तुच्छ है। यह काल महाकठिन है। सेवा करते समय में व्यवहार का स्मरण स्वतः कालदोष से होता है। वह व्यवहार खाली पड़े सिद्ध नहीं होता है। तब धीरज कैसे

रहे? मन में अत्यन्त दुःख हो तब लौकिक चिंता से मन में भगवद् भाव कैसे रहे? और गृहस्थाश्रम में सब ही (लौकिक, वैदिक, कुटुम्ब का भरण पोषण इत्यादि सब) माथे है, वह करना और भगवत् सेवा कैसे करे? मन को तो चिंता ने आकर ग्रसा है वहां कोई कहे कि व्यवहार मत करो, प्रभु तो सर्व सामर्थ्यवान् है लौकिक वैदिक सर्वकार्य सिद्ध करेगे, तुम भगवत्सेवा मन लगाकर के करो। इस भांति कोई कहे वहां आगे कहते हैं।

मूलं – व्यावृत्यभावपक्षस्तु बुद्धयदार्ढ्यात्सुदुर्लभः ।
बुद्धिदार्ढ्यं तु सततं निवेदनविचिंतनैः ।।४।।

श्लोकार्थ – व्यावृत्ति के अभाव का पक्ष (लौकिक, वैदिक छोड़ने का पक्ष) बुद्धि की दृढ़ता नहीं है, इस कारण अत्यन्त दुर्लभ है और बुद्धि की दृढ़ता तो निरन्तर निवेदन का विशेष चिंतन करने से होता है।

व्याख्या – व्यावृत्ति का अभाव कैसे करे? यद्यपि अव्यावृत्त हो भगवत्सेवा करे वह सर्वोपरि है। परन्तु ऐसे बुद्धि उत्कृष्ट नहीं है। इस भांति इस काल में प्रभु का पूर्ण विश्वास तो दुर्लभ है इसलिये पूर्ण विश्वास बिना अव्यावृत्त हो तो बहुत ही दुःख पावे। श्री ठाकुरजी में दोष बुद्धि हो जाय, मैं इनके आश्रय सेवा करता हूं और मेरे लौकिक भी सिद्ध नहीं करते हैं। इस भांति हो तो अनर्थ हो। दासभाव जाता रहता है। इसलिये अव्यावृत्त कैसे हो? ऐसी तीव्र बुद्धि नहीं है, पूर्ण विश्वास तो दुर्लभ है। वहां कोई कहे कि बुद्धि तो उत्तम हो, पूर्ण विश्वास जिस भांति हो वही कार्य करो। वहां कहते हैं कि जो बुद्धि उत्तम हो, पूर्ण विश्वास हो तो तब हो जब अष्टप्रहर निवेदन का चिंतन करे, अष्टाक्षर और शरण की भावना करे, गद्य में कहा है। निवेदन किया है? अब कैसी क्रिया करते हो? कितने दिन का भूला हूं? अब श्री आचार्यजी महाप्रभु द्वारा संबंध हुआ है, प्रभु कैसे हैं? जीव कैसा है? जीव को किस प्रकार दासत्व करना है? इस भांति, पंचाक्षर में प्रभु ही गति है। इस भांति निवेदन का चिंतन हो, बुद्धि प्रबल उत्तम हो तब विश्वास सम्पूर्ण हो। अब निवेदन का चिंतन करने का प्रकार कहते हैं।

मूलं – तत्रापि सहभावस्तु सतामेव निरुपितः ।
ते दुर्लभा दूरगाश्च ततो बुद्धिर्न तादृशी ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – उसमें (निवेदन के चिंतन में) भी सत्पुरुष (भगवदीय) का ही संग का निरुपण किया है, वे भगवदीय दुर्लभ और दूर रहते हैं इसलिये ऐसी उत्तम बुद्धि नहीं है।

व्याख्या – निवेदन का चिंतन अपनी बुद्धि से नहीं हो सकता है। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने निरूपण किया है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (निवेदन तो निश्चय तादृशीय जन के संग स्मरण करने योग्य है) इसलिये निवेदन का चिंतन भाव सहित तादृशीय पुष्टिमार्गीय भगवदीय से मिलकर करे तब भाव सिद्ध हो, वहां कोई कहे तो भगवदीय से मिलकर निवेदन का चिंतन कर ले, वहां कहते हैं पुष्टिमार्गीय भगवदीय का मिलना बहुत ही दुर्लभ है, कहीं है तो दूर है, उनका संग किस भांति हो ? उन भगवदियों के संग बिना ऐसी बुद्धि कैसे हो।

मूलं – **स्थिताऽपिशीर्यते नित्यं पोषकाभावतो मम ।**
खिन्नं च जायते चित्तं वार्त्ता श्रवणतोऽन्यथा ।।६।।

श्लोकार्थ – मेरी बुद्धि स्थित है तो भी पोषण करने वाले के अभाव से शिथिल हो जाती है अन्यथा वार्ता सुनकर चित्त खेदयुक्त हो जाता है।

व्याख्या – भाव वृद्धि हो वह तो परम दुर्लभ है, परन्तु कुछ भाव आगे से हृदय में स्थित है, वह भी क्षीण होता है। दिन–दिन घटता जाता है। क्योंकि पोषक का अभाव है। भगवदीय का मिलाप हो तब भाव का पोषण हो, भाव बढ़े। सत्संग बिना भाव शिथिल होता है और लौकिक मनुष्यों का संग हो गया है। इस कारण अनेक प्रकार की लौकिक वार्ता करनी पड़ती है। अन्यथा लौकिक वार्ता श्रवण से चित्त का महाखेद हो रहा है। अहर्निश अन्य वार्ता अन्य श्रवण मेरे कर्ण में होता है। मैं किससे कहूं ऐसा मन में खेद होता है।

मूलं – **श्रुतोत्तमप्रकाराश्च भगवन्मानसा अपि ।**
अस्मदीया लौकिकेषु प्रतिष्ठामात्र साधकाः ।।७।।
चित्तव्ययं प्रकुर्वंति वृथा देहं च तद्‌गतम् ।
भगवन्मार्गनिष्ठा तु लोकनिष्ठाविरोधिनी ।।८।।

श्लोकार्थ – भगवान् के मन वाले ऐसे हमारे जो उत्तम प्रकार से सुनने वाले हैं। वे भी लौकिक में प्रतिष्ठामात्र सिद्ध करने वाले हैं। चित्त को ओर स्थान पर ले जाते हैं। देह को

उसमें प्राप्त करते हैं क्योंकि जो भगवन्मार्ग की निष्ठा है वह लौकिक की निष्ठा के विरुद्ध है।

व्याख्या – इस भांति मैं मन में दुःखी हूं। भगवद् भाव दिन–दिन शिथिल होता है और मैं अपने श्रवण से उत्तम प्रकार (अपनी बड़ाई) सुनता हूं। कोई कहते हैं कि इनका मन अष्टप्रहर भगवान् में लगा रहता है इत्यादि अनेक बड़ाई में अपने कानों से सुनता हूं। उसको करने से क्या सिद्धि है। लौकिक में प्रतिष्ठा हुई वह प्रतिष्ठा मात्र की साधक हुई, लौकिक में यह फल हुआ और कुछ दिखाई नहीं देता तब इस प्रतिष्ठा से मेरा क्या कार्य सिद्ध होता है। यह प्रतिष्ठा भगवद् भाव में बाधक है। उसका आगे निरूपण करते हैं। यह चित्त भगवान् के चरणारविंद में नहीं लगे और यह मनुष्य देह इन्द्रिय भगवान् में विनियुक्त नहीं हुई वह वृथा जाती है। एकादश स्कंध में राजा जनक ने कहा है – **"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः"** (देही (जीव) का यह मनुष्य देह दुर्लभ है और क्षण में नाश होता है, ऐसा है) वह वृथा जाता है और सप्तम स्कंध में प्रह्लाद जी कहते हैं **"कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्य ध्रुवमर्थदम् ।।"** (बुद्धिमान् कुमार अवस्था में इस संसार में भगवद् धर्म का आचरण करे, क्योंकि जो मनुष्य जन्म महादुर्लभ है। वह भी निश्चल नहीं है और पुरुषार्थ को देने वाला है) इत्यादि वचन से जाना जाता है। वह मनुष्य देह महादुर्लभ है। क्षण में इसका नाश है। इसलिये भगवान् का दर्शन सेवा परम दुर्लभ है। वह हो तो अच्छा यह कौमार अवस्था भगवद् धर्म करण योग्य है। इसलिये भगवद् विनियोग बिना देह, यौवन सर्व वृथा है और भगवत्मार्ग की निष्ठा है, वह लोक निष्ठा विरोधिनी है।

मूलं – संसारवैरी कृष्णोऽपि मूढानेतानुपेक्षते ।
कालः सतामपि हरत्यसौ संप्रति सन्मतिम् ।।६।।

श्लोकार्थ – संसार (अहंता ममतात्मक) के वैरी श्रीकृष्ण भी ऐसे मूढ़ संसारासक्तों की उपेक्षा करते हैं। यह काल इस समय में सत्पुरुष की भी सुन्दर मति का हरण करता है।

व्याख्या – संसार वैरी यह श्रीकृष्ण का नाम है, जहां श्रीकृष्ण हृदय में आवे वहां संसार का नाश करते हैं। निश्चय ही उससे लौकिक देह संबंधी नहीं बनता है। यह जीव अज्ञानी

है। श्रीकृष्ण को चाहता है और संसार की भी उपेक्षा करता है। संसार होगा वहां तक श्रीकृष्ण कहां ? जब श्रीकृष्ण कृपा करेगे तब (अहंता ममतात्मक) संसार कहां ? कालदोष से प्रभु का ज्ञान नहीं होता है। ऐसा कठिन काल आया है। सत्प्राणी की बुद्धि का भी हरण कर लेता है। इसलिये बारंबार संसार की अपेक्षा रखते हैं। यद्यपि संसार को तुच्छ जानते हैं और भगवान् का गुण ही संसार नाशक है। यह जानते हैं। तब भी इस काल में सत्पुरुषों की बुद्धि हीन हो जाती है।

मूलं – कालदोषनिराकर्त्ता न संगोऽस्ति सतामपि ।
अतः स्थेयं सावधानैः समस्तैमार्गवर्त्तिभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ – कालदोष को मिटाने वाला सत्पुरुषों का संग नहीं है। इससे समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को सावधान रहना चाहिये।

व्याख्या – अब हरिरायजी सारे पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को शिक्षा देते हैं कि सावधान रहना, कालदोष है, वह महादुष्ट है। सर्वधर्म में प्रतिबंधक है। मैं भी इस कालदोष का नाश नहीं कर सका हूं। क्योंकि सत्संग नहीं मिलता है। भगवदीय का संग मिले तब कालदोष बाधा नहीं करता है। सत्संग दुर्लभ है इसलिये हे वैष्णव ! तुम समस्त क्षण–क्षण में सावधान रहना यह पुष्टिमार्ग सर्वोपरि है। जिस मार्ग में तुम स्थित हो, दुःसंग से बचे रहना। भगवदियों का संग करना और श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल को अपने चित्त में धरना।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२१।।

बड़े शिक्षापत्र २२

अब २२वें शिक्षापत्र में श्रीहरिरायजी यह बताते हैं कि पुष्टिमार्ग में साधन क्या है ? फल क्या है ? अपना भाव है वह साधन है और भावात्मा भगवान् हैं। वह प्रमेय और फल रूप है। इसलिये निधि रूप भाव की रक्षा करनी चाहिए। इनसे जो विरुद्ध हो, उसका त्याग करना चाहिए।

बड़े शिक्षापत्र २२

हरिकृष्ण नाम के वैष्णव का चित्त अतिशुद्ध है, इसलिये इनके ऊपर कृपा रखना, तथा इनका संग करना यह निरुपण है। ऊपर जो यह कहा है कि सत्संग बिना यह जीव कालदोष दूर नहीं कर सकता है, इसलिये समस्त वैष्णवों को सावधान रहना चाहिये, क्योंकि यह भावात्मक मार्ग है। जिसका प्रकार आगे कहते हैं –

मूलं – भावोऽत्र साधनंमार्गे प्रमेयं भगवान् हि सः ।
प्रमाणं कृष्णसेवादौ (सेवादिः) स एव च फलं पुनः ।।१।।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग में भाव ही साधन है एवं जो प्रमेय है वही भगवान् है। प्रथम श्रीकृष्ण की सेवा स्मरण आदि प्रमाण रूप है और फिर वही फल रूप है अथवा श्रीकृष्ण की सेवा आदि जो कार्य है वही प्रमाण है और वही फलरूप है।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में भाव ही सर्वोत्तम साधन है और भगवान् ही प्रमेय रूप, फल रूप तथा भाव रूप हैं। यह मार्ग अन्य मार्ग की तरह नहीं है कि इतनी सेवा करने से फल होता है। किन्तु जब भगवान् प्रमेय बल से कृपा करना चाहें तब उसी क्षण में फल प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण की सेवा है, वही प्रमाण है, वही फल रूप है। ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग में साधन तथा फल अलग–अलग है। फल प्राप्ति के पीछे साधन नहीं करे यह पुष्टिमार्ग में नहीं है। साधन में भी श्रीकृष्ण की सेवा और फल प्राप्ति में भी श्रीकृष्ण की सेवा है। इसलिये फलरूप जानकर सेवा करना कर्तव्य है। श्रीकृष्ण की सेवा उपरान्त और फल कहां है? इसको नवम स्कंध में श्री भगवान् कहते हैं –

"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छंतिसेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्काल विप्लुतम् ।।

मेरी सेवा से प्रतीयमान सालोक्यादि चतुर्विध मोक्ष को मेरी सेवा से पूर्ण मेरे भक्त नहीं चाहते हैं। कालग्रसित ऐसे राज्यादिक को कहां से चाहेंगे। जिन भक्तों ने मेरी सेवा में विश्वास किया है वे चारों प्रकार की मुक्ति को भी नहीं चाहते हैं। जो सेवा कर के पूर्ण हैं वे मुक्ति को बाधक रूप जानकर नहीं चाहते हैं। इसलिये पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिये साधन और फल दोनों ही सेवा है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – तस्मात् स एव संरक्ष्यो निधिरूपस्तु सर्वथा ।
यत्तद्विरुद्धं तत्सर्वं ज्ञात्वा ज्ञात्वा निवर्त्तयेत् ।।२।।

श्लोकार्थ – इस कारण से निधि रूप भाव की ही सर्वथा सम्यक् प्रकार से रक्षा करनी चाहिए तथा भाव रूप निधि के विरुद्ध है, उनको भली प्रकार से जानकर विरुद्धों को दूर करना चाहिए।

व्याख्या – इसलिये पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण निधि रूप है, वैसे ही निधि रूप भगवद् भाव को जानकर लौकिक दुःसंग से रक्षा करनी चाहिए। इस पुष्टिमार्ग में जो अनुकूल हो उसका संग्रह करना तथा प्रतिकूल हो उसका परित्याग करना यही श्री आचार्यजी की आज्ञा है।

मूलं – हरिकृष्णे यथा पूर्वं स्नेहः स्थाप्यो विशेषतः ।
गोष्ठी च तादृशैः (तादृशी) कार्या ध्रुवमस्मत्प्रयत्नतः ।।३।।

श्लोकार्थ – हरिकृष्ण नाम के वैष्णव में पूर्व की तरह विशेष स्नेह स्थापित करना और स्नेह सहित पुष्टिमार्गीय वार्ता करना, इस प्रकार अपने प्रयत्न से सत्संग करना।

व्याख्या – हरिकृष्ण नाम के वैष्णव से पूर्व की भांति विशेष स्नेह स्थापित करना तथा पुष्टिमार्गीय तादृशीय वैष्णव हो उनसे ही प्रयत्न करके मिलना और मिलकर पुष्टिमार्ग के भाव का विचार करना। इससे हृदय में भगवद्भाव अचल होता है। इसलिये भगवदियों का अवश्य संग करना कर्त्तव्य है।

मूलं – एतस्यांतः स्थितिः प्रायः समीचीनाऽवलोक्यते ।
नान्यच्च लौकिकं चित्ते विचार्यमिह सर्वथा ।।४।।

श्लोकार्थ – इस हरिकृष्ण के अंतकरण की स्थिति बहुत कर योग्य दिखाई देती है। इसलिये इनका संग करना और चित्त में अन्य लौकिक विषयों का सर्वथा विचार नहीं करना।

व्याख्या – भगवदीय के संग नित्य (गोष्ठी) वार्तालाप करते करते अंतकरण में भाव की सिद्धि होती है। तब हृदय में सदा भगवान् स्थित होते हैं उनका दर्शन हो तब इस जीव

का चित्त लौकिक में सर्वथा नहीं लगता है। नाना प्रकार के लौकिक विचार, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या क्रिया, मिथ्या वाणी सब निश्चित रूप से स्वतः छूट जाते हैं।

मूलं – विशेषस्तु समग्रेऽपि भांडागारिकपत्रतः ।
विज्ञेयः सर्वथा शीघ्रं लिख्यतां च तदुत्तरम् ।।५।।

श्लोकार्थ – विशेष तो सब समाचार भंडारी के पत्र से जान लोगे तथा उनको उत्तर शीघ्र एवं अवश्य लिखोगे।

व्याख्या – भंडारी के साथ भेजे हुए पत्र को पढ़कर जान लेना और इसका उत्तर शीघ्र ही लिख देना।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२२।।

बड़े शिक्षापत्र २३

अब २३वें शिक्षापत्र में लौकिक दुःख ह्रदय में नहीं रखना, अलौकिक में चिंता नहीं करना, बहिर्मुखता नहीं रखना, बहिर्मुखता निवृत्ति के प्रकार, (श्रीभागवत् का पाठ तथा अर्थ श्रवण, वैष्णव संग निवेदन का स्मरण, सदा भगवन्नाम ग्रहण, सदा शरण भावना) अष्टाक्षर का उच्चारण करना, पंचाक्षर मंत्र की तदीयत्व भावना करना, वैराग्य और संतोष रखना, यह निरूपण है। उपर कहा है कि भगवदीय गोष्ठी करने से ह्रदय में भाव सिद्ध होता है। जब ह्रदय में प्रभु को देखे तब लौकिक विचार में चित्त नहीं जाता है। परन्तु ह्रदय में से चिंता नहीं छूटती है। वहां तक भाव कैसे आवे ? उन सर्व प्रकार का निरूपण आगे करते हैं।

मूलं – भवंतः श्रुतसिद्धान्ताः कथं मुह्यंति लौकिके ।
अलौकिके तु चिंता या विषयाभावतो न सा ।।१।।

श्लोकार्थ – श्रीहरिरायजी लिखते हैं कि जिनने सिद्धान्त सुना है, ऐसे तुम हो, लौकिक में क्यों मोह पाते हो ? अलौकिक में जो चिंता है वह तो विषय के अभाव से नहीं हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी लिखते हैं कि तुम श्रुति, स्मृति, वेद, पुराण, श्री भागवत सर्व के सिद्धान्त को जानते हो फिर लौकिक में मोह को क्यों पाते हो। यह तुमको उचित नहीं है। अब मैं तुमको सिद्धान्त कहता हूं। उसको चित्त लगाकर के सुनो। जहां तक लौकिक विषय हृदय से नहीं जाता है वहां तक अलौकिक भाव हृदय में नहीं रहता है। इसलिये क्षण–क्षण में चिंता होती है। जब हृदय में विषय का अभाव हो, तब चिंता नहीं होती है। अपने पुष्टिमार्ग में लौकिक अलौकिक दोनों प्रकार की चिंता नहीं करनी है।

मूलं – यतः सर्वसमर्थोऽस्मत्प्रभुः सर्वं करोति हि ।
पितेव (पतिवत्) निजदासानामैहिकं पारलौकिकम् ।।२।।

श्लोकार्थ – अपने प्रभु सर्व समर्थ हैं, वे पिता की तरह अथवा पति की तरह अपने दासों का लौकिक और पार लौकिक दोनों सिद्ध करेगे।

व्याख्या – श्रीकृष्ण अपने प्रभु सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"कर्त्तुं पुनरथाकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमीश्वरे । सामर्थ्यं यन्मया दृष्टं त्वय्येवातो न संशयः ।।"** (ईश्वर ऐसे जो तुम उनमें नहीं करने को और विपरीत करने का सामर्थ्य जो देखा उसमें मेरा संशय नहीं है।) श्रीकृष्ण कर्त्तुं, अकर्त्तुं, अन्यथाकर्त्तुं, सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, वे प्रभु लौकिक अलौकिक सर्व सिद्ध करते हैं। इसलिये भगवदीय को चिंता नहीं करना है। इस विषय में दृष्टांत देते हैं, जैसे लौकिक में अपने पिता पुत्र की रक्षा करते हैं, वैसे प्रभु अपने निजदासों को लौकिक, अलौकिक सर्व सिद्ध करेगे, यह निश्चय जानना।

मूलं – अत एवास्मदाचार्यवचनं वै विराजते ।
'भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्' ।।३।।

श्लोकार्थ – इसलिये (भगवान् भी पुष्टिमार्ग में विराजमान हैं, वे लौकिक गति नहीं करेगे।) यह श्री मदाचार्यजी का वचन निश्चय ही विराजित है।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय वैष्णव को चिंता नहीं करनी है। ऐसे अपने श्री आचार्यजी के वचनामृत बिराजते हैं। जो उत्तरार्द्ध हैं वह आर्यावृत्त से लिखा है, नवरत्न ग्रंथ के प्रथम श्लोक का उत्तरार्द्ध है, उस वचन से इस पुष्टिमार्ग में भगवान् साक्षात् विराजमान है। वे

अपने निवेदनीय जीव की लौकिक गति कभी नहीं करेगे। यह वैष्णव निश्चय मन में रखे। इस पुष्टिमार्ग के समान और दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जिसमें शरण आने पर पीछे लौकिक गति कभी नहीं होती है। वहां कोई कहे कि वैराग्य करने से लौकिक गति नहीं होती है। समग्र लौकिक कार्य करे उनकी लौकिक गति कैसे नहीं हो ? वहां कहते हैं।

मूलं – **मर्यादामार्गवैराग्याद्यभावेऽपि गतिः सताम् ।**
चिंतासंतानहंतारोऽप्याचार्यपदरेणवः ।।४।।

श्लोकार्थ – पुष्टिमार्गीय वैष्णव को मर्यादा मार्ग के वैराग्यादिक साधन का अभाव हो तब भी सत्पुरुष की गति होती है और चिंता को मिटाने वाली श्री आचार्यजी के चरणारविंद की रज भी (अपने पर विराजमान) है।

व्याख्या – मर्यादा मार्ग की यह रीति है कि ज्ञान वैराग्य करने से जो गति हो जितना साधन जीव करे उतनी उत्तम गति उसको मिले। ज्ञानमार्ग से सत्यलोक (ब्रह्मा के लोक) में जाता है। यह मर्यादा मार्ग (प्रमाण मार्ग) की रीति है और पुष्टिमार्ग में प्रमेय बल से फल है। साधन से फल नहीं हैं। श्री भागवत के एकादश स्कंध में भगवान् ने कहा है – **"केवल नैव भावेन गोप्यो गावो मृगाः खगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरंजसा।।"** (केवल भाव से ही गोपीजन गायें, मृग, पक्षी और जो अन्य मूढ़ बुद्धि वाले नाग सिद्ध हो, विनाश्रम मेरे को प्राप्त हुए) व्रज में श्रीकृष्ण भगवान् निःसाधन हैं, उनको प्रभु अपने प्रमेय बल से फलदान किया है। वैसे ही इस पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण विराजते हैं वे साधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं। स्वतः प्रमेय बल से निश्चय, फल दान करेगे। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को लौकिक अलौकिक चिंता कभी नहीं करना है। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि"** (निवेदन किया है आत्मा जिनने ऐसे वैष्णव को कभी कुछ चिंता नहीं कर्त्तव्य है) निवेदन किया उस जीव को चिंता नहीं कर्त्तव्य है और श्री गुसांईजी ने नवरत्न ग्रंथ की टीका में मंगलाचरण किया है – **"चिंतासंतानहंतारोयत्पादांबुजरेणवः । स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः।।"** (अपने भक्तों की चिंता के विस्तार को मिटाने वाली जिनकी चरणारविंद की रेणु है, इन अपने श्री अचार्यजी को बारंबार प्रणाम करता हू) श्री आचार्यजी के चरण कमल

की रेणु के प्रसाद से सारी चिंता स्वयं नाश होती है। ऐसे श्री आचार्यजी के चरण कमल को मैं बारंबार नमस्कार करता हूं।

मूलं – अतस्तदीयाः किं भ्रान्ताश्चिंता विदधते जनाः ।
ज्ञानिनोऽपि न वै दुःखं चित्ते दधति लौकिकम् ।।५।।

सेवारसादिरहिताश्चित्रं भक्ताः कथं तथा ।
यैः स्वरूपस्य सेवायां दर्शनस्पर्शनादिकम् ।।६।।

अनुभूतं सदा तेषां चित्तं दुःखयुतं कथम् ।
परमानंदसंबंधे दुःखं तिष्ठति नैव हि ।।७।।

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी के शरण आये ऐसे भगवदीयजन क्यों भ्रांत हुए है। जो चिंता करते हैं, सेवासुख के अनुभव से रहित ऐसे ज्ञानीजन भी चित्त में लौकिक दुःख को नहीं धरते हैं। तब सेवा सुख सहित भक्त चित्त में लौकिक दुःख को क्यों रखते हैं ? यह आश्चर्य है। जिनने स्वरूप की सेवा में दर्शन चरणस्पर्शादिक का सदा अनुभव किया है, उनका चित्त दुःखयुक्त कैसे हो ? क्योंकि जो परमानंद रूप श्रीकृष्ण के संबंध में निश्चय ही दुःख नहीं रहता है।

व्याख्या – ऐसे पुष्टिमार्गीय वैष्णव श्री आचार्यजी के सेवक तदीय भ्रांत होकर चिंता में क्यों पड़े हैं ? क्योंकि जो ज्ञानमार्ग में जीव है वह भी लौकिक दुःख मन में नहीं रखते हैं। उनके चित्त में लौकिक दुःखाग्नि नहीं जलाती है। यह तो पुष्टिमार्ग है जहां श्री आचार्यजी द्वारा भगवान् से संबंध हुआ है वह अज्ञान के कारण चिंता में जलता है। इसलिये चिंता नहीं करनी, प्रभु सर्वसामर्थ्ययुक्त है।

ऐसे पुष्टिमार्गीय वैष्णव श्रीकृष्ण की सेवा रस बिना क्यों रहते हैं ? ज्ञानी को सेवारस का ज्ञान नहीं है वह भी चिंता नहीं करता है तो यह तो साक्षात् श्रीकृष्ण के स्वरूप की सेवा करता है, दर्शन करता है, चरण स्पर्श करता है। तब भी चित्त में भगवद् रस के अनुभव से रहित क्यों रहता है ? इससे यह जाना जाता है कि चिंता चित्त में भरी है इसलिये रस का अनुभव नहीं होता है। यह ऐसा पुष्टिमार्ग है जिसमें भावात्मक सर्व पदार्थ का अनुभव है,

उनका चित्त में दुःख क्यों होता है ? लौकिक चिंता ही से अज्ञान के कारण दुःखी है। भावात्मक रस का अनुभव नहीं होता है और श्रीकृष्ण परमानंद रूप फलात्मक का संबंध श्री आचार्यजी द्वारा हुआ है। ऐसे निवेदनीय वैष्णव के हृदय में दुःख कैसे रहता है ? वह अज्ञान से लौकिक चिंता से दुःखी होता है।

मूलं – पित्रादयस्तुसर्वेऽपि संबंधाद्दुःखहेतवः (संबंधाय स्वहेतवः)
बहिमुर्खजनस्येव बाहिर्मुख्यं ततस्त्यजेत् ।।८।।

श्लोकार्थ – पिता, स्त्री, पुत्रादिक सभी बहिर्मुख जन का संबंध दुःख का कारण रूप है। (अथवा संबंध के लिये बहिर्मुख का अपने कारण रूप है) इसलिये बहिर्मुखता का त्याग करे

व्याख्या – लौकिक में पिता है वह अपने पुत्र को सर्वस्व देता है इसलिये प्रिय लगता है। ऐसे ही स्त्री पुत्रादि कभी अपने लिये प्रिय लगते हैं परन्तु यह पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण से साक्षात् संबंध हुआ है वहां सर्ववस्तु सिद्ध है तब भी अज्ञान से चिंता कर पित्रादिक से लौकिक के अर्थ स्नेह कर बहिर्मुखता करते हैं। अपना (श्रीकृष्ण से हुआ ऐसा) संबंध विचार करे तो बहिर्मुखता का त्याग हो।

मूलं – बहिर्मुखस्य बांधते दोषा दैहिकमानसाः ।
क्षीणधातोरिवार्त्तस्य रोगा वातिकपैत्तिकाः ।।६।।

श्लोकार्थ – जैसे क्षीण धातु रोगी हो उसको वायु के तथा पित्त के रोग बाधा करते हैं। वैसे बहिर्मुख को देह संबंधी और मन संबंधी दोष बाधा करते हैं।

व्याख्या – वैष्णव को बहिर्मुख का संग बाधक है। संग से दैहिक दोष, मानस दोष निश्चय ही आ लगते हैं। यहां दृष्टांत देते हैं कि जो रोगी हो उसकी धातु क्षीण हो उसको वायु, पित्त सर्व आकर ग्रस लेते हैं। इस भांति बहिर्मुख का संग हो उनको सब दोष आकर लग जाते हैं।

मूलं – तन्निवृत्तिस्तु संपाद्या सतां संगेन सेवया ।
श्रीभागवतपाठेन तदर्थश्रवणादपि ।।१०।।

श्लोकार्थ – इनकी निवृत्ति तो सत्पुरुषों के संग से तथा सेवा से संपादन करना और श्रीभागवत के पाठ से तथा इनके अर्थ श्रवण से भी बहिर्मुखता की निवृत्ति करना।

व्याख्या – जैसे रोगी सुन्दर औषधी का सेवन करे तो उसका रोग चला जाता है वैसे ही तादृशीय भगवदीय का वैष्णव का संग करे, उनकी सेवा करे तो बहिर्मुखता चली जाती है। भगवदीय के संग से दैहिक, मानसिक सर्वदोष दूर होते हैं। वहां कोई संदेह करे कि तादृशीय वैष्णव का मिलना दुर्लभ है। वे नहीं मिले तो क्या करे ? वहां कहते हैं कि भागवत का पाठ करे क्योंकि श्रीभागवत श्रीकृष्ण ही का स्वरूप है और श्रीभागवत के पाठ का अभ्यास नहीं हो तो पुष्टिमार्गीय भगवदीय के मुख से श्रवण करे तो सर्व दोष चले जाते हैं।

मूलं – **निवेदनस्मरणतः सद्भिः सह कथादिभिः ।**
सदा नामग्रहणतः सदा शरण भावनात् ।।११।।

श्लोकार्थ – निवेदन के स्मरण से, सत्पुरुषों के संग से, कथादिक से सदा भगवन्नाम ग्रहण से, सदा शरण की भावना से चिंता निवृत्त होती है। इस प्रकार चौदह श्लोक से संबंध हैं।

व्याख्या – श्री भागवत के श्रवण संयोग नहीं बन सके तो अहर्निश निवेदन का स्मरण किया करे तथा सदा भगवदीय के मुख से श्री आचार्यजी महाप्रभु, श्री गुसांईजी के ग्रंथों को सुना करे, यह भी नहीं बन सके तो सदा श्रीकृष्ण के नाम का स्मरण करे, परन्तु नाम का स्मरण भी इस जीव को दुर्लभ है। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"त्वन्नामोच्चारणेऽप्यस्ति न जीवेष्वाधिकारिता। अलौकिकत्वात्त्वन्नाम्नस्तद्वाचो लौकिकत्वतः।।"** (श्रीगुसांईजी श्री गोवर्धननाथजी से कहते हैं कि तुम्हारे नाम का ही उच्चारण करने की योग्यता जीव में नहीं हैं। क्योंकि तुम्हारा नाम तो महा अलौकिक है।) वह जीव की लौकिक वाणी से कैसे लिया जाय ? इसलिये नाम उच्चारण नहीं हो सके तो शरण की भावना करे, विवेक धैर्याश्रय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः । दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।। भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तेश्चातिक्रमे कृते । अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वार्थे शरणं हरिः ।।"** इस लोक तथा परलोक में निश्चय ही हरिशरण है। (दुःख की हानि में तथा पाप

में, भय में, कामादिक अपूर्ण हो वहां, भक्तकृत द्रोह में अथवा भक्त का द्रोह हो जाय वहां, भक्ति के अभाव में और भक्त अतिक्रम करे वहां, अशक्य में तथा सुशक्य में, सर्व अर्थ में हरिशरण है) इत्यादि वचन के अनुसार शरण की भावना करे

मूलं – अष्टाक्षरमहामंत्रकीर्त्तनेन विशेषतः ।
पंचाक्षरेण मंत्रेण तदीयत्वविभावनात् ।।१२।।

श्लोकार्थ – अष्टाक्षर महामंत्र के कीर्तन करने से तथा विशेष करके पंचाक्षर मंत्र के द्वारा तदीय भावना करने से चिंता निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या – अष्टाक्षर महामंत्र है **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** इसी मंत्र को अष्टप्रहर पुकार कर कीर्त्तन करे तो सर्व सिद्ध हो, श्री भागवत के द्वादश स्कंध में श्री शुकदेवजी ने कहा है – **"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत्।।"** (यद्यपि कलियुग दोषनिधि है। परन्तु उसमें एक बड़ा गुण है जो श्रीकृष्ण के नाम का कीर्त्तन जो करता है वह कालबंधन से छूट जाता है) इसलिये अष्टाक्षर मंत्र का कीर्त्तन करे तथा पंचारक्ष मंत्र की भावना तदीय होकर तदीय के संग मिलकर करे श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न में कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (सर्वथा तादृशीय वैष्णव जन के संग निवेदन का स्मरण करने योग्य है) भगवदीय के संग बिना पंचाक्षर भाव प्रकट नहीं हो इसलिये निवेदन के स्मरण में भगवदीय की अपेक्षा है।

मूलं – वैराग्यपरितोषाभ्यां कृष्णसन्निहितस्थितेः ।
लौकिकक्लेशजौदास्यात् पुत्राद्यननुरागतः ।।१३।।

श्लोकार्थ – चिंता की निवृत्ति तब होती है जब जीव वैराग्य एवं संतोष धारण करता है। श्रीकृष्ण की संनिधि में रहता है। लौकिक क्लेश में उदासीन रहता है। पुत्रादि संबंधियों से अनुराग नहीं करता है।

व्याख्या – संसार (इस देह संबंधी लौकिक पदार्थ) में वैराग्य रखना, संसार में वैराग्य हो तो यह लौकिक दुःख सुख चित्त को बाधा नहीं करे, इसलिये वैराग्य रखे और यथालाभ संतोष हो (जो सहज में आय प्राप्त हो उसी में संतोष हो) तो मन में विक्षेप नहीं हो और श्रीकृष्ण जहां विराजते हो पुष्टिमार्ग की रीति से सेवा हो उनके पास स्थिति हो तो दर्शन

सेवा हो सके, उसके विषय में भक्तिवर्धिनी में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति"** (समीप में अथवा दूर में जैसे चित्त दोष युक्त नहीं हो वैसे रहे) निकट रहकर सेवा करे तो चित्त के सारे दोष का नाश हो, परन्तु बहुत निकट से चित्त में दोष आते हैं तो थोड़ी दूर रहे परन्तु नित्य सेवा दर्शन बने वह करे। लौकिक क्लेश से अपना मन उदास रखे, अपने चित्त में लौकिक क्लेश नहीं करे देह संबंधी पुत्र, स्त्री, बंधु किसी में अनुराग नहीं रखे।

मूलं – गृहवित्ताद्यनासक्त्या तदीयेष्वतिरागतः ।
नवरत्नस्य पाठेन सर्वचिंता निवर्त्तते ।।१४।।

श्लोकार्थ – गृह और धन आदि में अनासक्ति करके तदीय वैष्णव जन में अति स्नेह से और नवरत्न ग्रंथ के पाठ करने से लौकिक, अलौकिक संबंधी सारी चिंता निवृत्त होती है।

व्याख्या – गृह, धन इत्यादि में आसक्ति नहीं रखे, ये सारे चिंता के मूल हैं इसलिये इनमें प्रीति नहीं करे पुष्टिमार्गीय भगवदीय में अनुराग रखे तथा नवरत्न ग्रंथ का पाठ नित्य नियम से हो सके उतने करे इससे मन की समग्र चिंता का नाश हो। चिंतानाश के अर्थ गोविन्द दुबे वैष्णव के मिष एतन्मार्गीय सभी के लिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंन्थ प्रकट किया है इसलिये नवरत्न के पाठ से सर्व चिंता निश्चय ही दूर होती है।

मूलं – एवं निवृत्तवैमुख्यं जनं दुःखं न बाधते ।
अतस्तन्मात्रयत्नैस्तु भवितव्यं भवादृशैः ।।१५।।

श्लोकार्थ – उपर कहा उस प्रकार बहिर्मुखता निवृत्त हो गई है जिनकी ऐसे वैष्णव जन को दुःख बाधा नहीं पहुंचाता है। इसलिये बहिर्मुखता निवृत्ति मात्र में जिनका यत्न है उनको तुम्हारे समान रहना है।

व्याख्या – उपर सारे भगवद् धर्म कहे हैं उनसे बहिर्मुखता निवृत्त हो गयी है उनका समग्र दुःख दूर हो गया है। इस मन में परम सुख पायेगा इस भांति दुःख निवृत्ति के अनेक यत्न कर्त्तव्य हैं। ये यत्न भाव के वर्द्धक हैं जिसके भाग्य में शीघ्र फलदान हैं उनसे भाव के वर्द्धक यत्न हो सकेंगे।

बड़े शिक्षापत्र २३

मूलं – दुःखेन न वृथा नेयः कालः परमदुर्ल्लभः ।
कृष्णसेवानुकूलस्तु निजाचार्यश्रयाश्रितैः ।।१६।।
द्रुतं हेया वृथा चिंता प्राप्ताऽपि निजदोषतः ।
चित्तोद्वेगं विधायापीत्येतद्वचनचिंतनात् ।।१७।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के आश्रय के आश्रित अथवा अपने श्री आचार्यजी के दृढ़ आश्रय वाले भगवदीय के आश्रित ऐसे वैष्णव को दुःख कर भगवत्सेवा के अनुकूल यह परम दुर्लभ काल नहीं बताना और दोष से प्राप्त हुई ऐसी ही वृथा चिंता (चित्त का उद्वेग करके भी भगवान् जो करेगे वह इनकी लीला है) नवरत्न के वचन के चिंतन से शीघ्र छोड़ना।

व्याख्या – यह काल परम दुर्लभ है फिर ऐसा समय न आयेगा। यह मनुष्य देह श्रीकृष्ण की सेवा के अनुकूल हैं। इसको लौकिक चिंता करके वृथा नहीं खोना है क्योंकि इसी देह से श्रीकृष्ण की सेवा होती है और युग में यह पुष्टिमार्गीय सेवा नहीं है। यह समय ब्रह्मादिक को भी दुर्लभ है। श्री आचार्यजी द्वारा ब्रह्मसंबंध और युग कहां है ? श्री आचार्यजी महाप्रभु का आश्रय फिर कहां ? श्री आचार्यजी महाप्रभु के आश्रय वाले तादृशीय निज सेवक का आश्रय फिर कहां है ? इस भांति मन में विचार कर यह काल परम दुर्लभ जानकर दुःख क्लेश लौकिक में मन लगाकर नहीं खोना है। भगवदीय का आश्रय तथा अपने श्री वल्लभाचार्यजी का आश्रय कर श्रीकृष्ण की सेवा अवश्य ही कर्तव्य है। यह देह और काल सेवानुकूल है, यह जानकर एक क्षण भी सेवा बिना नहीं रहे। शीघ्र ही चिंता का त्याग करे। एक चिंता से अनेक दोष प्राप्त होते हैं। इसलिये नवरत्न के वचन का चिंतन कर निश्चय ही चिंता का त्याग करे नवरत्न में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति । तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंतां द्रुतं त्यजेत् ।।"** चित्तोद्वेग करके भी हरि भगवान् जो जो करेगे वैसे ही इनकी लीला है ऐसा मानकर शीघ्र चिंता को छोड़ें इस वचन से शीघ्र ही चिंता का त्याग कर उपर भगवद् धर्म कहा है उसमें प्रवृत्त होकर भगवत्सेवा, स्मरण, तादृशीय का संग मन लगाकर करे या नवरत्न ग्रंथ का नित्य चिंतन कर पाठ करे। भाव विचारे तो चिंता दूर होगी।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२३।।

बड़े शिक्षापत्र २४

अब २४वें शिक्षापत्र में भगवत्कृपा ही कारण है इसलिये अपने श्री आचार्यजी का दृढ़ आश्रय रखना, अवतार दशा में जैसे श्री यमुनाजी आदि भगवत्संबंध कराने वाले हैं। वैसे अनवतार दशा में श्री मदाचार्यवर्य भगवत्संबंध साधक है जैसे सभी को मारने वाला सर्प भी अमृतपान करने वाले को सूंघने में भी समर्थ नहीं है वैसे सभी की बुद्धि का नाश करने वाला, यह करालकाल श्रीमदाचार्यजी के आश्रय करने वाले का कुछ भी करने में सामर्थ्य नहीं है। इसलिये अपने को तो संपत्ति में तथा विपत्ति में भी श्रीआचार्य चरणोदित अष्टाक्षर महामंत्र ही साधन और साध्य है। यह निरूपण है। उपर कहा है कि जो चिंता का परित्याग करे और भगवत्सेवादि भगवद् धर्म करे यह जीव में कहां सामर्थ्य है ? कालदोष से ग्रसित है। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु का दृढ़ आश्रय हो तो प्रभु कृपा करे वह आश्रय किस भांति करे, उसके विषय में आगे कहते हैं –

मूलं – भक्तिमार्गे कृपामात्रं कारणं परमुच्यते ।
तेनैव मार्गे सकलं सिद्धिमेति न संशयः ।।१।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्ग में कृपा मात्र उत्तम कारण है इस कारण से ही सकल सिद्धि को प्राप्त करेगे, इसमें संशय नहीं हैं।

व्याख्या – यह श्री आचार्यजी महाप्रभु का पुष्टिमार्ग है उसमें कृपा ही फल का कारण है। साधन से फल नहीं है। कृपा से ही फल सिद्धि है। इसलिये श्रीकृष्ण की कृपा परम कारण है। उसी से यह पुष्टिमार्ग स्थित है। जो वैष्णव है उसको सकल फल सिद्धि है। यद्यपि इन जीवों से साधन नहीं बनता है तब भी क्या हुआ ? पुष्टिमार्ग में स्थिति तो हुई, निवेदन तो किया। इससे प्रमेय बल के बिना ही साधन, इनका श्रीकृष्ण सर्वथा सर्वसिद्ध करेगे। इसमें संशय नहीं है।

मूलं – सा तु स्वाचार्यशरणागतौ तैर्ज्ञापितः प्रभुः ।
यदैव कुरुते कृष्णस्तदा भवति सर्वथा ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र २४

श्लोकार्थ – जब जीव श्री आचार्यजी के शरण में आता है तब श्री आचार्यजी प्रभु को उस जीव का परिचय कराकर कृपा के लिये प्रेरणा देते हैं। इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में आकर अपने श्री वल्लभाचार्यजी के शरणागत होकर रहे तब श्री आचार्यजी जीव के लिये श्रीकृष्ण को जतायेंगे, तब सर्वथा उस जीव पर श्रीकृष्ण कृपा करेगे।

मूलं – **अतस्तदाश्रयो जीवैर्दृढ एव विधीयताम् ।**
यथावतारलीलायां तासां श्रीयमुना मता ।।३।।
यथा वा हरिदासो हि पुलिंदीनां गिरिर्मतः ।
यथा वाग्निकुमाराणां व्रते कात्यायनी मता ।।४।।
प्रादुर्भूतः स्वयं कृष्णो यथा स्वप्रापणे मतः ।
यथा वा दैन्यभावात्मा प्रादुर्भावे स्वयं मतः ।।५।।
तथा परोक्षे जीवानां पुष्टि संबंध सिद्धये ।
श्रीमदाचार्यसंबंधो नान्यदस्ति हि साधने ।।६।।

श्लोकार्थ – इसलिये जीव श्रीमदाचार्य जी का दृढ़ आश्रय करे क्योंकि जैसे अवतार लीला में कुमारिकाओं में श्री यमुनाजी हैं। अथवा पुलिंदियों का भगवद् भक्त गिरिराज है अथवा जैसे अग्निकुमारों का व्रत कात्यायनी हैं। यह सब भगवत्संबंध कराने वाला है। जैसे श्रीकृष्ण की प्राप्ति में स्वयं ही श्रीकृष्ण प्रादुर्भूत हुए हैं और जैसे रास पंचाध्यायी में प्रादुर्भाव में दैन्य भावात्मक आप ही हैं। वैसे जीवों को परोक्ष में पुष्टि संबंध की सिद्धि के अर्थ श्रीमदाचार्य जी द्वारा संबंध ही साधन है, अन्य साधन नहीं है। इसलिये यह पुष्टिमार्गीय जीव श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल का दृढ़ आश्रय निश्चय ही करे, तब फल प्राप्त होता है। जैसे अवतार दशा में श्रीयमुना जी द्वारा कुमारिकाओं को प्रभु प्राप्त हुए वैसे ही अब श्री आचार्यजी द्वारा जीवों को प्रभु संबंध हुआ इसलिये मुख्य श्री आचार्यजी का आश्रय है। इस समय में तो एक श्री आचार्यजी द्वार हैं। जैसे अवतार लीला में हरिदास (श्री गिरिराज) परम भक्त हैं। उनके संग से पुलिंदी को सिद्धि हुई, लीला की प्राप्ति हुई

बड़े शिक्षापत्र

और अग्नि कुमारीकाओं को कात्यायनी के मिष से श्री यमुनाजी द्वारा सिद्धि हुई। पुलिंदी की सेवा श्री गिरिराज द्वारा प्रभु अंगीकार कर कुमारिकाओं की सेवा श्री यमुनाजी द्वारा अंगीकार की वैसे ही अब श्री आचार्यजी द्वारा वैष्णव की सेवा प्रभु यहां अंगीकार करते हैं और श्रीकृष्ण प्राकट्य दशा में स्वयं प्रभु आपकी प्राप्ति कराते हैं। फल प्रकरण रास पंचाध्यायी में अति दैन्य की भावना से आप ही (स्वयं) प्रभु प्रकटे – **"इति गोप्यः प्रगायंत्यः प्रलपंत्यश्च चित्रधा। रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ।। तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखांबुज । पीतांबरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्थमन्मथः ।।"** (ऐसे गोपीका गीत से उत्कृष्ट गान करते और विचित्र प्रकार विलाप करते। श्रीकृष्ण के दर्शन में लालसा वाले, गोपीजन हे परीक्षित ! विप्रयोग द्योतक स्वर से रुदन करते हुए इनके मध्य में हास्यमुक्त हैं, मुखारविंद जिनका ऐसे पीतांबर धारण करने वाले, वनमालायुक्त और साक्षात् कामदेव के कामदेव रूप प्रभु प्रकट हुए) इस भांति दैन्य से प्रकट हुए। प्राकट्य दशा में जैसे श्री यमुनाजी, श्री गिरिराज, प्रभु आप और दैन्य उनसे सब सिद्ध हैं। वैसे ही अब परोक्ष दशा में पुष्टि संबंध हुआ है क्योंकि इस कलियुग में और साधन नहीं है। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु के संबंध से निवेदन हो वही साधन है और दूसरा साधन नहीं है। एक श्री आचार्यजी के संबंध से श्री प्रभु फलदान करते हैं।

मूलं – अतएवोक्तमाचार्यैः स्तोत्रे कृष्णाश्रयाभिधे ।
"शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्" ।।७।।

श्लोकार्थ – इसीलिये श्रीमदाचार्यजी श्री कृष्णाश्रय स्त्रोत में **"शरण में रहे ऐसे जीवों के उद्धार निमित्त श्रीकृष्ण को मैं विज्ञप्ति करता हूं"** ऐसे कहा है।

व्याख्या – हमारे श्री वल्लभाचार्यजी ने श्री कृष्णाश्रय ग्रंथ में श्रीकृष्ण से जीव के लिये विज्ञप्ति की है। जो जीव शरण आये उनका उद्धार करो और प्रतिज्ञा कर जीवों को विश्वास करा धीरज दिया कि उद्धार होगा, चिंता मत करो। आगे कहते हैं –

मूलं – विश्वासार्थं वरमदादिति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ।
अतो नान्यप्रकारेण फलं स्वहृदि चिंत्यताम् ।।८।।

बड़े शिक्षापत्र २४

श्लोकार्थ – वैष्णवों को विश्वास के अर्थ श्रीकृष्णाश्रय ग्रंथ में (श्रीकृष्ण के समीप श्रीकृष्णाश्रय का जो पाठ करता है उनको श्रीकृष्ण का आश्रय होता है) ऐसे श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं, यह प्रतिज्ञा की है। इसलिये अन्य प्रकार से अपने हृदय में फल का विचार नहीं करना।

व्याख्या – श्री आचार्यजी महाप्रभु ने प्रथम श्रीकृष्ण से (उपर लिखे श्लोक में उस प्रकार) विज्ञप्ति करके अब अपने पुष्टिमार्गीय वैष्णवों से कहते हैं – **"कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ । तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्"**। इस कृष्णाश्रय का पाठ श्रीकृष्ण के सन्मुख करे, उस पाठ करने से श्रीकृष्ण अपना आश्रय निश्चय सिद्ध करेगे। यह मेरी प्रतिज्ञा है। इस प्रकार श्री महाप्रभुजी ने प्रतिज्ञा की है। जैसे चीर हरण में श्री ठाकुरजी ने भक्तों को कहा है कि शरद ऋतु में रास कर तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करेगे। यह कहा तब भक्तों को विश्वास नहीं हुआ तो शरद ऋतु पर्यन्त विश्वास नहीं रहता वैसे ही श्री आचार्यजी महाप्रभु ने प्रतिज्ञा कर अपने निज सेवकों को विश्वास दिया। इसलिये एक श्री आचार्यजी महाप्रभु द्वारा फलसिद्धि है और प्रकार से फल का चिंतन नहीं करना।

मूलं – विश्वासेन यथाप्नोति चातकः स्वातिजं जलम्।
तथा चेत्कृष्णजलदः स्वानंदं वर्षयिष्यति ।।६।।

श्लोकार्थ – विश्वास कर जैसे चातकपक्षी स्वाति के जल को पाता है। वैसे ही श्री कृष्ण घनश्याम है वे अपने आनंद को बरसायेंगे।

व्याख्या – विश्वास कर चालक जैसे स्वाति के जल की अपेक्षा रखता है और पृथ्वी पर कूआ, तालाब, नदी समुद्र पर्यन्त भरा है उसमें आशा नहीं रखता है। यह विश्वास देख घन भी चातक का मनोरथपूर्ण करता है। ऐसे ही जिस वैष्णव ने एक श्री कृष्ण ही का दृढ आश्रय मन में किया है और अवतार तथा और देवता से फल की अपेक्षा नहीं रखते है उनको जलद (मेघ) रूप श्री कृष्ण अपना आनंद बरसायेंगे। निश्चय ही आनंद दान करेंगे।

मूलं – एवं विश्वाससद्भावे सर्वमेव भविष्यति ।
यतः परिवृढोऽस्माकं सर्वं कर्त्तुं क्षमो मतः ।।१०।।

श्लोकार्थ – ऐसे विश्वास हो तो सर्व ही सिद्ध होंगे क्योंकि जो अपने स्वामी प्रभु सर्व करने में समर्थ हैं।

व्याख्या – इस भांति पुष्टिमार्गीय वैष्णव शुद्ध भाव से विश्वास करे उनका सर्व सिद्ध हो। श्रीहरिरायजी कहते हैं कि जो ऐसे हमारे प्रभु सर्वकरण में सामर्थ्य युक्त हैं इसलिये कृपा करेगे ही।

मूलं – स हि स्वतः समर्थत्वान्न साधनमपेक्षते ।
कालकार्यं विलोक्यात्र तदीयानां विशेषतः ।।
निःसाधनत्वसंस्फूर्त्या दृढः स्यात्तत्पदाश्रयः ।।११।।

श्लोकार्थ – अपने स्वामी प्रभु स्वयं ही समर्थ हैं। इसलिये साधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं। काल के कार्य को देखकर तदीय वैष्णव को विशेषकर निःसाधनपने की बराबर स्फूर्ति हो इसलिये इनके चरणारविंद का दृढ़ आश्रय रखना चाहिए।

व्याख्या – श्रीकृष्ण स्वयं ही स्वतः सामर्थ्ययुक्त हैं कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है। वे अपने भक्तों के साधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं। जो यह इतना साधन करे तो यह फल होता है यह तो अन्य देवता में होता है। जो जितना साधन करे उतना लौकिक फल देते हैं। वह श्रीकृष्ण में नहीं है। इस काल की कृति महाकठिन है, विपरीत धर्मयुक्त देखकर अपने तदीय पर बिना साधन ही विशेष कृपा करते हैं। जैसे व्रजभक्त ने रास पंचाध्यायी में अंतर्धान समय अनेक साधन किये तथा लीला की, पीछे निःसाधन होकर गुणगान किया तब प्रभु ने अपना ही आश्रय जानकर प्रकट हुए। वैसे ही जब वैष्णव मन से निःसाधन होकर दैन्य कर दृढ़ आश्रय करे तब प्रभु कृपा करे।

मूलं – असुराणामविश्वासस्तथा तत्संगिनामपि ।
मतिमोहो महादोषनिधानं संभविष्यति ।।१२।।

श्लोकार्थ – असुर जीव का ही प्रभु में अविश्वास है। वैसे इनके संगी को भी अविश्वास है। इसलिये इनमें से किसी का संग हो तो मति मोह रूप महादोष का निधान अवश्य संभव है।

व्याख्या – जिनके मन में अविश्वास है वह केवल असुर ही है। उनका जो कोई संग करता है उनको भी आसुरावेश रूप अविश्वास होता है। इसलिये उनका संग नहीं करना।

इस जीव को मति का मोह हुआ है इसलिये दोष रूप हो रहा है। इस कारण निःसाधनता नहीं आती है। अहंता दोष सहित है अपने को यह जानता है कि मैं ही करता हूं। यह अज्ञान दोष कभी दूर नहीं होता है।

मूलं – यथा पूर्वकथां श्रुत्वा भगवत्पादसेविनाम् ।
स्वस्मिन् दैन्यसमुत्पत्तिस्तथा साधननाशनम् ।।१३।।

श्लोकार्थ – भगवान् के चरणारविंद का सेवन करने वाले की पहले की (प्रल्हादादिक की) कथा सुनकर जैसे अपने में दैन्य की बराबर उत्पत्ति होती है। वैसे साधन का नाश होता है।

व्याख्या – जब पूर्वजों प्रथम के भक्त प्रह्लादजी तथा व्रजभक्तादिक ने श्री भागवत में कहा है तथा पुष्टिमार्गीय श्री आचार्यजी महाप्रभु के सेवक चौरासी वैष्णव की वार्त्ता प्रभृति कथा सुनी है, इस भांति सेवा की है। मैं क्या करता हूं, इस भांति दैन्य हो भगवत्सेवा करे तब निःसाधन होकर सर्वदोष दूर होते हैं। इसलिये श्रवण मुख्य सेवा का पोषक है। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"सेवायां वा कथायां वा"** (दो कर्त्तव्य है भगवत्सेवा प्रीति से करे और भगवदीय के मुख से कथा सुने जिससे दैन्य होता है) उसके करने से अहंता रूप (मैं साधन करता हूं इस) दोष का नाश होता है।

मूलं – तदीयानां सर्वमस्ति सदा तद्भावभाविनाम् ।
इतरेषांकालिकानां कालेन निखिलं गतम् ।।१४।।

श्लोकार्थ – निरंतर इनके भाव से भावित जो तदीय हैं, उनको सर्व सिद्ध है तथा जो काल के वश है, उनके सर्वकार्य काल ने ग्रस लिये हैं।

व्याख्या – तदीय जो हैं उनके भाव से भावित होकर वे जो भाव करते हैं उस भाव में ये भी लगे तब फलसिद्धि होती है इसलिये श्रवण भी आवश्यक है। गोपीका गीत में कहा है – **"तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् । श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुविगृणंति ते भूरिदाजनाः ।।"** (संसार से तप्त अथवा विप्रयोगाग्नि से तप्त) के जीवन रूप की कविजनों ने प्रशंसा की है। पाप (मद) को मिटाने वाले, श्रवण से मंगल रूप, लक्ष्मीयुक्त और सर्वत्र व्याप्त, ऐसे आपकी कथा रूप अमृत के कहने वाले जो हैं, वे बहुत

अर्थ देने वाले अजन (भगवद् रूप) अथवा जन्मादिदोष रहित हैं। इसलिये श्रवण से सर्वदोष दूर होते हैं और भगवद् भाव बढ़े इसलिये यह भाव रहित जो हैं उनका सारा साधन यह करालकाल खाता है। क्योंकि जो काल सारे का संहारकर्त्ता है वह अखिल जगत को खाता है।

मूलं – **यतः कालस्तद्विभूतिः "कालः कलयतामहम्" ।**
मुख्याधिकार्यपि हरेरिच्छाशक्तिस्वरूपवान् ।।१५।।

तदंतरंगदासेषु न तत्सामर्थ्य मिष्यते ।।१६।।

श्लोकार्थ – काल है वह भगवान् की विभूति है। क्योंकि जो गीताजी में विभूति के अध्याय में श्री भगवान् ने कहा है कि जो संख्या करने वाले में काल है, वह मैं हूं। इससे यह काल मुख्य अधिकारी इच्छाशक्ति रूप है। तब भी भगवान् के अंतरंग दासों के उपर इनका सामर्थ्य नहीं है।

व्याख्या – काल भगवान् की विभूति है। इसलिये कलिदोष से महामलिन सृष्टि इस काल में लीन होती है। काल भगवान् का मुख्य अधिकारी है। इच्छाशक्ति का स्वरूप है। इस कारण ब्रह्मादिकों को भी नहीं छोड़ता है। ऐसे काल का भी सामर्थ्य श्रीकृष्ण के अंतरंग दासों के उपर नहीं है। भगवदियों को बाधा नहीं कर सकता है।

मूलं – **स हि सर्पो यथाऽन्येषां मारकोऽपि न हि क्षमः ।**
पीतामृतं जनं जातु स्प्रष्टुमाघ्रातुमेव च ।।१७।।

तथाकालेऽपि मनुजं महापुरुषसंस्थितम् ।
भक्तिपीयूषपातारं न किंचित्कर्त्तुमीश्वरः ।।१८।।

श्लोकार्थ – जैसे सर्प अन्य को मारने वाला है वह भी अमृत पान करने वाले को कदाचित् स्पर्श करने में और सूंघने में समर्थ नहीं है। वैसे काल भी महापुरुष (श्री आचार्यजी महाप्रभु) का आश्रय करने वाला भक्ति रूप अमृतपान करने वाले मनुष्य का कुछ भी करने में सामर्थ्य नहीं रखता है।

व्याख्या – यह कालरूप सर्प है सारे जगत को खाता है। परन्तु श्रीकृष्ण के चरणामृत तथा अधरामृत जिनने पान किया है, ऐसे भक्त का स्पर्श नहीं करता है और सूंघता भी नहीं

है। उसको श्री गुसांईजी ने सप्तश्लोकी में कहा है – **"अघौघ तमसावृतं कलिभुजंग मासादितं जगद्विषयसागरे पतितमस्वधर्मेरतम् । यदीक्षणसुधानिधिः समुदितोऽनुकंपा मृतादमृत्युमकरोत् क्षणादरणमस्तु मे तत्पदम् ।।"** (पाप के समूह रूप अंधकार से आवृत्त, कालरूप सर्प ने ग्रसित, जगत के विषयरूप समुद्र में गिरा, और अपने धर्म से विमुख, ऐसे जीव को जिनके (श्री आचार्यजी के) कृपाकटाक्ष रूप चंद्र उदित होकर दयारूप अमृत से एक क्षण में अमर कर दिया इनके चरण में मेरा शरण हो) इस भांति श्री आचार्यजी महाप्रभु ने चरणामृत का पान जिस किसी जीव ने किया है उनको काल रूप सर्प ने स्पर्श नहीं किया है और सूंघता भी नहीं है। महापुरुष सर्व में उत्तम श्री आचार्यजी महाप्रभु तथा पुष्टिमार्गीय भगवदीय के आश्रित जो मनुष्य हो रहे हैं पुष्टिभक्ति अमृत रस का पान करते हैं, उनको रंचक काल दोष बाधक नहीं है। काल जैसे ईश्वर की आज्ञा में रहता है, वैसे ही भगवदीय से डरता है। ईश्वर भी भगवदीय को बाधा नहीं करता है। वहां काल क्या है ? वह वार्त्ता में प्रसिद्ध है कि प्रभुदास ने दही के बदले मुक्ति दी, जो भक्ति मांगते तो भक्ति देते, इनका काल क्या कर सकता है ?

मूलं – तदीयैः सर्वकार्येषु न कालश्चिंत्यतां हृदि ।
"तथैव तस्य लीलेति" वचनात् सर्वं चिंत्यताम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – जो तदीय है उनको सर्वकार्य में हृदय में काल का चिंतन नहीं लाना चाहिए यह काल ने किया है, क्योंकि नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"जो जो भगवान् करेगे वह वैसे ही इनकी लीला जानकर चिंता को छोड़ना"**, इस वचन से प्रभु की लीला का ही चिंतन करना।

व्याख्या – जो तदीय है सर्वकाल भगवद् धर्म में निपुण है उनको अपने काल की चिंता नहीं करना चाहिए। किसी काल में चिंता नहीं कर्तव्य है। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"तथैव तस्य लीलेतिमत्वा चिंता द्रुतं त्यजेत्"** (वैसे ही इनकी लीला है, ऐसा मानकर शीघ्र ही चिंता को छोड़े) इस वचन का चिंतन हृदय में करके चिंता नहीं करना, सारी श्रीकृष्ण की लीला ही जानना।

मूलं – सर्गादिलीलाकर्त्तृत्वात् किं चित्रं तादृशि प्रभो ।
विवेकोऽप्ययमेवात्र स हितं वै विधास्यति ।।२०।।

स्वकीयानां निजेच्छातस्ततश्चिंताऽत्र का भवेत् ।।२१।।

श्लोकार्थ – श्री भागवत में ऐसी सर्गादि दश लीला करने का कहा है जिसमें ऐसे प्रभु में आश्चर्य क्या है? प्रभु निजेच्छा से अपने भक्तों का हित ही करेगे यह यहां विवेक हैं। इसलिये चिंता क्यों हो?

व्याख्या – श्री भागवत् में सर्व विसर्गादि दशविध लीला कही है। ऐसे प्रभु की सारे जगत में लीला जाने, ऐसे जिसके मन में हो उसको ही विवेकी कहना। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति"** (हरि अपनी तथा अपने भक्तों की इच्छा से सर्व करेगे, यह विवेक जानना) यही विवेक जो सर्वकार्य में निजेच्छा माने, इस भांति भगवान् के स्वकीय निजभक्त हैं, वे सर्वकार्य में भगवदिच्छा जानते हैं।

मूलं – भवंतः श्रुतसद्वार्त्ताः सत्संगकृतयोऽपि हि ।
प्रभुपादैकगतयस्तेषां का परिदेवना ।।२२।।

श्लोकार्थ – तुमने सद्वार्ता सुनी है (भगवदियों की वार्ता) जिनने ऐसे और सत्संग करने वाले तथा प्रभु के चरणारविंद में ही एक आसक्ति वाले हो, उनको क्या चिंता है?

व्याख्या – और तुम तो भगवान् के संबंधी हो, भगवद् भाव सुनते हो, भगवद् वार्त्ता सुनते हो, और सत्संग भी बहुत करते हो, इसलिये तुमको किसी प्रकार की चिंता नहीं कर्त्तव्य है। प्रभु श्रीकृष्ण तथा श्री आचार्यजी महाप्रभु जिनके पद कमल में तुम्हारी प्रीति है, ऐसे तुम हो, इस कारण परिवेदना (चिंता) नहीं कर्त्तव्य है।

मूलं – धर्मसंस्थापनार्थाय यस्य प्राकट्यमुच्यते ।
स हि धर्मव्यतिकरं स्वकृतं सहते कथम् ।।२३।।

श्लोकार्थ – धर्म के सुन्दर स्थापन के अर्थ जिनका प्राकट्य सर्वत्र कहा है वह स्वकृति से धर्म का व्यतिक्रम (नाश) करे, उसको कैसे सहन करे?

बड़े शिक्षापत्र २४

व्याख्या – धर्म के स्थापन के लिये श्री महाप्रभुजी का तथा श्री गुसांईजी का प्राकट्य है वह उचित है। धर्म की रक्षा करते हैं। उसको भगवदियों ने गाया है – **"चहुजुग वेदवचन प्रतिपार्यो । धर्मग्लानि भई जबहीं जब तब तब तुम वपु धार्यो ।।" सत्ययुग श्वेत वराह रूप धरि हिरण्याक्ष रिपु मार्यो । त्रेतारामरूप दशरथ गृह रावण कुलसंहार्यो ।। द्वापर व्रज डूबत तें राख्यो सुरपति पावन पार्यो । कंसादिक दानवसब मारे वसुधा भार उतार्यो । कलियुग श्री वल्लभगृह प्रकटे मायावाद निवार्यो । मानिक चंद प्रभु श्री विठ्ठल पुरुषोत्तम रुप निहार्यो ।।** (इस भांति श्री विठ्ठल पुरुषोत्तम रूप है, धर्म स्थापनार्थ प्राकट्य है। इसलिये जो कोई वेद धर्म का अतिक्रम करे, अपनी मनमानी क्रिया करे उन्मत्त हो वह प्रभु को नहीं सुहाता है)

मूलं – ब्रह्मण्यो धेनु विप्रेशो वेदधर्मैकपालकः ।
सह कथं सहते कृष्णस्तद्विरोधं जनैः कृतम् ।।२४।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण ब्राह्मण की रक्षा करने वाले हैं। धेनु और ब्राह्मण के ईश हैं। वेद धर्म के मुख्य पालक हैं। वे श्रीकृष्ण ब्राह्मण, गाय और वेद धर्म इनका विरोध जिनने किया है उसको कैसे सहेंगे ?

व्याख्या – प्रभु ब्रह्मण्य है। धेनु, विप्र वेद धर्म के प्रतिपालक है, ऐसे भगवान् से बहिर्मुख जीव (उनसे विरोधकर्त्ता मनुष्य) की विरुद्ध कृति श्रीकृष्ण कैसे सहे ?

मूलं – परमानंदसंदेहो दयालुः सुतरामपि ।
स कथं सहते कृष्णो दयाभावः जनेष्वपि ।
अतोऽत्र यदिदं जातं तत्स्वदोषेण सर्वथा ।।२५।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण परम आनंद के समूह हैं और निरन्तर अत्यन्त ही दया वाले हैं, वे मनुष्यों में दया के अभाव को कैसे सहन करे ? इसलिये यहां जो हुआ है वह अपने दोषों का निश्चय हुआ है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण परमानंद रूप है, परम दयालु है, किसी के दुःख को नहीं देख सकते हैं। प्राणी मात्र के आनंददाता है। वे अपने स्वकीय निजभक्तों के दुःख कैसे सहन करेगे।

इसलिये भगवदीय वैष्णव का यह लक्षण है कि लौकिक वैदिक कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता है तथा किसी वस्तु की हानि होती है वहां अपना ही दोष देखना। देह संबंधी अनेक दुःख में अपना ही दोष का विचार करना।

मूलं – निर्दोषपूर्णगुणता हरौ नित्यं विराजते ।
कदाचित् स्वप्रभोर्दोषो नानेयः सर्वथा हृदि ।।२६।।

श्लोकार्थ – हरि में निर्दोष पूर्ण गुण विराजित है। इसलिये किसी समय प्रभु के दोष सर्वथा अपने हृदय में नहीं लाना।

व्याख्या – प्रभु के विषय में रंचक भी दोष नहीं विचारना, प्रभु तो भली ही करते हैं। मेरा दोष है, इसके कारण यह क्लेश हुआ है, यह निश्चय मन में जानना। श्रीकृष्ण सदा निर्दोश है। सकल गुण से परिपूर्ण है। ऐसे श्रीकृष्ण सर्वदुःख के हर्त्ता हैं, उनमें निर्दोष पूर्ण सदा विराजमान हैं। इसलिये कदापि किसी प्रकार से प्रभु के दोष हृदय में सदा नहीं लाना।

मूलं – के वा वयं वराका यदुद्धवाद्या अपि प्रभोः ।
श्रुतवंतो विसदृशीं लीलां पश्चात्स्थिता अपि ।।२७।।

श्लोकार्थ – जिससे उद्धवादिक भक्त भी प्रभु की विपरीत (प्रभास में आसुर व्यामोह की) लीला सुनने को पीछे पृथ्वी पर रहे, वहां तुच्छ जीव हम क्या हैं ?

व्याख्या – श्री हरिराय जी कहते हैं कि मैं अपने को क्या कहूं महा तुच्छ हूं। उद्धवादिक बड़े भगवद्भाव की भी यह गति है। जिनकी लीला सुन देख अनुभव कर उद्धव अपने प्रभु के अंतर्धान समय सुनकर फिर प्रभु बिना स्थित रहे तो मैं क्या कहूं ?

मूलं – कुंतीवदीदृशं भाग्यं कस्य भाग्यवतो भवेत् ।
सद्यः प्राणविमोकोऽत्र श्रीकृष्णविरहेण हि ।।२८।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण के विरह से शीघ्र यहां प्राण का त्याग हो ऐसा कुंतीजी के बराबर कौन भाग्य वाले का भाग्य है ?

व्याख्या – कुंती बड़ी भक्त परम भाग्यवती जो श्रीकृष्ण के अंतर्धान सुनते ही विरह से अपने प्राण तत्काल छोड़ दिये। इस कारण कुंती महाभाग्यवती भक्त थी।

बड़े शिक्षापत्र २४

मूलं – अस्माकं तु प्रभुर्नित्यमक्षता व्याहतोऽधुना ।
विराजते ततो दुःखं न विधेयं मनस्यपि ।।२६।।

श्लोकार्थ – अपने प्रभु तो अखंडित सदा अब नित्य बिराजते हैं। इसलिये मन में दुःख नहीं करना।

व्याख्या – हमारे प्रभु तो नित्य ही प्रत्यक्ष विराजमान है। श्री आचार्यजी द्वारा जिनका संबंध हुआ है वह प्रभु सदा घर में विराजमान है इसलिये मन में दुःख धारण सर्वथा नहीं कर्त्तव्य है।

मूलं – भगवद्भिर्मिलितैः सर्वैरियं शिक्षा विचार्यताम् ।
ततः संदेहजातं यद्बुद्धिस्थं तद्व्यपोह्यताम् ।।३०।।

श्लोकार्थ – श्रीहरिरायजी लिखते हैं कि तुम सारे भगवदियों से मिलकर इस शिक्षा को विचारोगे, जिससे बुद्धि में जो रहा संदेह समूह वह भी दूर होगा।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि यह शिक्षा तुमको लिखकर भेजी है उसको सारे पुष्टिमार्गीय भगवदीय भक्तों से मिलकर विचार करना, जिससे मन का चिंता रूप सकल संदेह दूर हो जायेगा तथा बुद्धि सुंदर पोषक होगी।

मूलं – अस्माकं साधनं साध्यं 'श्रीकृष्णः शरणं मम'।
संपत्स्वापत्स्वपि सदा स्वाचार्यचरणोदितम् ।।३१।।

श्लोकार्थ – हमारे संपत्ति में तथा आपत्ति में सदा अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा कि **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह अष्टाक्षर मंत्र साधन तथा फल रूप है।

व्याख्या – हमारे तो साधन और सिद्धि एक "श्रीकृष्णः शरणं मम" यह है श्री वल्लभाचार्यजी ने अष्टाक्षर महामंत्र प्रकट कर श्रीकृष्ण ही के शरण सिद्धि की है। इसलिये हम तो एक श्रीकृष्ण ही का आश्रय हृदय में रखकर श्रीकृष्ण ही की शरण मन, वचन, कर्म से सर्वभांति यही साधन तथा साध्य जानते हैं। संपत्ति अनेक सुख में भी श्रीकृष्ण की शरण है और आपत्ति (दुःख) में भी एक श्रीकृष्ण की ही शरण ली है। क्योंकि हमारे आचार्य चरण ने यह मंत्र प्रकट किया है। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"यदुक्तं तात चरणैः**

'श्रीकृष्णः शरणं मम'। तत एवास्ति नैश्चिंत्य मैहिके पारलौकिके'' (जो पितृ चरण श्री महाप्रभुजी ने कहा है कि **'श्री कृष्णः शरणं मम'** इससे यह लोक तथा परलोक संबंधी सारे में निश्चिंतता है) इत्यादिक वचनानुसार अष्टाक्षर मंत्र ही हमारे साधन तथा साध्य हैं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२४।।

बड़े शिक्षापत्र २५

अब २५वें शिक्षापत्र में फलात्मक श्रीमदाचार्य के चरणद्वय सदा ही हृदय में धारण करना, उसमें फल का संशय नहीं रखना, इसमें जो संशय रखे उसे आसुर जानना, श्री सुबोधिन्यादि ग्रंथ विद्यमान रहते मनुष्य भक्तिमार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिये भगवान् की कृपा ही साधन है, ऐसे जानने में आता है। जैसे इन्द्रियों की वृत्ति प्राण बिना नहीं चलती है, वैसे प्रभु की कृपा बिना साधन का उपयोग नहीं होता है। इस शिक्षा पत्र में इसका निरूपण है। उपर कहा कि चिंता नहीं करनी है। अष्टाक्षर ही परम गति है। कोटानकोटि साधन करे सारे धर्म हो और श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय सिद्ध नहीं हो तो कुछ सिद्ध नहीं होता है। इसलिये जिस भांति श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल का सदा आश्रय हो, उनको फलदान होता है, उसका आगे शिक्षापत्र में निरूपण करते हैं।

मूलं – श्रीवल्लभपदांभोजभजनादरणादपि ।
दयापरः कदाचित्तं न जहाति जनं हरिः ।।१।।

श्लोकार्थ – श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल के भजन में आदर से भी दयालु हरि किसी दिन उस जन को नहीं छोड़ते हैं।

व्याख्या – जो वैष्णव श्री वल्लभाचार्य जी के चरणारविंद का भजन आदरपूर्वक करता है। एक उसी में अनन्य भाव है जैसे सूरदासजी ने गाया है – **''भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो। श्री वल्लभ नखचंद्र छटा बिन सब जग में ही अंधेरो''**। श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल की सेवा में सदा जो वैष्णव आदर करते हैं, अपने स्वरूपानंद का दान सदा करते हैं।

बड़े शिक्षापत्र २५

मूलं – कृपाकटाक्षसंपातपक्षपातपरो हरिः ।
क्षमते तत्कृतं दोषलक्षमप्यक्षमं स्वतः ।।२।।

श्लोकार्थ – जिन जीवों पर श्री मदाचार्य चरणों के कृपा कटाक्ष की वृष्टि की वर्षा की बूंद भी गिर जाती है उनके अक्षम्य लक्ष दोषों को भी सहन कर लेते हैं क्योंकि हरि निज जनों के पक्षपाती हैं।

व्याख्या – जिन वैष्णवजन के उपर आप श्री आचार्यजी महाप्रभु कृपा कटाक्ष करते हैं, उनका पक्षपात श्री ठाकुरजी करते हैं। पद्मनाभदास छोला रखते उनको श्री ठाकुरजी श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से प्रीति से अरोगते हैं इस भांति जिस पर श्री आचार्यजी कृपा कटाक्ष कर भक्ति रसदान करते हैं, उनको श्रीकृष्ण आप सदा पक्षपात करते हैं। उन वैष्णवों से लक्षावधि अपराध होते हैं, तब भी श्रीकृष्णचन्द्र सर्व अपराध क्षमा करके आप कृपा ही करते हैं।

मूलं – यदीयहृदये श्रीमदाचार्यचरणद्वयम् ।
त एव शरणं दोषशतावृत्तिमतो मम ।।३।।

श्लोकार्थ – जिनके हृदय में श्री मदाचार्यजी के चरणद्वय हैं वह ही शत दोष की आवृत्ति वाला मैं हूं, उनकी शरण हैं।

व्याख्या – जिस पुष्टिमार्गीय भगवदीय के हृदय में श्री आचार्यजी महाप्रभु के दोनों चरण कमल विराजते हैं उसके शताधिक (सौ से अधिक) अपराध हो, उनका भी नाश कर प्रतिबंध दूर करते हैं।

मूलं – यदंगुलिनखानंदचंद्रशैत्यं सदा हृदि ।
तापं हरति भक्तानां तदानंदपदांबुजम् ।।४।।

श्लोकार्थ – जिनकी अंगुलियों में नखचन्द्र की शीतलता है वह आनंद रूप चरणारविंद भक्तों के हृदय का सदा ताप हरता है।

व्याख्या – श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल की दश अंगुली परम सुन्दर है उनमें नखचंद्र दश है वह एक नखचंद्र की छटा के आगे कोटि चंद्रमा की कला लज्जित होती

है। जिन वैष्णवों ने हृदय में धारण किया है, उन भक्तों के हृदय को त्रिविध ताप (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तथा कायिक, वाचनिक और मानसिक) अनेक जन्म के दोष रूप तथा श्रीकृष्ण के मिलने में प्रतिबंध रूप सारे पाप दूर होते हैं। ऐसे श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण कमल है, वे सेवकों को सदा आनंद दान करते हैं।

मूलं – अस्तु वस्तुशतं लोके वेदे च परिकीर्त्तितम् ।
फलत्वेन निजाचार्यचरणाब्जद्वयं मम ।।५।।

श्लोकार्थ – लोक में तथा वेद में कही शतवस्तु हो पर मेरे तो फलत्व अपने श्री आचार्यजी के दोनों चरण कमल हैं।

व्याख्या – लोक और वेद में कीर्त्तित वस्तु रूप पदार्थ बहुत है। सत्य लोक (ब्रह्मलोक) सारे ज्ञानमार्गीय मर्यादा मार्गीय का सर्वोपरि फलरूप है। वह हमारे पुष्टिमार्ग में ब्रह्मलोक कहां ? मोक्ष चतुष्ट्य तक सब तुच्छ है। ऐसे इस पुष्टिमार्ग में जिसमें श्रीकृष्णाधर सुधापान ही परम फल है, वह साधन करने से सिद्ध नहीं होता है। एक श्री वल्लभाचार्यजी के चरणांबुज द्वय ही फल रूप है। इनसे ही श्रीकृष्णाधरामृता सिद्धि है।

मूलं – न कर्म वेदविहितं फलं जनयति ध्रुवम् ।
यतो बहिर्मुखं चित्तं जायतेऽन्यश्रुतेर्हरेः ।।६।।

श्लोकार्थ – वेदोक्त कर्म निश्चय फल को उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि भगवान् से भिन्न श्रवण करने से चित्त बहिर्मुख होता है।

व्याख्या – वेद विहित अनेक प्रकार के कर्म हैं। ज्ञान मार्ग, योग मार्ग, कर्म मार्ग, उपासना मार्ग, अनेक व्रत, संयम, नियम, इत्यादिक अनेक साधन हैं, उनसे इस पुष्टिमार्ग का फल निश्चय जाना नहीं जाता है। क्योंकि यह पुष्टिमार्ग केवल व्रजभक्तों के भावात्मक सर्वोपरि है। वह श्री महाप्रभुजी की कृपा से साध्य है। साधन से सिद्धि नहीं है, जिससे बहिर्मुख के चित्त में तथा श्रवण में श्री हरि की कथा रूप अमृत और भगवद् धर्म नहीं सुहाता है।

मूलं – ज्ञानं तु (मुक्ति) भक्तिहेतुत्वात्सानैव फलरूपिणी ।
यतो जीवस्य दासत्वहेतुभेदनिवर्त्तिका ।।७।।

बड़े शिक्षापत्र २५

श्लोकार्थ – ज्ञान तो मर्यादा भक्ति को उत्पन्न करने वाला होने से कदाचित् फलरूप है। परन्तु मर्यादा भक्ति फलरूप नहीं है। क्योंकि मर्यादा भक्ति जीव के दासत्व के कारण रूप भेद को मिटाने वाली है। अथवा ज्ञान तो मुक्ति को उत्पन्न करने वाला है। वह मुक्ति फलरूप नहीं है। क्योंकि जो मुक्ति जीव के दासत्व के कारण रूप भेद को मिटाने वाली है। (मुक्ति में प्रभु और जीव का भेद नहीं रहता है)

व्याख्या – शास्त्र में ऐसा कहा है कि ज्ञान है वह भक्ति का हेतु है इसलिये भक्ति को ज्ञान हुआ है। उसके करने से भक्ति होती है, वह मर्यादा भक्ति है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष फल है। उसमें ज्ञान ही मुख्य है। उसके पीछे मर्यादा भक्ति होती है। वह ज्ञान और मर्यादा मार्गीय भक्ति दोनो पुष्टिमार्ग के फल के विरोधी हैं क्योंकि उसमें दासत्व नहीं रहता है और पुष्टिमार्ग में तो जीव का दासत्व मुख्य है। जीव सेवक है, प्रभु स्वामी है। इस भांति श्री भगवत्सेवा है, उस भाव का निवर्त्तक ज्ञान है वहां स्वामी सेवक भाव नहीं है।

मूलं – **मर्यादाभक्तिरप्येषा तावदेव फलात्मिका ।**
यावन्न जायते (ज्ञायते) पुष्टिभक्तिः सकलमूर्द्धगाः ।।८।।

श्लोकार्थ – यह मर्यादा भक्ति भी जब तक सकल के मस्तक पर रहने वाली पुष्टिभक्ति उत्पन्न नहीं हुई हो अथवा जानने में नहीं आवे तब तक फलात्मक है।

व्याख्या – इस मर्यादा भक्ति के ज्ञान में अहं ब्रह्म मानते हैं, मैं ही ब्रह्म हूं, उसके कारण प्रभु से सेवक भाव छूट जाता है। इसलिये यह पुष्टिमार्ग सर्वोपरि (शिरोमणि) है। ज्ञान तथा मर्यादा मार्ग की भक्ति के मस्तक पर विराजता है।

मूलं – **पुष्टिभक्तिर्हरेरास्यं तत्त्वस्मत्प्रभवः स्वयम् ।**
त एव संश्रिताः संतः फलरुपा भवंति हि ।।६।।

श्लोकार्थ – हरि भगवान् का मुखारविंद है वह पुष्टिभक्ति है। वह मुखारविंद तो अपने श्री आचार्यजी महाप्रभुजी आप हैं। इनका श्रद्धापूर्वक आश्रय करे तो यह निश्चय ही फल रूप हो।

व्याख्या – यह पुष्टिभक्ति है। श्री ठाकुरजी ने रासलीलादि कर भक्तों को सुधादान दिया। श्रीकृष्ण के मुखारविंद रूप श्री वल्लभाचार्य जी (इस कलियुग पुष्टि भक्ति के लिये)

प्रकट हुए। श्री आचार्यजी महाप्रभु स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के मुखारविंद रूप प्रकट हुए हैं। इसलिये श्री आचार्यजी के चरण कमल के दृढ़ आश्रित हैं, उन्हीं भगवदियों को फल सिद्धि हैं।

मूलं – तदुत्तरं न कर्त्तव्यमनुभूतेः परं किमु ।
यथा लोके फले प्राप्ते न भोगादधिका कृतिः ।।१०।।

श्लोकार्थ – उसका उत्तर (सामने तर्क) नहीं करना, क्योंकि जो अनुभव से अधिक और क्या है। जैसे लोक में फल प्राप्त होता है तब भोग से अधिक कृति नहीं है।

व्याख्या – इसलिये उत्तर जो पुष्टिमार्ग के प्रतिकूल विचार (ज्ञान, कर्म, वेद, मर्यादा भक्ति इत्यादिक विरुद्ध धर्म के अनुसार विचार) नहीं करना है। क्रिया अधिक नहीं है, वैसे पुष्टिमार्ग का अनुभव हो उसके पीछे ओर को अधिक नहीं जानना।

मूलं – तस्मात् फलं निजाचार्यपदांभोजद्वयं सदा ।
हृदि धार्यं नैव कार्यं संशयायितमानसम् ।।११।।

श्लोकार्थ – इसलिये फलरूप अपने श्री आचार्यजी के दोनों चरणारविंद सदा हृदय में धारण करना (उसमें) संशययुक्त मन नहीं करना।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय भगवद् धर्म सेवादि कर अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु के दोनों चरण कमल को अपने हृदय में धारण करने में मन में किसी प्रकार का संशय (अविश्वास) नहीं रखना चाहिए। श्री गीताजी में कहा है – **"संशयात्मा विनश्यति"** (संशय रूप अंतकरण हो वह नाश को प्राप्त करता है) संशय से फल क़ा नाश होता है, इसलिये संशय नहीं करे।

मूलं – अत्र संशयमापन्नाः सर्वथा ह्यासुरा मताः ।
दैवा अपि पुरा तेऽपि हरिणा पातिताः करात् ।।१२।।

श्लोकार्थ – इसमें संशय को प्राप्त हुए जीव को निश्चय ही आसुर जानना। प्रथम दैवी सृष्टि में उत्पन्न हुए हों उनको हरि ने अपने श्रीहस्त से (संसार में) डाले हैं।

व्याख्या – श्री वल्लभाचार्यजी के स्वरूप में संशय हो तथा इस पुष्टिमार्ग में संशय हो, उसको सर्वथा आसुर ही जानना, दैवी जीव हो अथवा आसुर कोई हो, जिसको अविश्वास हो, उसको श्री ठाकुरजी अपने हाथ से संसार में डाल देते हैं। उसका अंगीकार कभी नहीं करते हैं। विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः"** (अविश्वास नहीं करना क्योंकि वह सर्वथा बाधक है) इस कारण अविश्वास महाबाधक है।

मूलं – **अहो महच्चित्र मिदभवतीर्णे हरौ भुवि ।**
विद्यमाने भागवते विवृतावपि सर्वथा ।।१३।।

सत्यां भुवि सुबोधिन्यां सत्सु सत्सु क्वचित् क्वचित् ।
ग्रंथेषु विद्यमानेषु सर्वार्थ ज्ञापकेष्वपि ।।१४।।

तथापि न प्रवर्त्तंते जना भक्ति पथे पुनः ।
प्रायः कृपैव हरिणा कारणत्वेन रक्षिता ।।१५।।

श्लोकार्थ – यह बड़ा आश्चर्य है कि पृथ्वी पर हरि प्रकट हुए हैं, श्री भागवत विद्यमान है, विवरण भी सर्वथा विद्यमान है। श्री सुबोधिनीजी पृथ्वी उपर विद्यमान है। कहीं–कहीं सत्पुरुष (भगवदीय) विद्यमान है, और सर्व अर्थ को बताने वाले सभी ग्रंथ भी विद्यमान है। तब भी मनुष्य भक्ति मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिये यह जाना जाता है कि हरि ने अपनी कृपा ही कारण रूप रखी है।

व्याख्या – मेरे मन में बड़ा आश्चर्य होता है कि भूमि पर श्रीकृष्ण के मुखारविंद रूप श्री वल्लभाचार्यजी प्रकट हुए हैं,उनका कुल निष्कलंक भूमि पर विराजमान है और श्री भागवत भी विद्यमान है। श्री भागवत की टीका भी विराजमान है। तब भी जीव सर्वथा मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है। यह मेरे को बड़ा आश्चर्य है। श्री सुबोधिनीजी, निबंधादि ग्रंथ भूमि पर विराजमान है। कहीं–कहीं श्री सुबोधिनीजी एवं निबंधादि के वक्ता सत्पुरुष भी विराजित हैं और छोटे–बड़े श्री गुसांईजी, श्री महाप्रभुजी के ग्रंथ भी विद्यमान है। वे ग्रंथ कैसे हैं जो

सर्व पुष्टिमार्ग के भाव के ज्ञापक हैं। इन ग्रंथों द्वारा पुष्टिमार्गीय सारी रीति जानी जाती है। इस भांति सारी वस्तु विद्यमान है। उपर कहा वे सारे पदार्थ भूमि पर विराजमान हैं तब भी जीव यह पुष्टिमार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है। वह किसलिये नहीं होता है कि एक श्री हरि की कृपा ही कारण है। सारे पदार्थ हो पर श्री हरि की कृपा हो तभी जाना जाता है कि श्री हरि की कृपा बिना जीव भक्ति मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है। यह पुष्टिमार्ग तो केवल प्रमेय मार्ग है वह श्री हरि की कृपा प्रमेय बल बिना उसमें कैसे आ सकता है।

मूलं – मूर्च्छितेंद्रियवृत्तीनामुद्भवो नासुमंतरा ।
तथा कृपां बिना सर्वसाधनानां न चोद्भवः ।।१६।।

श्लोकार्थ – मूर्च्छित इन्द्रियों की वृत्ति है, उनकी उत्पत्ति प्राण बिना नहीं होती है। वैसे ही कृपा बिना सर्व साधन की उत्पत्ति नहीं होती है।

व्याख्या – श्री महाप्रभुजी की कृपा बिना कुछ सिद्ध नहीं होता है। सारी इन्द्रियां मूर्छित हो उनमें प्राण बिना कुछ कार्य नहीं होता है। जब प्राण आवे तब सारी इन्द्रियों में चैतन्यता आवे। अपने कार्य में तत्पर हो वैसे ही जहां तक श्रीकृष्ण की कृपा (प्राण स्थानीय) नहीं हैं वहां तक सारे साधन (इन्द्रिय स्थानीय) से कुछ नहीं हो। जब श्रीकृष्ण कृपा करे तब ही वह पुष्टिमार्ग में आकर सेवादि करे तब निश्चय ही भाव सिद्ध होता है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२५।।

बड़े शिक्षापत्र २६

अब २६वें शिक्षापत्र में जैसे माता बालक की रक्षा के लिये डाकिनी आदि ग्रह से डरती है वैसे भाव की रक्षा के लिये दुःसंग से डरना, जैसे व्यभिचारिणी स्त्री का परपुरुष के विषय में स्नेह है, उसको अपने संबंधी से गुप्त (छिपाकर) रखती है। वैसे भगवत्सेवा में प्रतिबंधक जो अपने संबंधी हो उनके आगे भाव गुप्त रखना। जैसे दूती के वचन और संग व्यभिचारिणी स्त्री प्रीति करती है वैसे भक्तों के वचन और संग भाव की वृद्धि करता है और

बड़े शिक्षापत्र २६

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री का चित्त सदा ही गृहादिक में उदासीन रहता है। वैसे ही चित्त को गृहादिक में उदासीन रखना। यह इसमें निरूपण है। उपर कहा है कि पुष्टिमार्गीय सारा पदार्थ प्रकट है परन्तु श्रीकृष्ण की कृपा बिना जीव प्रवृत्त नहीं होता है। वहां कोई कहे कि जो श्रीकृष्ण कृपा नहीं करेगे तब जीव क्या करे ? वहां कहते हैं।

मूलं – स्वकीयानामैहिकं यदथवा पारलौकिकम् ।
अकरोत् कुरुते कर्त्ताप्रभुरेव न संशयः ।।१।।

श्लोकार्थ – स्वकीय भक्तों के जो लौकिक अथवा पारलौकिक है वह प्रभु ने ही किया है। प्रभु ही करते हैं और प्रभु ही करेगे। इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण परम कृपालु हैं, अपने स्वकीय निजभक्तों का यह लोक और परलोक दोनों सिद्ध करते हैं। वे विषयादिक सिद्ध करते हैं, ऐसे मत जानना। इस लोक में स्त्री, पुत्र, धन आदि सब को दैवी बनाते हैं। जो भगवत्सेवादिक में विरोध नहीं करे इस भांति लौकिक सिद्ध करते हैं और अलौकिक में लीला का अनुभव स्वरूपानंद का दान यह सिद्ध करते हैं। त्रिविध नामावलि में श्री आचार्य जी महाप्रभु कहते हैं – **"भक्त सर्व दुःख निवारकायनमः"** भक्त के लौकिक अलौकिक सर्व दुःख दूर करके सर्वथा सर्वकार्य सिद्ध करते हैं, इसमें संशय नहीं है।

मूलं – तथापि कुरुते जीवः प्रयत्नं निजदोषतः ।
अज्ञानात् करुणावार्द्धिः क्षमते सादृशं स्वतः ।।२।।

श्लोकार्थ – तब भी जीव अपने दोष से अज्ञान का प्रयत्न करते हैं। ऐसे जीव को कृपा के समुद्र प्रभु स्वयं क्षमा करते हैं।

व्याख्या – इस भांति श्रीकृष्ण लौकिक अलौकिक सर्व कार्य सिद्ध करते हैं। तब भी जीव अपने मन में अनेक प्रकार के साधन करता है, जीव बुद्धि के अज्ञान से अनेक यत्न करता है ऐसे अज्ञानी जीवों पर श्रीकृष्ण कृपानिधि है वे उनके सारे अपराध अपनी ओर से क्षमा करते हैं। उसको अंतःकरण प्रबोध में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"सत्य संकल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति"** प्रभु सत्य संकल्प हैं इसलिये अन्यथा नहीं

करेगे। श्रीकृष्ण सत्यसंकल्प है। श्री आचार्यजी द्वारा अंगीकार किया है, वे दृढ़ हैं। जीव अज्ञान से भूलते हैं। परन्तु प्रभु कैसे भूलेंगे।

मूलं – अविरुद्धं प्रकुरुते विरुद्धं वारयत्यपि ।
दासेषु कृष्णो बालेषु पितेव कुरुते हितम् ।।३।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण अपने दासों में अविरुद्ध करते हैं और विरुद्ध का वारण करते हैं। जैसे बालक के उपर पिता हित करता है वैसे भक्तों के उपर श्रीकृष्ण हित करते हैं।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में अविरुद्ध भगवत्सेवादिक कराते हैं और अनेक साधन प्रयत्न जो पुष्टिमार्ग के विरुद्ध हैं उससे निवृत्त करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण श्री आचार्यजी की कानि से रक्षा करते हैं। जैसे पिता बालक का हित करता है। बालक अज्ञान से दोष करता है परन्तु पिता दोष का विचार नहीं कर हित ही करता है। उसको संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने इस प्रकार से कहा है – **"हरिरत्र न शक्नोति कर्त्तुं बाधां कुतोऽपरे अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्"** (इस भक्ति मार्ग में) हरि भगवान् बाधा करने में समर्थ नहीं है वहां ओर कहां से समर्थ हो और ऐसे नहीं हो तो माता बालक को स्तन्य पान कराकर के पोषण नहीं करती जैसे माता पुत्र को बारंबार अपने स्तन से पोषण करती है वैसे ही जो जीव श्री आचार्यजी द्वारा शरण आये हैं उनको प्रभु बाधा नहीं करते हैं। जिस प्रकार भक्ति बढ़े, दास का कल्याण हो, वही प्रभु करते हैं। ऐसे कृपालु हैं।

मूलं – न जानाति निजज्ञानात्तत्कृतिं स कृतघ्नतः ।
क्व दोषराशिर्जीवोऽयं क्व हरिर्गुणवारिधिः ।।४।।

श्लोकार्थ – जीव अपने अज्ञान से कृतघ्न है, इस कारण भगवान् की कृति को नहीं जानता है। क्योंकि जो दोष के समूह रूप यह जीव कहां ? और गुण के समुद्र हरि कहां ?

व्याख्या – इस भांति प्रभु करते हैं और जीव अपने अज्ञान से नहीं जानता है। वह जीव कृतघ्न हैं। उपकार को नहीं जानता है। ऐसे दोष का भरा जीव है और हरि (श्रीकृष्ण) गुण निधि है, जीव दोष निधि है।

मूलं – कथमन्योन्यसंबंधः स्यात्तमस्तेजसोरिव ।
तथापि दोषराशीनां दाहनेन निवेदनात् ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र २६

स्वाचार्यद्वारकात्तु स्याद्योग्यता हरियोजने ।
अतः स्वाचार्यचरणौ स्थाप्यौ हृदि निरंतरम् ।।६।।

श्लोकार्थ – (भगवान् गुण निधि है और जीव दोष निधि है उनको) अंधकार और तेज की तरह अन्योन्य (परस्पर) संबंध कैसे हो ? फिर भी अपने श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन हुआ है उससे दोष के समूह का दाह हुआ, उसके करने से हरि भगवान् के संबंध में योग्यता होती है। इसलिये श्री आचार्यजी के दोनों चरणारविंद हृदय में स्थापित करना।

व्याख्या – उपर कहा है ऐसे श्रीकृष्ण से जीव का संबंध कैसे हो, जैसे अंधकार का संबंध सूर्य से कैसे हो ? जहां तेज होता है वहां कैसे आ सकता है। वैसे ही यह जीव किस प्रकार श्रीकृष्ण से मिले वह कहते हैं कि जो और तो कोई उपाय नहीं है, जीव सर्व भगवान् में निवेदन करे तभी सर्वदोष दूर हो। चौरासी वैष्णव की वार्ता में प्रसिद्ध है कि श्री आचार्यजी को चिंता हुई तब श्रीकृष्ण ने यह आज्ञा की कि समर्पण कराओ। निवेदन से जीव के सारे दोष दूर होंगे, उससे जीव के दोष निवेदन से निश्चय दूर होते हैं। ऐसे दोष रूप जीव को जब अपने श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन हो तब सारे दोष का नाश हो, तब श्रीकृष्ण की सेवा में योग्य हो और कोई उपाय नहीं है। ऐसे श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल अपने हृदय में स्थापन करने योग्य है। पुष्टिमार्गीय वैष्णव का परम धर्म यही है। श्री आचार्यजी के चरण हृदय में अहर्निश धारण करे इसी से सर्वफल सिद्ध होगा।

मूलं – **यथा बालरक्षायै डाकिनीतो बिभेति हि ।**
माता तथैव भेत्तव्यं दुःसंगाद्भावरक्षकैः ।।७।।

श्लोकार्थ – माता जैसे बालक की रक्षा के लिये डाकिनी से डरती है। वैसे ही भाव की रक्षा करने वाले को दुःसंग से डरना चाहिये।

व्याख्या – जैसे बालक की रक्षा माता करती है, डाकिनी बालक को घात करती है। बालक की रक्षार्थ डाकिनी से माता भयभीत रहती है। इस कारण बालक को छिपाकर रखती है। वैसे ही पुष्टिमार्गीय भगवदीय दुःसंग रूप डाकिनी से डरे तथा अपने भगवद् भाव रूप बालक की रक्षार्थ डाकिनी रूप दुःसंग का त्याग करे इसलिये वैष्णवों को दुःसंग बहुत

ही बाधक है। उससे सर्वभाव चला जाता है। यह जानकर दुःसंग से अहर्निश डरता रहे तब भाव की वृद्धि होगी।

मूलं – समस्तेभ्यो निजस्नेहं गोपायति यथा (ऽ)सति ।
तथैव भगवद्भावगोपनं क्रियतां जनैः ।।८।।

श्लोकार्थ – जैसे असती (व्यभिचारिणी) स्त्री अपने जार पर स्नेह रखती है, उसको समस्त से छिपाती है और जैसे सती (पतिव्रता) स्त्री अपने पति पर स्नेह रखती है, उसको समस्त से छिपाती है, वैसे ही भगवदीयजन भगवद् भाव को छिपाते हैं।

व्याख्या – अपने हृदय में जो स्नेह (भगवद् भाव) है उसको सभी के आगे गुप्त रखना, किसी के सम्मुख कहना नहीं, जैसे सती (पतिव्रता) स्त्री हो वह अपने हृदय का अभिप्राय अपने पति के आगे कहती है और किसी के आगे सर्वथा नहीं कहती है। वैसे ही पुष्टिमार्गीय भगवद् भक्त अपना भाव सभी के आगे गुप्त रखे। इस भांति दास रहे तो इस काल में धर्म रहे, नहीं तो बाधक ही होता है।

मूलं – दूतिकालापसंसर्गे यथा वर्द्धयते रतिम् ।
स्वैरिणी भक्तसंसर्गे भाववृद्धिं तथा नयेत् ।।६।।

श्लोकार्थ – जैसे स्वैरिणी (व्यभिचारिणी) स्त्री दूतिका के संग बोलने में तथा इनका संसर्ग करने में प्रीति बढ़ाती है, वैसे ही भक्त के संसर्ग में भाव की वृद्धि करना चाहिए।

व्याख्या – जैसे दूति के आलाप अनेक वचन से व्यभिचारिणी स्त्री का काम बढ़े, दूति के संग से रति बढ़े, वैसे ही वैष्णव को भगवद्भक्त तादृशीय मिले तो भगवान् में भाव बढ़े, यह प्रसिद्ध ही भाव है। जो दूति अनेक प्रकार के विषय संबंधी मर्मवचन कहे उससे काम बढ़े, जार में प्रीति बढ़े, वैसे ही भगवदीय भगवान् की कथा ऐसी भावात्मक कहे जिससे हृदय में भगवद् भाव प्रकट हो जावे। पुष्टिमार्गीय भगवदीय हो उनका संग अवश्य करे।

मूलं – असत्या सर्वदा चित्तं गृह उच्चाटितं यथा ।
तथैव भवनादौ तु चेतः स्थाप्यं तदाश्रितैः ।।१०।।

श्लोकार्थ – जैसे असती (व्यभिचारिणी) स्त्री अपना चित्त सर्वदा गृह से दूर रखती है वैसे ही जो भगवदाश्रित हैं, उनका गृहादिक में से चित्त खींच कर प्रभु में स्थापित करना है।

व्याख्या – जैसे व्यभिचारिणी स्त्री (असती) का चित्त अपने गृह में सर्वथा नहीं लगे, सदा गृह में से मन उच्चाटित ही रहे, परपुरुष में ही लगा रहे। वैसे ही भगवदीय का चित्त श्री ठाकुरजी के स्वरूप में लगा रहे, एक श्रीकृष्ण के चरणारविंद में आश्रित भगवदीय अपना मन गृह देह संबंधी लौकिक वैदिक कार्य में नहीं लगावे, एक प्रभु की वार्त्ता और भगवत्सेवा में लगावे।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२६।।

बड़े शिक्षापत्र २७

अब २७वें शिक्षापत्र में श्री भगवान् का विस्मरण करे ऐसे दोष का निरूपण है। अब सभी की बुद्धि का नाश करने वाला काल आया है। साधन भी सिद्ध नहीं होते हैं। सेवा में जो तीन प्रतिबंध है वे सिद्ध हैं। तब भी श्री मदाचार्यजी के चरणारविंद के आश्रय से फल लाभ होगा, उससे फल में निराशता नहीं रखना इसका निरूपण है। उपर कहा है कि भक्त प्रभु के आश्रित हैं। उनका चित्त लौकिक में नहीं लगता है। वहां फल में अनेक बाधक हैं। उनका त्याग करे तब फल सिद्ध होता है। क्या बाधक है ? कैसे त्याग करे ? उसका आगे निरूपण करते हैं।

मूलं – निजाचार्यपदांभोजयुगलाश्रयणं सदा ।
विधेयं तेन निखिलं फलं भावि विना श्रमम् ।।१।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के दोनों चरणारविंद का आश्रय सदा करना, उसके करने से बिना श्रम सर्वफल होगा।

व्याख्या – वैष्णव अपने निजाचार्य के दोनों चरण का आश्रय सदा रखे, उस वैष्णव के निखिल बिना श्रम ही सिद्ध होता है। बिना साधन से ही श्रीप्रभु कृपा से सकल फल सिद्ध होता है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – धनं गृहं गृहासक्तिः प्रतिष्ठा लोकवेदयोः ।
कर्मादिनिष्ठा मनसः स्वर्गादिफलकांक्षणम् ।।२।।

श्लोकार्थ – धन, गृह, गृह में आसक्ति, लोक वेद में प्रतिष्ठा, कर्मादिक में मन की निष्ठा और स्वर्गादि फल की इच्छा यह सर्व हरि के विस्मारक हैं। ऐसे इस श्लोक का अन्वय है।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग के फल में चालीस दोष हैं। वे बाधक हैं और दोष तो अनेक हैं। परन्तु ये चालीस दोष मुख्य हैं, उनका त्याग करने पर फल सिद्धि हो सकती है। प्रथम धन है, वह महादोष है। धनमद से यह जीव अंधा हो जाता है। किसी को मानता नहीं है। धन को प्रभु में निवेदन कर भगवत्सेवा में लगावे, जिससे प्रभु अपना दास जाने। दूसरा गृह जो यह घर मैंने बनाया है मेरे पिता का है, यह ममता बाधक है। उसको छोड़े। तीसरा गृहासक्ति, अष्टप्रहर गृहादि कार्य में आसक्ति रहे, आज यह करना है, यह आसक्ति बाधक है। चौथा लोक वेद की प्रतिष्ठा, यदि मैं लौकिक में घटता काम करूंगा तो मेरी प्रतिष्ठा जायेगी। वह पांच लगायेगा तो मैं दस लगाऊंगा। जिससे मेरी बडाई होगी और वैदिक, श्राद्ध, ब्याह, यज्ञ हो म इत्यादि सबसे अधिक मैं करता हूं। यह प्रतिष्ठा बाधक है। कर्मादिक में निष्ठा, संध्या, तर्पण, व्रत, नियम इत्यादि में निष्ठा, मन में स्वर्गादि फल की आकांक्षा जो स्वर्गलोक में जाकर नाना प्रकार के भोग विलास करूंगा, यह बाधक है।

मूलं – लौकिके परमा प्रीतिर्विरुद्धविषयेषणा ।
अविरुद्धे तथासक्तिर्विषयैर्भोगभोजनम् ।।३।।

श्लोकार्थ – लौकिक में बहुत प्रीति (भक्ति से) विरुद्ध विषय की इच्छा (लौकिक से) अविरुद्ध में आसक्ति, विषय हेतु सुन्दर भोजन।

व्याख्या – लौकिक जो देह संबंधी स्त्री, पुत्रादिक में परम प्रीति जो भक्ति में बाधक है। लौकिक से अविरुद्ध विषय में आसक्ति वह भी बाधक है। विषय भोग के लिये अच्छा–अच्छा भोजन, भगवत्सेवार्थ वैष्णव महाप्रसाद लेते हैं, वह भाव नहीं, विषयार्थ अच्छा भोजन, घृतादिक का करना वह भी बाधक है।

बड़े शिक्षापत्र २७

मूलं – देहाभिमानः कुलजो विद्यादिविहितोऽपि च ।
भगवत्सेवनाऽभाव सहितं देहपोषणम् ।।४।।

श्लोकार्थ – देह का अभिमान, कुल का अभिमान, विद्यादिक से हुआ ऐसा अभिमान, भगवान् की सेवा के अभाव सहित देह का पोषण।

व्याख्या – देहाभिमान के मद से किसी को नहीं गिने, देह को संवारता रहे। चोटी नित्य संवारे, अपना देह देखकर मन में फूले यह बाधक है। कुल का मद, मैं बड़े कुल का हूं, सब मेरे से नीचे हैं। मेरे समान कोई नहीं, यह भक्ति में बाधक है। विद्यामद मैं बहुत पढ़ा हूं, मेरे को षट्शास्त्र का ज्ञान है और तो सब मूर्ख है, यह विद्यामद बाधक हैं। इस मद से दैन्य सिद्धि नहीं होती है। भगवत्सेवा नहीं करता है, लौकिक वैदिक अनेक कार्य में दिन बिताता है। भगवत्सेवा में मन नहीं है। यह भक्ति में बाधक है। जैसे ब्राह्मण गायत्री नहीं जपे तो ब्राह्मणत्व चला जाता है वैसे ही वैष्णव होकर भगवत्सेवा नहीं करे तो वैष्णवत्व चला जाता है। यह बाधक है। देह का पोषण करे, रंचक भी शीत उष्ण नहीं सहन कर सके, अनेक औषधि के खानपान से देह की रक्षा करे, देह की रक्षा तो भगवत्सेवार्थ करना वह तो भाव नहीं है। केवल लौकिकार्थ देह का पोषण करे, यह बाधक है।

मूलं – असत्संगैः सदा दुष्टः कृष्णानुच्छिष्ट भक्षणम् ।
निवेदनानुसंधानत्यागः शरणविस्मृतिः ।।५।।

श्लोकार्थ – असत्पुरुष का साथ करने से सदा दुष्ट रहता है। श्रीकृष्ण को भोग धरे बिना अन्न का भक्षण, निवेदन मंत्र के अनुसंधान का त्याग, शरण की विस्मृति।

व्याख्या – असत्संग महादुष्ट, बहिर्मुख का संग उनके साथ एक क्षण भी बैठे तो भगवद् भाव का नाश होता है। उनका संग सदा करे जिससे बहिर्मुखता (दुष्टता) नष्ट होती है, वह बहिर्मुखता बाधक है। श्रीकृष्ण का उच्छिष्ट महाप्रसाद छोड़कर असमर्पित खाय, यह महाबाधक है। इसके विषय में पद्मपुराण में कहा है – **"अनिवेद्यंतु यो भुंक्ते हरये परमात्मने । पतंति पितरतस्य नरके शाश्वती समाः ।। अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च अनर्पितं तथा विष्णौ श्वमांस सदृशं भवेत् ।।** (हरि परमात्मा को

अर्पण किये बिना जो खाता है उसके पितृ पिता महादिक बहुत वर्ष पर्यन्त नरक में गिरते हैं, अवैष्णवों का अन्न पतितों का तथा विष्णु निमित्त अर्पण नहीं किया ऐसा अन्न श्वान के मांस के समान होता है) कूर्म पुराण में कहा है – **"अनर्पयित्वा गोविंदे यो भुंक्ते धर्म वर्जितः । श्वविष्ठा सदृशं चान्नं नीरं तत्सुरया समम्।।"** (गोविंद निमित्त अर्पण किये बिना धर्म रहित जो खाता है वह अन्न श्वान के विष्ठा के समान है और जल मदिरा समान है) इस वाक्य से असमर्पित से बुद्धि भ्रष्ट होती है। इसलिये महाबाधक है। निवेदन किया है उसका अनुसंधान नहीं करना है, मैंने समर्पण किया है, पंचाक्षर का क्या अभिप्राय है। इस भांति निवेदन का अनुसंधान नहीं करता है, यह बाधक है। श्रीकृष्ण के शरण की विस्मृति जो अष्टाक्षर महामंत्र **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** यह है उसकी विस्मृति बाधक है।

मूलं – **देवांतराश्रयस्तेभ्यः प्रार्थनाऽपि फलार्थितः ।**
भगवच्चित्तरहिता व्यावृत्तिरपि लौकिकी ।।६।।

श्लोकार्थ – अन्य देवों का आश्रय, फल की इच्छा से इनके पास प्रार्थना करना, भगवान् में चित्त रहित (ऐसी) लौकिक व्यावृत्ति।

व्याख्या – अन्य देव का आश्रय महाबाधक है। साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का आश्रय छोड़कर अन्यदेव का आश्रय करे उसको इस पुष्टिमार्ग का फल नहीं मिलता है। हारितस्मृति में कहा है – **"नान्य देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत् । नान्यप्रसाद मद्याच्च नान्यदायतनं व्रजेत्"** (अन्य देव को नमस्कार नहीं करे, अन्य देव के दर्शन नहीं करे, अन्य देव का प्रसाद नहीं खाय और अन्य देव के मंदिर में नहीं जाय) इस भांति अनन्य रहे तो फल सिद्ध हो, श्रीगुसांईजी ने कहा है – **"भगवत्पदपद्मपरागजुषो नहि युक्तितरं मरणेऽपि तराम् । इतराश्रयणं गजराजधृतो नहि रासभ मय्युररी कुरुते ।। अन्य संबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते।"** (भगवान् के चरणारविंद के रज का सेवन करने वाले का मरण पर्यंत संकट आ जाय तब भी अन्य का आश्रय करना उचित नहीं है) जैसे हाथी की सवारी करने वाला रासभ (गर्दभ) को पसन्द नहीं करता है। अन्य संबंध का गंध भी कंधरा (ग्रीवा) को बाध करता है। इस भांति अन्य देवादिक का आश्रय बाधक है। अन्यदेव इंद्रादिक, शिवादिक, ब्रह्मादि, गणेश, सूर्य इन देवों से फल की इच्छा वह बाधक

है। श्रीकृष्ण सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, उनको छोड़कर अन्यदेव सदा पराधीन है। उनसे फलाकांक्षा यह पुष्टिमार्ग में बाधक है। भगवान् के चरणारविंद में वैराग्य, लौकिक, वैदिक कार्य मन में असंभावना, विपरीत भावना, मिथ्या ध्यान यह पुष्टिमार्ग के फल में बाधक है। अष्टप्रहर लौकिक व्यावृत्ति कर लौकिकावेश हो इसलिये अष्टप्रहर यह लौकिक कार्य में बाधक है।

मूलं – **गुरुद्रोहस्तदीयेभ्यः स्वस्याधिक्यविभावनम् ।**
अत्यंतदेहसामर्थ्यमिंद्रियाणां च पोषणम् ।।७।।

श्लोकार्थ – गुरु का द्रोह, पुष्टिमार्गीय भगवदियों से अपनी अधिकता की भावना, बहुत देह का सामर्थ्य, इन्द्रियों का पोषण।

व्याख्या – गुरु से द्रोह करे तो गुरु अप्रसन्न हो, वह बाधक है। प्रभु अप्रसन्न हो तो गुरु रक्षा करे परन्तु गुरु अप्रसन्न हो तो रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं है। पुष्टिमार्गीय भगवदीय को अपने से न्यून जाने तथा स्वयं को अधिक माने, वह बाधक है। देह में अधिक सामर्थ्य हो तो किसी को कुछ भी नहीं माने, अहंकार हो तथा बड़ा विषयी हो यह भी बाधक है। अपनी इन्द्रियों के पोषण में तत्पर रहे, उन इन्द्रियों को विषय भोग ही प्रिय है, इसलिये इन्द्रियों के पोषण से विषयावेश ही बढ़ता है।

मूलं – **गृहेष्वभिरतिर्भार्यापुत्रादिषु मनोगतिः ।**
कृष्णानुभावरहितदेशे सततसंस्थितिः ।।८।।

श्लोकार्थ – गृहादिक में प्रीति, स्त्री पुत्रादिकों में मन लगा रहे और श्रीकृष्ण की कथा सेवा की कीर्तनादि रहित देश में निरंतर स्थिति।

व्याख्या – गृहादिक लौकिक कार्य में अष्टप्रहर प्रीति, स्त्री पुत्र में मन से प्रीति, जो देह संबंधी स्त्री पुत्रादिक हैं, उनमें मन रहे इनके दुःख से दुःखी हो, इनके सुख से सुखी हो, यह पुष्टिमार्ग में बाधक है। श्रीकृष्ण के अनुभव बिना देश में रहना, श्री गोवर्धननाथजी तथा सातों स्वरूप के मंदिर तथा श्री वल्लभ कुल के मंदिर तथा पुष्टिमार्गीय तादृशीय के यहां राजसेवा तथा व्रज इतनी जगह वैष्णवों का अनुभव है। उत्सव भगवद् वार्ता बिना जीव को कुछ भी अनुभव नहीं होता है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – हर्षशोकौ लोकलाभतद्भावकृतौ तथा ।
स्वातंत्र्य भावनं स्वस्य जीवस्वाभाविको हठः ।।९।।

श्लोकार्थ – लोक में लाभ और हानि के कार्य में हर्ष शोक होता है तथा अपने में स्वतंत्रता की भावना और जीव का स्वाभाविक हठ।

व्याख्या – इस लौकिक में हर्ष शोक होता है। देह संबंधी, कुटुम्ब, द्रव्य, अनेक कार्य, अच्छा हो तो सुख होता है। बुरा हो तथा हानि हो, तो दुःख प्राप्त होता है। शोक हो। इस संसार रूपी वृक्ष में दो फल हैं, कभी सुख होता है तो कभी दुःख होता है। इन में मग्न रहता है। यह फल में बाधक है। द्रव्यादिक लाभ में लोभ होता है कि इतना द्रव्य प्राप्त हुआ और होगा तो अच्छा। कुटुम्ब बढ़े तो अच्छा, इत्यादिक लोभ पुष्टिमार्ग में बाधक है। अपने में स्वतंत्रता की भावना मन में रखे, दासपना भूल जाय यह बाधक है। जीव का स्वभाव दुष्ट है, इस कारण वह सब का बुरा ही चाहता है, यह बाधक है।

मूलं – अधिकारः पापरतिः पक्षपातो दुरात्मनाम् ।
हृदयक्रूरता दीनजनोपेक्षाऽक्षमा पुनः ।।१०।।

श्लोकार्थ – अधिकार, पाप में प्रीति, दुरात्मा (दुष्ट पुरुष) का पक्षपात् हृदय में क्रूरता, दीनजन की उपेक्षा, फिर अक्षमा।

व्याख्या – किसी का अधिकार ले तो अनेक जीव का भला बुरा करना पड़े वह बाधक है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्री सुबोधिनीजी और निबंध में कहा है कि नारायण ने ब्रह्मा से श्री भागवत में कहा है वह ब्रह्मा सृष्टि करने का अधिकारी है। इस कारण ब्रह्मा को अनुभव नहीं हुआ, फिर ब्रह्मा ने नारद जी से कहा नारदजी तुमको सब जगह फिरना है। एकाग्र मन नहीं है, इसलिये इनको भी अनुभव नहीं हुआ, फिर नारद ने वेदव्यास से कहा कि व्यासजी वेद पुराण के अधिकारी हैं, इससे इनको भी अनुभव नहीं हुआ, फिर व्यासजी ने श्री शुकदेव जी से कहा, वे शुकदेव जी किस बात के अधिकारी नहीं हैं, इससे अनुभव हुआ इस कारण अधिकार है, वह फल में बाधक है। जो जीव पाप में प्रीति वाला है, उसको इष्ट अनिष्ट की परीक्षा नहीं है, इसलिये फल में बाधक है। खोटे मनुष्य चौरादिक दुष्ट

क्रिया करने वाले इनका पक्षपात करते हैं। सच्चे को झूठा करे, झूठे को सच्चा करे वह फल में बाधक है। हृदय से क्रूर हो किसी का भला नहीं विचारे महाकपट छल रखे, वह बाधक है। दीनजन कोई हो आकर शरण हो उसकी उपेक्षा करे उसका त्याग करे, यह पुष्टिमार्ग में बाधक है और क्षमा नहीं हो बिना कारण क्रोध हो, भ्रकुटी चढ़ी रहे सहन नहीं हो, यह पुष्टिमार्ग में बाधक है।

मूलं – एते चान्ये च बोद्धव्या दोषा विस्मारका हरे ।
सावधानीभूय दासैः कृष्णस्य स्थेयमादरात् ।।११।।

श्लोकार्थ – उपर कहा है और इसके अलावा और दोष हैं, वे सब हरि का विस्मरण कराने वाले हैं। इसलिये श्रीकृष्ण के दासों को आदर से सावधान होकर रहना है।

व्याख्या – ये चालीस दोष कहे हैं और अनेक दोष हैं, उनमें ये चालीस मुख्य हैं। ये दोष हरि के विस्मारक हैं, ये दोष जिनमें हो उनसे हरि नहीं जाने जाते हैं। श्रीहरिरायजी कहते हैं कि उपर के समस्त दोषों से सारे वैष्णवों को सावधान रहना है। (इन दोषों से डरते रहना है) इन दोषों की निवृत्ति के लिये नवगुण कहते हैं – श्रीकृष्ण के चरणारविंद में अत्यन्त आदर रखना, इसको ही सर्वस्व जानना।

मूलं – भगवन्मार्गमात्रस्थैस्तन्मार्गफलकांक्षिभिः ।
विरक्तैरन्यतः कृष्णगुणासक्तांतरात्मभिः ।।१२।।
स्वाचार्यशरणं यातैस्तद्विश्वाससमन्वितैः ।
परित्यक्ताखिलैः स्थेयं सदा तद्दर्शनोत्सुकैः ।।१३।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्ग में रहने वाले, इस मार्ग के फल की इच्छा वाले, अन्य से विरक्त और श्रीकृष्ण के गुण में आसक्तियुक्त हैं मन जिनका ऐसे। अपने श्री आचार्यजी के शरण गये, इनमें विश्वास युक्त, समग्र त्याग करने वाले और सदा इनके दर्शन में उत्साह वाले (वैष्णवों के) ऐसा होकर रहना।

व्याख्या – भगवत्मार्ग (भगवान् ही अपने मुखारविंद रूप श्री आचार्यजी प्रकट हुए हैं, उन द्वारा प्रकट किया पुष्टिमार्ग वह भगवत्मार्ग) में स्थित होकर रहे। एतन्मार्गीय (इस पुष्टिमार्ग

के) फल की आकांक्षा हो मर्यादा मार्ग के फल की इच्छा नहीं हो, क्योंकि इस पुष्टिमार्ग का फल श्रीकृष्ण की सेवा, स्वरूपानंद का अनुभव, यह है और अन्य मार्ग में स्वर्गादिक ब्रह्मलोक, चतुर्विध मुक्ति यह फल है। वह पुष्टिमार्ग से विरुद्ध है इसलिये उस फल की चाहना नहीं करे, पुष्टिमार्ग के फल की चाहना करे इस लौकिक अन्य कार्य से विरक्त रहे श्रीकृष्ण की सेवा स्मरण बिना सर्व स्थान से मन विरक्त रखे। श्रीकृष्ण के गुण में आसक्त रहे, आत्मा मन से ध्यान करके श्रीकृष्ण की सेवा करे वाणी से गुणगान, श्रीकृष्ण ही का करे क्रिया से श्रीकृष्ण की ही सेवा करे इस भांति श्रीकृष्ण में ही सर्वात्म भाव रहे तथा ऐसे भगवदीय हों उनका संग करे अपने श्री आचार्यजी के चरण कमल के शरण रहे। मन में दृढ़ विश्वास रखे तथा यह जाने कि श्री आचार्यजी के चरणकमल की कृपा से सकल कार्य निश्चय सिद्ध होंगे। यह विश्वास रखे। लौकिक वैदिक (पुष्टिमार्ग के विरुद्ध हो) उसका त्याग करे श्री आचार्यजी के दर्शन में तथा श्रीकृष्ण के दर्शन में उत्साह रखे। इस दर्शन की क्षण क्षण में अपेक्षा रखे। नवभांति के गुण हृदय में हो तो सर्व रोग दूर होते हैं। ऐसे गुण सहित भगवदीय हो उनका ही संग करे तब समस्त दोष दूर हो, तब प्रभु कृपा करे।

मूलं – इदानीमागतः कालः सर्वबुद्धिविनाशकः ।
करे पतति दुःसंगो मीलिताक्षस्य चापि हि ।।१४।।

श्लोकार्थ – अब सभी की बुद्धि का विशेष नाश करने वाला काल आया है और नेत्र मूंद कर रहने वाले के भी दुःसंग हाथ में आ जाता है।

व्याख्या – उपर चालीस दोष कहे हैं, उनके दूरिकरणार्थ नव गुण कहे परन्तु यह काल सर्वबुद्धि का नाशक आया है। सत्प्राणी की भी बुद्धि का नाश हुआ है। अज्ञानी की बुद्धि का नाश हो इसमें क्या कहना ? एक तो काल बाधक है, दूसरा दुःसंग बिना चाहे स्वतः सिद्ध आकर मिलता है। मानो कर में धरा हुआ है। उससे धर्म का लेश है व भी चला जाता है। वहां भगवद् धर्म बढ़ने की क्या बात है ? दिन–दिन घटता जाता है। इसलिये कालदोष और दुःसंग बहुत बाधक है।

मूलं – किं कार्यं किमकार्यं वा यतः स्फुरति नैव हि ।
प्रभुणा स्वबलं तावदुपसंह्वतमेव हि ।।१५।।

श्लोकार्थ – क्या करना, अथवा क्या करने योग्य है, क्या नहीं है। यह स्फुरायमान नहीं होता है। क्योंकि जो प्रथम से प्रभु ने ही अपना बल समेटा है।

व्याख्या – यह काल दोष कुछ भी कार्य करो, वह भगवत्संबंधी हो उसमें विपरीत स्फुरणा होती है। एक क्षण में कुछ विचार करे तो दूसरे क्षण में कुछ अन्य विचारे, इस भांति भले कार्य में अनेक प्रतिबंध पड़ते हैं। केवल प्रभु के प्रताप बल मन में आता है जो श्रीकृष्ण सर्वोपरि है। सर्वकार्य सिद्धकर्त्ता हैं। इनका प्रताप दशों दिशा में प्रकट हैं। वेद, पुराण, श्रीभागवत्, गीता इत्यादिक सर्वशास्त्र में प्रसिद्ध है। ऐसे श्रीकृष्ण हमारे प्रसिद्ध पति हैं। हमको क्या डर है ? इस भांति प्रभु का प्रताप बल ह्रदय में आता है परन्तु प्रभु ने ऐसा अपना बल है उनका उपसंहार किया है। इससे विश्वास छूट जाता है तथा लौकिक सुख दुःख को पाता है।

मूलं – साधनानि न सिद्धयंति कालदोषाद्दुरात्मनः ।
प्रतिबंधश्च कालादिकृतः प्रत्यहमेधते ।।१६।।

श्लोकार्थ – काल दोष से दुष्ट है आत्मा जिनकी, ऐसे का साधन सिद्ध नहीं होता है और कालादिकृत प्रतिबंध प्रतिदिन बढ़ता है।

व्याख्या – जिस साधन से मन में दुर्वासना नहीं उठे भगवत्कार्य हो वह साधन करो, इस प्रकार कोई कहे वहां कहते हैं कि साधन सिद्ध नहीं होता है। तब फल तो महादुर्लभ है क्योंकि जो कालादि प्रतिबंध दिन–दिन प्रति बढ़ता जाता है।

मूलं – उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगश्चापि प्रजायते ।
प्रतिबंध सेवनं तैः प्रत्याशा का फलस्य हि ।।१७।।

श्लोकार्थ – उद्वेग अथवा प्रतिबंध और (शरीरादिकों का) भोग उत्पन्न होता है, यह तीन (सेवा में) प्रतिबंधक है उसके सेवन से कुत्सित फल की ही आशा है।

व्याख्या – श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सेवाफल में निरूपण किया है – **"उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः"** (उद्वेग, प्रतिबंध और भोग यह बाधक है) इस भांति कहे

बड़े शिक्षापत्र

उसमें प्रथम मन का उद्वेग हो, तब मन सेवा में नहीं लगे पीछे प्रतिबंध हो तो पीछे शरीरादिक के भोग का मन हो, भोग से विषयावेश हो जाय तब प्रभु अप्रसन्न हो, इस भांति प्रतिबंध से जब भगवत्सेवा नहीं हो, तब पुष्टिमार्गीय फल की आशा क्यों करे ? इस मार्ग में तो भगवत्सेवा ही फल है, वह नहीं हुई तो आगे क्या फल होगा ?

मूलं – तथापि श्रीमदाचार्यचरणा श्रयणान्मम ।
निवर्त्तते निराशं सन्न मनः फललब्धितः ।।१८।।

श्लोकार्थ – करालकलिकाल के कारण ऐसा होने पर भी मेरा मन पुष्टिमार्गीय फल प्राप्ति से निराश नहीं होता है। क्योंकि मुझे श्रीमदाचार्य चरणों का दृढ़ आश्रय है।

व्याख्या – इस मार्ग में सेवा ही फल है, वह महाकाल दोष है। इसलिये निश्चय में सेवा बिना फल में निराश हो तब भी एक भरोसा मेरे मन में है कि मैंने श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल का आश्रय अपने मन में किया है इसलिये (भगवत्सेवा से रहित हूं तब भी) श्री महाप्रभुजी चरण कमल के आश्रय से सर्वोपरि इस पुष्टिमार्गीय फल की निश्चय ही सिद्ध होगी, यह विश्वास है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२७।।

बड़े शिक्षापत्र २८

अब २८वें शिक्षापत्र में अपनी दीनता के आविर्भावपूर्वक श्री भगवान् की प्रार्थना के प्रकार का निरूपण करते हैं। उपर कहा है कि सर्व साधन रहित तथा सेवा रहित हो, तब भी श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरणाश्रय से फ़ल होगा। वह फल किस भांति होगा उसको आगे कहते हैं। आश्रय से दैन्य स्फुरित हो वह फल रूप है। दीनता का वर्णन आगे करते हैं।

मूलं – कदा नंदात्मजः स्वेषु कृपादृष्टिं करिष्यति ।
प्रतीक्षयैवास्मदादिमनः श्रांतं सहेंद्रियैः ।।१।।

बड़े शिक्षापत्र २८

श्लोकार्थ – श्री नंदरायजी के पुत्र अपने भक्तों के उपर कब कृपा दृष्टि करेगे? यह प्रतीक्षा (राह देखनी) करके ही अस्मदादिकों का मन इन्द्रिय सहित श्रांत (शिथिल) हो गया है।

व्याख्या – अब श्री हरिराय जी विज्ञप्ति करते हैं कि नंदात्मज श्रीकृष्ण हैं। यह कहकर श्री नंदरायजी का पुत्र कहा वसुदेव जी का नहीं कहा। इस पुष्टिमार्ग में नंद कुमार ही सेव्य है। श्री शुकदेवजी ने नंद महोत्सव के अध्याय में कहा है – **"नंदस्वात्मज उत्पन्ने जाता ह्लादोमहामनाः"** (श्री नंदरायजी की आत्मा से उत्पन्न ऐसे पुत्र हुए तब आनंद हुआ। जिनका बड़े मन वाले जातकर्म कराने लगे) इस वाक्य से नंदरायजी की आत्मा से प्रकट हुए ऐसे श्रीकृष्ण भावात्मक पुष्टि पुरुषोत्तम मेरे को अपना स्वकीय निजभक्त जान अपनी कृपादृष्टि कब करेगे? यह प्रतीक्षा करते करते अस्मदादिकों का मन इंद्रियों सहित शिथिल हो गया। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है **"यादृशी तादृशी नाथ! त्वत्पदाब्जैक किंकरी। त्वद्वकं कथमय्याशु कुरु दृग्गोचरं मम।।"** (हे नाथ! मैं जैसी हूं, वैसी एक आपके चरणारविंद की ही दासी हूं। इसलिये कैसे भी आपके मुखारविंद को शीघ्र मेरे दृष्टिगोचर करो)

मूलं – करुणावारिधिः स्वीयनिधिः सर्वाधिकः प्रभुः ।
उपेक्षते कुतः स्वीयानिति चिंतातुरं मनः ।।२।।

श्लोकार्थ – दया के समुद्र, अपने निधि रूप, सर्व से अधिक प्रभु अपने निज भक्तों की उपेक्षा क्यों करते हो? ऐसे चिंतातुर मन हैं।

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण! तुम कैसे हो, करुणा के निधि हो और सारे प्राणिमात्र के सर्व जगत के प्रभु हो, उसमें भी स्वीय जो तुम्हारे भक्त हैं, उनके तो सर्वस्व निधि हो। ऐसे प्रभु स्वीय अपने भक्तों की उपेक्षा क्यों करते हो? यह चिंता करके मन में आतुर हुआ हूं। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"हा नाथ! जीविताधीश! राजीवदल लोचन! यथोचितं विधेहीति प्रार्थनं तावकस्य मे।"** (हा नाथ! जीवित के अधीश! कमलदल लोचन! जैसे योग्य हो वैसे करो यह तुम्हारा जो हूं इनकी प्रार्थना है) हे नाथ कमल लोचन! मैं तुमसे क्या प्रार्थना करूं? तुम्हारी कृपा से जीवित हूं। यह विप्रयोग उचित है। इसलिये मैं क्या प्रार्थना करूं? तुम सर्वज्ञ हो सब जानते हो।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – निजानंदनिमग्नस्य भवेद्यद्यपि विस्मृतिः ।
भक्तार्थ मवतीर्णस्य कृपालो रुचिता न सा ।।३।।

श्लोकार्थ – अपने आनंद में मग्न ऐसे को यद्यपि विस्मृति हो, तथापि भक्त के अर्थ प्रकट हुए ऐसे दयालु को यह विस्मृत करना उचित नहीं है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण! तुम अपने आनंद में रात दिन मग्न रहते हो उससे यद्यपि संसारादिक भाव की विस्मृति है तब भी अपने भक्तों के अर्थ तुमने अवतार लिया है। इसलिये और तुम परम कृपालु हो इस कारण तुम्हारे भक्त जो संसार में है, उनकी विस्मृति नहीं करोगे। कृपा कर अंगीकार ही करोगे। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"त्वदंगीकृतयो जीवेष्वधिकारा यतः प्रभो! । अतस्ते न विचारार्हाः कृपां कुरु कृपा निधे!"** (जीवों में जिससे तुम्हारी अंगीकृति रूप अधिकार है उससे हे प्रभो! हे दयानिधि! यह जीव विचार करने योग्य नहीं है इसलिये कृपा करो) हे नाथ! तुम्हारा अंगीकृत जीव है तुम्हारे अधिकार योग्य है वह यहां लौकिक संबंध से तुमको भूल गये हैं। अधिकार योग्य नहीं है। तब भी तुम कृपा समुद्र हो इसलिये हम पर कृपा करो।

मूलं – कं प्रार्थयेयुस्ते दीना विहाय निजनायकम् ।
तदेकशरणा नित्यं विमुक्ताः सर्वसाधनैः ।।४।।

श्लोकार्थ – सर्वसाधन से रहित, नित्य ये ही एक शरण है जिनको ऐसे, दीनभक्त अपने पति को छोड़कर किसकी प्रार्थना करे?

व्याख्या – हे नाथ! हम तुमसे क्या प्रार्थना करे? हम दीन हैं तुमको हम अपने नायक (पति) जानते हैं तुम बिना और किसी को हम नहीं जानते हैं और हम सर्वसाधन से रहित हैं। इसलिये नित्य तुम्हारे शरण है। यह भरोसा है। साधन होता तो कुछ प्रार्थना नहीं करते। इस कारण तुम्हारा आश्रय कर तुम्हारे शरण हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में कहा है – **"अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः"** (अशक्य अथवा सुशक्य में सर्वथा हरि शरण हैं) इस वाक्य के विचार के अलावा हमको कुछ दिखाई नहीं पड़ता है। इसलिये तुम्हारे शरण हैं।

बड़े शिक्षापत्र २८

मूलं – **मन्नाथ! नाथये नूनं भवामि विरहाकुलः ।
दर्शनं स्पर्शनं वापि देहि वेणुस्वर श्रुतिम् ।।५।।**

श्लोकार्थ – हे मेरे नाथ! मैं आपके विरह में आकुल हुआ हूं। इस कारण निश्चय मैं प्रार्थना करता हूं। जो (सेवा में) दर्शन, स्पर्श और वेणु स्वर की श्रुति को देओ।

व्याख्या – हे श्रीकृष्ण! तुम मेरे नाथ हो और मैं महाविरह कर आकुल हुआ हूं। इस संसार के कार्य में तत्पर हूं, और तुम्हारी सेवा भगवद् धर्म रहित हूं, इस कारण संसाराग्नि से पीड़ित हूं। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"त्वद्दर्शनविहीनस्य त्वदीयस्य तु जीवितम्। व्यर्थमेव यथा नाथ! दुर्भगायानवं वयः"** (तुम्हारे दर्शन से रहित तुम्हारे भक्त जीवित हैं। हे नाथ! विधवा से नवीन अवस्था की तरह व्यर्थ है) तुम्हारे दर्शन बिना त्वदीय तुम्हारे भक्त जीते हैं। वह व्यर्थ है। जैसे दुर्भगा (खराब भाग्य वाली विधवा) का जीवन व्यर्थ है। इसलिये श्रीहरिरायजी कहते हैं कि हमको दर्शन देओ और श्रीअंग का स्पर्श कराओ। (अर्थात् सेवा कराओ उसमें दर्शन और चरण स्पर्श हो) और वेणुनाद कर वेणु द्वारा हमारे हृदय में सुधा धरो तब हमको सुख हो। विरहाग्नि से व्याकुल है। इसलिये केवल दर्शन ही से दुःख दूर नहीं होगा। दर्शन, स्पर्श, और वेणुनाद के सुर से हृदय में से दुःख दूर होगा। इसलिये इस भांति सुख देओ।

मूलं – **निजाचार्याश्रितानस्मान्यदि कृष्ण प्रहास्यसि ।
गमिष्यति हरे! नाथ! प्रतिज्ञैव तदा तव ।।६।।**

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के आश्रित ऐसे हमको हे श्रीकृष्ण! तुम त्याग करोगे तो हे नाथ! हे हरे! तुम्हारी ही प्रतिज्ञा जायेगी।

व्याख्या – अपने श्री वल्लभाचार्यजी के आश्रित पुष्टिमार्गीय तदीयों को हे नाथ! खोटे जान दोष देखकर छोड़ोगे तो तुम्हारी निश्चय प्रतिज्ञा भंग होगी। इसलिये कृपा करो, क्योंकि तुमने श्री आचार्यजी महाप्रभु ने प्रतिज्ञा की है कि जिनका ब्रह्म संबंध होगा उनके सकल दोष दूर होंगे। उनको मैं अंगीकार करता हुं। सिद्धान्त रहस्य में कहा है – **"ब्रह्मसंबंधकरणात् सर्वेषां देह जीवयोः । सर्वदोष निवृत्तिर्हि दोषा पंचविधास्मृताः।।"**

(ब्रह्म संबंध होने से सभी देह जीव के सर्वदोष की निश्चय निवृत्ति होती है। वे दोष पांच प्रकार के हैं) इत्यादि वचन से तुम हमारे दोष देखोगे तो तुम्हारी प्रतिज्ञा जायगी। इसलिये अपनी प्रतिज्ञा के लिये श्री आचार्यजी महाप्रभु के आश्रित जानकर हम पर कृपा करो।

मूलं – वयं तु सर्वथा दुष्टाः स्वधर्मविमुखा अपि ।
त्वमस्मदीयान् मा धर्मान् गृहाण गुण पूरितः ।।७।।

श्लोकार्थ – हम तो सर्वथा दुष्ट हैं और स्वधर्म से विमुख हैं, तुम गुण से पूरित हो। हमारे धर्म को मत ग्रहण करो।

व्याख्या – हम सर्वथा दुष्ट हैं, बचपन से ही दुष्ट आचरण किया है। अपने पुष्टिमार्ग से विमुख हैं, कभी पुष्टिमार्ग की रीति से भाव सहित सेवा नहीं की है। इसलिये अपने स्वधर्म से विमुख हैं और हे नाथ! तुम कैसे हो, सर्वगुण से पूर्ण हो। अस्मदीय (अपने दासजन) के धर्म की चाहना नहीं करोगे ? कृपा करो अवगुणी हमारे जैसे पर निश्चय ही प्रमेय बल से कृपा करोगे। विज्ञप्ति में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"बलिष्ठा अपि मद्दोषास्त्व त्कृपाग्रेऽति दुर्बलाः । तस्या ईश्वर धर्मत्वात् दोषाणां जीव धर्मतः।।"** (यद्यपि हमारे दोष बहुत बलिष्ठ हैं तब भी तुम्हारी कृपा के आगे दुर्बल हैं। क्योंकि तुम्हारी कृपा है वह ईश्वर धर्म है और दोष हैं वे जीव धर्म है) ईश्वर धर्म के आगे जीव धर्म तुच्छ है। इसलिये कृपा करो।

मूलं – कृपालो ! पालनीयानां गुण दोषविचारणा ।
न कार्या स्वीयशरणविहितं वरणं यदि ।।८।।

श्लोकार्थ – हे कृपा करने वाले नाथ! जब आपने अपने शरण ग्रहण से जीव का वरण कर लिया है, तब फिर वे आपके लिये पालन करने योग्य हैं। अब पालनीयों के दोषों और गुणों का विचार आपको नहीं करना चाहिए।

व्याख्या – हे नाथ ! तुम कृपालु हो, पालन करो, हमारे गुण दोषों का विचार तुम मत करो क्योंकि हम तुम्हारे हैं। श्री आचार्यजी द्वारा हमारा धर्म तुमसे हुआ है। इसलिये हमारा वरण हुआ है, वह अपने कार्य के लिये सेवा, टहल जो धर्म है वह कार्य मेरे से नहीं बन सकता

है और उल्टा अपराध अनेक दोष बने हैं। तुम मेरी ओर मत देखो, अपना वरण जान कृपा करो। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"त्वदंगीकृतयो जीवेष्वधिकारा यतः प्रभो । अतस्ते न विचारार्हाः कृपां कुरु कृपानिधे ।।"** (हे प्रभो ! जीव में तुम्हारी अंगीकृति रूप अधिकार है, इसलिये (वे योग्य हों अथवा दोष से अयोग्य हो तब भी) वे विचार करने योग्य नहीं है। इस कारण उनके दोष का विचार मत करो। आप कृपा के निधि हो, इसलिये कृपा करो।

मूलं – अश्रांतोऽपि हरे ! दोषगणनायां मम प्रभो ! ।
श्रममेष्यसि गोपीश ! ततो विस्मर सर्वथा ।।६।।

श्लोकार्थ – हे हरे ! आप श्रम रहित हो, तब भी प्रभो ! मेरे दोषों की गणना में श्रम पाओगे। इसलिये गोपीजनों के ईश ! सर्वथा उन दोषों को भूल जाओ।

व्याख्या – हे नाथ ! तुम किसी बात में हारते नहीं हो, तुमको कभी किसी कार्य में श्रम नहीं होता है। एक क्षण में चाहो वही करते हो। ऐसे सामर्थ्ययुक्त यद्यपि हो, तब भी मेरे दोष की गणना तुम करोगे तो तुमको श्रम ही होगा। मेरे अपार दोष हैं इसलिये हे गोपीश ! (यह संबोधन कहकर यह बताया कि तुम गोपी के ईश हो, बिना साधन गोपी पर कृपा की वैसे हमारे उपर कृपा करो) सर्वथा हमारे दोषों को बिसरा दो। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"अपराधेऽपि गणना नैव कार्या व्रजाधिप ! । सहजैश्वर्यभावेन स्वस्य क्षुद्रतया चनः ।।"** (हे व्रज के अधिप ! निःसाधन के फलात्मक ! हमारे अपराध की गणना करनी तुम्हें उचित नहीं हैं क्योंकि जो तुम्हारा सहजैश्वर्य है उसके आगे हमारे दोष क्षुद्र है) इसलिये कृपा करो।

मूलं – दीनेषु गुणलीनेषु (हीनेषु) तावकीनेषु मत्प्रभो ।
पराधीनेषु करुणा करणीयैव सर्वथा ।।१०।।

श्लोकार्थ – दीन, संसार के गुण में लीन, (अथवा गुण रहित) और पराधीन, ऐसे जो तुम्हारे भक्त हैं उनके उपर सर्वथा कृपा ही करना योग्य है।

व्याख्या – हे नाथ ! मैं अत्यन्त दीन हूं, दुःखी हूं, क्योंकि माया के गुण से संसारादिक में लीन हूं, और पराधीन हूं, ऐसे दोष से दीन हूं, तब भी तुम्हारा हूं, इसलिये मेरे उपर सर्वथा

ही करुणा कीजिये। विज्ञप्ति में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"कालकर्माधीनतां यत्करोषि मयिसुंदर!। तदप्यनुचित्तं यस्मात्त्वदीयोऽस्म्युररीकृतः"** ।। (हे सुंदर! मेरे पर काल कर्म के आधीनपना जो आप करते हो, वह योग्य नहीं है। क्योंकि जो आपका हूं, ऐसे अंगीकार किया है) हे सुन्दर श्रीकृष्ण! मैं कालकर्म के आधीन हूं, तब भी तुम्हारा हूं, इसलिये अपना जान कृपा करो।

मूलं – **निःसाधना गतधना मनोदीनाः सुदुःखिताः ।**
निजाचार्याश्रिताः शोकलोभमोहभयाकुलाः ।।११।।

भवन्ति ते कृपापात्रं महोदार! दयानिधे! ।
प्रयच्छ करुणां तेभ्यो दत्तं पात्रेऽक्षयंभवेत् ।।१२।।

श्लोकार्थ – निःसाधन, गया है धन जिनका ऐसे, उससे मन में दीन, अत्यन्त दुःखी, अपने श्री आचार्यजी के आश्रित, शोक, लोभ, मोह, भय से व्याकुल, ऐसे जो हैं वे आपकी कृपा के पात्र हैं। इसलिये हे बड़े उदार! दया के निधि रूप! इनको करुणा देओ क्योंकि जो पात्र में दिया है वह अक्षय होता है।

व्याख्या – मैं निःसाधन हूं, मेरे में कोई साधना नहीं है, भाव रूपी धन भी गया है, उस कारण अति दीन हूं, बहुत दुःखी हूं, और अपने श्री आचार्यजी के आश्रित हूं, शोक, लोभ, मोह, भय, इन माया के गुण से व्याकुल हूं। उपर कहा है कि ऐसा हो तब प्रभु का कृपा पात्र हो, इसलिये श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मैं जो हूं, ऐसा हूं, तुम्हारा कृपा पात्र हूं, तुम महोदार हो, दया के निधि हो, इसलिये दया करो, पात्र में दिया दान अक्षय होता है। मैं दया का पात्र हूं, इसलिये दया करो।

मूलं – **संसारदावदग्धानां जीमूतजलकांक्षिणाम् ।**
न नीलजलदानंतजलदानं विना सुखम् ।।१३।।

श्लोकार्थ – संसार रूपी दावानल से दग्ध ऐसे और मेघ के जल की इच्छा वाले को श्याम मेघ के अनंत जल के दान बिना सुख नहीं होता है।

व्याख्या – अब लौकिक दृष्टान्त कहते हैं, वन में दावानल से वन के सारे जीव आदि जलते हों उनको शीतल करने को एक मेघ जल वर्षा करे यही उपाय है और कोई उपाय

नहीं है। यद्यपि जल से समुद्र, नदी अनेक भरे हैं परन्तु वन में दावानल का मेघ जलदान करने से निवृत्त करे तब हो, वैसे ही यह माया संबंधी अहंता ममतारूप इस दावानल से जलता है। उनको नील मेघ रूप श्री गोवर्धननाथजी अपने आनंद रूप अनंत जल का दान करे (बड़ी कृपा करे) तब ही इस पुष्टिमार्गीय वैष्णव को सुख होता है और कोई उपाय नहीं है।

मूलं – ये मयांगीकृताः सर्वे त्वत्सेवायै गृहस्थिताः ।
त एव भावनाशाय भवंति करवै किमु ।।१४।।

श्लोकार्थ – आपकी सेवा के लिये गृह में रहे, ऐसे मैंने जो अंगीकृत किये हैं यह ही भाव का नाश करने को तत्पर होता है। अब मैं क्या करूं?

व्याख्या – जिनको हमने सेवक किये हैं, उनकी प्रार्थना प्रभु से अंगीकार कराये हैं। ऐसे अंगीकृत सेवक बहुत किये हैं क्योंकि मेरे से गृहस्थाश्रम में भली भांति सेवा नहीं बन सकती है। इसलिये अपने गृह में स्थित है, उन सबको सेवक कर सेवा रीति बताई है, वे मेरे सेवक तुम्हारी भली सेवा करेगे तो मेरे को सुख होगा। यह जान अपनी सहायता के लिये अपने गृह स्थित अंगीकृत किये हैं, वे गृहस्थ भगवान् की सेवा में भावनाश हो ऐसा उल्टा कृत्य करते है। इसलिये मैं क्या करूं?

मूलं – बहिर्मुखाः प्रकुर्वंति स्वसंबंधं बहिर्मुखम् ।
सहायताभ्रमादेव न हातुमहमुत्सहे ।।१५।।

श्लोकार्थ – बहिर्मुख है वे अपने संबंध से मेरे को बहिर्मुख करते हैं अथवा बहिर्मुख अपने संबंध से बहिर्मुख करते हैं। परन्तु ये सहायता करेगे ऐसे भ्रम से मैं उनको छोड़ने का उत्साह नहीं करता हूं।

व्याख्या – जो जीव स्वभाव से बर्हिमुख हैं वे अपने सम्बन्ध से सारे जीव को बहिर्मुख करते हैं। मैंने भ्रम से अपनी सहायता करेंगे ऐसे जाना, इस कारण अंगीकृत किये हैं। वे उलटे चलते हैं। भगवत् सेवा नहीं करते हैं। तब भी उनको छोड़ने का उत्साह नहीं करता हूँ।

मूलं – सहायभ्रम मुत्पाद्य वंचयंति यथा जनम् ।
मार्गस्थितं तथा नाथ! वंचितोऽहं गृहस्थितैः ।।१६।।

श्लोकार्थ – जैसे ठग पुरुष मार्ग में मनुष्य को सहायता का भ्रम उत्पन्न कर ठगते हैं। वैसे ही हे नाथ ! मैं गृहस्थित जनों से ठगा गया हूं।

व्याख्या – मैंने भ्रम से अपनी सहायता के अर्थ सेवक किये उसमें उल्टा ठगा गया हूं। हे नाथ ! मार्ग स्थित जनों को जैसे कोई ठगता है, वैसे गृहस्थ वैष्णव ने मेरे को ठगा है।

मूलं – यथांधकूपपतितं मंडुका दुःस्वरैर्जनम् ।
व्यथयंति तथा मह्यं दुर्वचोभिर्गृहस्थिताः ।।१७।।

श्लोकार्थ – जैसे अंधकूप में गिरे जन को मंडूक दुष्ट स्वर से व्यथित करते हैं, वैसे मेरे को गृहस्थित दुर्वचनों से व्यथित करते हैं।

व्याख्या – लौकिक दृष्टान्त कहते हैं – जैसे अंधकूप में पड़ा हो, उसको मेंढक दुष्ट स्वर से बोलकर भय उत्पन्न करते हैं। वैसे गृहस्थित अनेक लोक के दुर्वचन सुनकर मेरे को महाभय होता है। गृह में स्थित ऐसे मनुष्य के अनेक भांति के वचन सुनकर मेरे मन में व्यथा होती है।

मूलं – कियत्पर्यंतमेवं हि मदुमेक्षांकरिष्यसि ।
त्यक्तो वा दोषसाहित्याद्विमुखोऽहं दयालुना ।।१८।।

श्लोकार्थ – कितने दिनों तक ऐसे ही मेरी उपेक्षा करोगे ? किंवादोष सहित मैं हूं, इस कारण विमुख हूं, इसलिये दयालु ने त्याग किया ?

व्याख्या – इसलिये हे नाथ ! ऐसा दुःखी मैं हूं, मेरी उपेक्षा करोगे या मेरे को दोष सहित जानकर त्याग करोगे ? परन्तु मैं यह मन में जानता हूं कि तुम दयालु हो, इस कारण त्याग तो कभी नहीं करोगे। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"चित्तेन दुष्टो वचसापिदुष्टः कायेनदुष्टः क्रियया च दुष्टः। ज्ञानेन दुष्टोभजनेन दुष्टो ममापराधः कतिधा विचार्यः ।।"** (चित्त भी दुष्ट है तुम्हारे में मन नहीं लगता है, वाणी भी मिथ्या भाषण से दुष्ट है। काया तुम्हारी सेवा नहीं करती हैं इसलिये दुष्ट है। क्रिया भी लौकिक कार्य करती है) ज्ञान भी दुष्ट है। भजन भी निष्कपटता से नहीं होता है, इसलिये हे नाथ ! हमारे दोष (अपराध) कब तक विचारोगे ? तात कृपा करो।

बड़े शिक्षापत्र २८

मूलं – त्यक्तः कुत्र गमिष्यामि न मेऽस्ति शरणं क्वचित् ।
नावमारोप्य दीनं स्वं मध्येधारं न मज्जय ।।१६।।

श्लोकार्थ – आप त्याग करोगे तो मैं कहां जाऊंगा ? मेरे को किसी जगह शरण नहीं है। दीन अपने जन को नाव पर बैठाकर मध्य में मत डुबाओ।

व्याख्या – हे नाथ ! तुम ईश्वर हो, कर्तुं, अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्वसामर्थ्य युक्त हो, यह जानकर कि मेरे शरण योग्य नहीं है यह विचार करके कदाचित् त्याग करो तो हम कहां जायेंगे ? हमारे तुम्हारे बिना और कहीं ठिकाना नहीं है। तुम्हारी शरण बिना रंचक किसी को नहीं जानते हैं। इसलिये तुम त्याग करोगे, तब मेरी क्या दशा होगी ? जैसे नाव पर बिठाकर मध्य धारा के बीच में नाव छोड़ दे तो वह क्या करे ? वहां खेवट ही सहायक होता है वही पार लगा सकता है और कोई उपाय नहीं है। वैसे ही हम तुम्हारे पुष्टिमार्ग रूपी नाव में बैठे हैं अब तुम्हारे मन में आवे वही करो।

मूलं – निजाचार्यकुले जन्म किमर्थं विहितं मम ।
विहितं चेन्मयि सदा दोषपीने कृपां कुरु ।।२०।।

श्लोकार्थ – अपने आचार्य कुल में मेरा जन्म क्यों किया ? जब किया तब सदा दोष से पुष्ट जो ऐसा मैं उसके उपर कृपा करो।

व्याख्या – भले ही तुम मेरा त्याग करोगे, तब भी हमारी तुम्हारे आगे क्या चल सकती है ? परन्तु यह मैं कहता हूं जो निज (हमारे) श्री आचार्यजी श्री वल्लभाचार्यजी के कुल में हमारा जन्म क्यों दिया ? तुम प्रथम नहीं जानते थे ? अब छोड़ते हो। मैं तो सदा दोष से भरा हुआ हूं, इसलिये कृपा ही करो।

मूलं – असंगः सर्वथा द्वयेऽसत्संगसहितोऽप्यहम् ।
यथाऽरण्ये परित्यक्तः कादिशीको मृगादनैः ।।२१।।

श्लोकार्थ – मैं असत्पुरुषों के संग सहित हूं, इनसे सर्वथा असंग (संग दोष नहीं लगे वैसे दूर) रहता हूं, तब भी खेद पाता हूं, जैसे वन में परित्यक्त और दिङ्मूढ (शिर फिर गया इस कारण दिशा भूल गया) जैसे एकाकी मनुष्य वन में भूल जाने पर बावरा सा हो जाता है। सिंहादिक से भय पाता है वैसे मैं असत्संग से भय पाता हूं।

व्याख्या – हे नाथ ! असत्संग ने मेरे को दशो दिशा से घेरा है, यह मेरे को बड़ा दुःख है। रंचक कुसंग से बुद्धि बिगड़ने से सभी ओर से मैं दुःसंग से वेष्टित हूं। इसलिये सुन्दर बुद्धि का नाश हुआ है और सत्संग से सर्वधर्म का तोष होता है। सत्संग मेरे से बहुत दूर है। इसलिये मैं अकेला हूं, दुःसंग के मध्य घिरा हूं, उनसे डरता हूं, मेरी क्या दशा है। जैसे अरण्य वन में अकेला छोड़ दे वहां सिंह की गर्जना दशों दिशा सुनकर कौनसी दिशा को जाय, वैसे ही मेरी दशा हुई है। किस दिशा को जाऊं, वह उपाय दिखता नहीं है।

मूलं – **जातपक्षाः खगाः स्वीयजननीं च त्यजंति हि ।**
यथा तथा करालेऽस्मिन् कालेऽहं भगवज्जनैः ।।२२।।

श्लोकार्थ – जैसे पंख उत्पन्न होने पर पक्षी अपने माता को छोड़ देते हैं। (फिर माता रहित होते हैं) वैसे मैं भगवान् के जन जो भक्त हैं, उनसे रहित हो गया हूं।

व्याख्या – मेरी क्या अवस्था है जैसे खग जो पक्षी है उसके बच्चों के जब पंख आ जाते हैं। तब वह बच्चा अपनी जननी जो माता है उसको छोड़कर अनेक वन उड़ जाता है, वैसे ही हमारे पास भगवदीय कथा वार्त्ता करते किंतु इस कराल काल में मेरे को छोड़ गये। अब मैं क्या करूं ?

मूलं – **चिंतापारावारे पतितस्यात्रैव मग्नस्य ।**
एतज्जलवडवाग्निः शरणं श्रीवल्लभाचार्याः ।।२३।।

श्लोकार्थ – चिंता रूपी समुद्र में गिरा और इसमें ही डूबा ऐसा जो मैं उसके जल के शोषण में वडवानल रूप श्री वल्लभाचार्यजी की शरण हूं।

व्याख्या – भगवदीय के संग बिना मेरे हृदय में ऐसी चिंता है, जिसका पार नहीं है। चिंता रूप समुद्र में डूबा हूं, वहां दृष्टान्त कहते हैं – जैसे कोई महागंभीर पानी के समुद्र में डूबा हो और उसके एक बड़वाग्नि ही सहायक है। एक क्षण में सारे पानी को सोख लेती हैं और कोई नहीं, वैसे ही मैं इस संसार रूपी भवसागर के चिंतारूपी जल में मग्न पड़ा हूं, उसमें एक श्री वल्लभाचार्यजी शरण है। यह उपाय है। श्री महाप्रभुजी अलौकिक अग्नि रूप है।

वे एक क्षण में सारी चिंता संसार दुःख सब सोख लेंगे, यह उपाय है।

मूलं – **हा कृष्ण ! हा नंदसूनो ! हा यशोदाप्रियार्भक ! ।**
हा गोपिकाहृदाधार ! धारयस्वकरेण माम् ।।२४।।

श्लोकार्थ – हा श्रीकृष्ण ! हा नंदरायजी के पुत्र ! हा श्री यशोदाजी के प्रिय पुत्र ! हा गोपीजन के हृदय के आधार ! श्री हस्तकर (उपर श्लोक में कहे ऐसे समुद्र में मग्न हूं) मेरा कर पकड़ लेओ।

व्याख्या – उपर कहा उस प्रकार श्रीहरिरायजी दीनता करते है वह दीनता करते करते विप्रयोगात्मक अग्नि हृदय में प्रकट हुई, वह अत्यन्त विरह से देहानुसंधान भूलकर बोले, हा कृष्ण ! यह फलात्मक नाम श्रुतिरूप के भाव से है। (१) नंदसुनु ! श्री नंदरायजी के पुत्र जैसे श्री नंदरायजी ने पालन किया, वैसे तुम भी पालो, यह दूसरा नाम कुमारिका के भाव से है। (२) हा श्री यशोदाजी के प्राणप्रिय पुत्र ! यह श्री यमुनाजी के भाव से है। (३) पीछे कहा हा गोपीजन के प्राण आधार ! यह मुख्य श्री स्वामिनीजी के भाव से है। (४) यह चारों नाम लेकर कहे कि ऐसे प्रभु विप्रयोग समुद्र में हम पड़े हैं, उनको अपने कर से उद्धार करो।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२८।।

बड़े शिक्षापत्र २९

अब २९वें शिक्षापत्र में बुद्धि का नाश करने वाला यह काल आया है, इसलिये सत्संग, श्रीकृष्ण का स्मरण और शरणागति रूप साधन कर बुद्धि स्थिर रखनी, ऐसा नहीं करे तो सर्वकृति व्यर्थ है। इसलिये ही श्री आचार्यजी ने (बुद्धि प्रेरक श्रीकृष्ण के चरण कमल प्रसन्न हो) ऐसे प्रार्थना कर गायत्री का अर्थ बताया है। श्रीकृष्ण स्मरण और शरणागति से ही प्रभु बुद्धि स्थिर रखेंगे, यह निरूपण है। उपर कहा उस प्रकार दैन्य से विप्रयोग प्रकट हो तब भगवद् धर्म सिद्ध हो। वह बुद्धि किस प्रकार स्थिर रहे वह आगे कहते हैं।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – **बुद्धिनाशककालोऽयं सर्वेषां समुपागतः ।**
अतो हि सर्वथा गोप्यं बुद्धिरत्नं सुबुद्धिभिः ।।१।।

श्लोकार्थ – सभी की बुद्धि का नाश करने वाला यह काल आया है। उससे बुद्धि वालों को अपने बुद्धि रत्न को सर्वथा छिपाकर रखना चाहिए।

व्याख्या – इस वर्तमान कलिकाल में सबकी बुद्धि की स्थिरता का नाश हो गया है। क्योंकि इस कलियुग में बुद्धि भ्रमित हो गई है। सद् धर्म पर स्थिर नहीं रहती है। इस कारण सत्य फलकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः बुद्धिमान् वैष्णवों को सावधान रहकर अपने बुद्धि रूप रत्न को बंटे में धरकर यत्न से रखना चाहिए। क्योंकि रत्न बिना यत्न के रहे तो चोर ले जाने हैं। वैसे ही बुद्धिरूप रत्न यत्न कर रखेंगे उन्हीं का रहेगा।

मूलं – **सत्संगकृष्णस्मरणशरणागतिसाधनैः ।**
तदभावे कृतिः सर्वा यतो वैयर्थ्यमेति हि ।।२।।

श्लोकार्थ – सत्संग, श्रीकृष्ण का स्मरण और शरणागति रूप, साधन से बुद्धि की रक्षा करना, जो ऐसे रक्षा नहीं करे तो सर्वकृति व्यर्थ हो जाएगी।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी बुद्धिरक्षण का उपाय कहते हैं। सदा पुष्टिमार्गीय वैष्णव के सत्संग में रहे और अपने मन में ध्यान कर श्रीकृष्ण के स्वरूप का स्मरण करे और श्रीकृष्ण के शरण की भावना सदा मन में रखे। श्रीकृष्णाश्रय में अष्टाक्षर कहा है उस शरण की भावना करे, क्योंकि जो भाव बिना क्रिया करे वह सब व्यर्थ है। जैसे राख में होम करे उसका क्या फल है ? वैसे ही भाव बिना जो करे वह सब व्यर्थ है।

मूलं – **अत एवोक्तमाचार्यैः स्वकीयकरुणात्मभिः ।**
बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु ।।३।।

श्लोकार्थ – इस कारण स्वकीय जन के उपर दयालु श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है कि – बुद्धि के प्रेरक श्रीकृष्ण के चरण कमल प्रसन्न हो।

व्याख्या – वहां कोई कहे कि यह बुद्धि रत्न के जतन का प्रकार तुम ही कहते हो, या कहीं सुना है ? वहां कहते हैं कि श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्रीमुख से कहा है कि – **"बुद्धि प्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु"** (बुद्धि के प्रेरक श्रीकृष्ण के चरणारविंद की प्रसन्नता

से सुंदर बुद्धि होती है। इसलिये मन, वचन, कर्म से श्रीकृष्ण के शरण जो कोई रहेगा उनकी सुन्दर बुद्धि होगी और की नहीं)

मूलं – उपकारोऽपि गायत्र्या ध्यानहेतुरयंमतः ।
गीतायां हरिणाऽप्युक्तमर्जुनं प्रति मोदतः ।।४।।
'ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयांति ते' ।
बुद्धिस्थैर्यं हृदिस्थैर्यं हरेरिति न संशयः ।।५।।

श्लोकार्थ – बुद्धि प्रेरक श्रीकृष्ण के पाद पद्म की प्रसन्नता की प्रार्थना रूप यह उपकार भी गायत्री के ध्यान का कारण रूप है। गीताजी में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति आनंद से कहा है कि यह बुद्धि योग मैं देता हूं, उसके करने से वह मेरे को प्राप्त होता है। बुद्धि की स्थिरता होती है तब हृदय में हरि की स्थिरता होती है इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या – गायत्री ब्राह्मण के बालक को देते हैं। उसके तृतीय पाद में बुद्धि के प्रेरणा रूप अर्थ है कि भगवान् सुन्दर बुद्धि करे यह इनका उपकार है। क्योंकि गायत्री के उपदेश से वेद के कर्म की योग्यता होती है। वैसे ही बुद्धि के प्रेरक श्रीकृष्ण की कृपा से वैष्णव की बुद्धि निर्मल होती है। वह भी प्रभु का उपकार है क्योंकि जो बुद्धि निर्मल हो तो श्री ठाकुरजी का ध्यान हो। गीताजी में श्री भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है। दूसरे अध्याय में बुद्धि स्थिर का प्रकार कहा है उस तरह बुद्धि स्थिर होती है। तब भगवान् हृदय में स्थिर होते हैं और बुद्धि की स्थिरता जावे तो हरि हृदय से जाते रहते हैं। यह निश्चय है इसमें संशय नहीं है। इस कारण गीताजी में एक सारा अध्याय बुद्धियोग का भगवान् ने कहा है। क्योंकि जो सुन्दर बुद्धि हो तब ही सारे धर्म, जप, तप, दान, व्रत, मर्यादा के साधन, कर्ममार्ग के साधन, ज्ञानमार्ग के साधन, पुष्टिमार्ग के साधन सब बन सकते हैं किन्तु सुन्दर बुद्धि बिना कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता है।

मूलं – तन्नाश एव गीतायां सर्वनाशो निरुपितः ।
अतोबुद्धिः सुसंरक्ष्या भावभावनकारणम् ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – बुद्धि का नाश हो तो सभी का नाश गीताजी में निरूपण किया है। इसलिये सर्वभाव की उत्पत्ति के कारण रूप बुद्धि की अच्छी रीति से रक्षा करनी चाहिए।

व्याख्या – बुद्धि का जिस भांति नाश होता है और बुद्धि नाश से आत्मा का नाश होता है। उसको भगवान् ने गीताजी के द्वितीय अध्याय में कहा है – **"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूप जायते । संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः ।। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।** इस वचन से भगवान् कहते हैं – हे अर्जुन ! जीव विषय में प्रवृत्त होता है वह विषय के ध्यान से दुःसंग (संसारी का संग) होता है। तब अनेक भांति के विषय की कामना प्रकट होती है, उसमें कुछ बिगड़े अथवा विघ्न आवे तब क्रोध होता है। क्रोध से मोह और मोह से स्मृति विभ्रम होता है। जब अज्ञान होता है। अज्ञान से लौकिक संसारिक को अपने जान उनके पालनार्थ खोटी क्रिया करता है इस भांति स्मृति के भ्रम से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि के नाश से आत्मा का नाश होता है। बुद्धि है वह भगवद् भाव के प्राप्ति का कारण है। इसलिये बुद्धि की रक्षा करे, उसका प्रकार आगे के श्लोक में कहते हैं –

मूलं – प्रसादभक्षणैर्नित्यं सेवनाकरणैरपि ।
सत्संगेन सदा कृष्णकथाश्रवणकीर्त्तनैः ।।७।।

श्लोकार्थ – महाप्रसाद का भक्षण कर, नित्य भगवत्सेवा कर, सत्संग और सदा श्रीकृष्ण की कथा के श्रवण, कीर्त्तन से बुद्धि की रक्षा करनी चाहिए।

व्याख्या – उपर कहा है कि बुद्धि की रक्षा करे जिससे सर्वकार्य सिद्ध होता है। बुद्धि की रक्षा किस भांति करना, वह कहते हैं – असमर्पित वस्तु में अपना मन चलायमान नहीं करे सदा महाप्रसाद का भक्षण करे और श्रीकृष्ण की सेवा नित्य करे और भगवदीय से सत्संग करे दुःसंग का त्याग करे और श्रीकृष्ण की कथा का श्रवण करे श्रीकृष्ण लीला तथा नाम का कीर्त्तन करे तब बुद्धि निर्मल रहे। तब प्रभु हृदय में पधारते हैं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।२६।।

बड़े शिक्षापत्र ३०

अब ३०वें शिक्षापत्र में जैसे कर्म फल सिद्धि में देशादि षट्साधन है, वैसे पुष्टिमार्गीय फल सिद्धि में भी देशादि षट् साधन है और उनका साधन सत्संग है, इसका निरूपण है। उपर बुद्धि की रक्षा का प्रकार कहा है परन्तु काल दोष बड़ा है, वह नहीं लगे तब बुद्धि सुन्दर रहे, वह कहते हैं।

मूलं – **स्मर्त्तव्यः सर्वदा कृष्णो विस्मर्त्तव्यं जगत् पुनः ।**
प्रपंचस्मरणे कृष्णस्मृतिर्नैव भवेदिति ।।१।।

प्रयतेत ततो जीवस्तदभावाय सर्वथा ।
कृष्णार्थताभावनेन गृहादेर्विस्मृतिर्भवेत् ।।२।।

श्लोकार्थ – सर्वदा श्रीकृष्ण स्मरण करने योग्य है और जगत् विस्मरण करने योग्य है। प्रपंच का स्मरण होता है, वहां तक श्रीकृष्ण की स्मृति नहीं होती है। इसलिये प्रपंच की विस्मृति के अर्थजीव सर्वथा यत्न करे उससे श्रीकृष्ण के अर्थ सर्वक्रिया की भावना कर गृहादिक की विस्मृति करे।

व्याख्या – सदासर्वदा श्रीकृष्ण ही का स्मरण कर्त्तव्य है। अष्टमस्कंध में शुकदेव जी कहते हैं – **"ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्थ नृप निश्चितम् । स्मरंति स्मारयंति ये हरेर्नाम कलौयुगे ।।"** (जो कलियुग में हरि का नाम स्मरण करते हैं और स्मरण कराते हैं वे हे राजन्! उनका मनुष्यों में भाग्य सहित और कृतार्थ निश्चिय है) इस वचन से इस काल में श्रीकृष्ण का स्मरण करे वह बड़भागी हैं और इस जगत में संसार की विस्मृति कर्त्तव्य है। क्योंकि जहां तक जगत में देह संबंधी अनेक पदार्थ कुटुम्ब, घर, इत्यादिको में मन लगा रहे वहां तक श्रीकृष्ण के चरण में मन नहीं लगे, इसलिये जगत की विस्मृति रखे और प्रपंच को यह जाने कि सर्वके श्रीकृष्ण ही कारण है। इसलिये प्रपंच देख श्रीकृष्ण का माहात्म्य का विचार करे प्रपंच के कर्त्ता और संहारकर्त्ता प्रभु ही हैं। इस भांति प्रपंच के कारण श्रीकृष्ण ही का स्मरण कर्त्तव्य है। श्रीकृष्ण में भाव हो यह प्रयत्न सर्वथा करे और श्रीकृष्ण के चरणारविंद में भावना के अर्थ गृहादिक की अहंता ममता की विस्मृति करे ऐसा यत्न करे

बड़े शिक्षापत्र

श्रीकृष्ण में भाव वृद्धि करे उसका ग्रहण करे और भाव में बाधक हो उसका त्याग करे सारी क्रिया श्रीकृष्ण के अर्थ ही करे ऐसा करने पर गृहादिक की विस्मृति होगी।

मूलं – अथवाबाधकत्वेन त्यागभावनया पुनः ।
अखण्डाद्वैतभावेन कामाद्यावेशतो हरौ ।।३।।
प्रापंचिकपदार्थेषु लीलासृष्टित्वभावनात् ।।

श्लोकार्थ – ये गृह आदि सांसारिक पदार्थ भगवद् स्मरण में बाधक हैं इस दृढ़ निश्चय से संसार के त्याग की भावना सदैव करता है और सदा अखण्ड अद्वैत (शुद्ध अद्वैत) है ऐसी भावना कर अपनी कामादि सकल इच्छा प्रभु में ही करे तब प्रपंच संसार विस्मृति होकर मन आदि श्रीकृष्ण में आसक्त होता है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण की सेवा में स्त्री पुत्रादिक तथा देश बाधक हो तो उसका त्याग करने की मन में भावना करे और श्रीकृष्ण का अखण्ड अद्वैत (सभी जगह सर्वोपर श्रीकृष्ण विराजते हैं इस भांति) जान सब ठोर श्रीकृष्ण ही की भावना करे और कामादिक का आवेश प्रभु में करे जैसे लौकिक संसारी कामादिक का आवेश गृह कुटुंबादिकों में कर उसमें अष्ट प्रहर लगा रहे, वैसे ही वैष्णव श्री ठाकुरजी की सेवा में लगा रहे। अब यह बागा चाहिए, यह सामग्री यह उत्सव आता है इस में यह चाहिए। इस भांति मन श्रीकृष्ण ही में लगावे। इस प्रपंच के पदार्थ में लीला सृष्टि की भावना करे उसमें मुख्य विचार यह है कि श्रीकृष्ण की सेवा में जो पदार्थ का विनियोग हो उसको स्वरूपात्मक जाने। श्रीकृष्ण ही लीला संबंधी है और जो पदार्थ सेवा में उपयुक्त नहीं हो वह माया संबंधी आसुरी है। इस भांति मन में विचार रखे।

मूलं – कृष्णसन्निहितो देशः कालः सत्संगहेतुकः ।।४।।
द्रव्यं सर्वस्वमेवात्र कर्त्ताऽभिमतिवर्ज्जितः ।
मंत्राः श्रीकृष्णनामानि गुणलीलासमन्विताः ।।५।।
कर्माणि कृष्णसेवैव सर्वसाधनसंग्रहः ।
एतच्छट्कस्य भक्तौ हि सत्संगः साधनं मतम् ।।६।।

श्लोकार्थ – जहां श्रीकृष्ण विराजते हो, वह देश सत्संग का कारण रूप वह काल, अपना सर्वस्व वही द्रव्य, जहां कर्ता अभिमान रहित, श्रीकृष्ण के नाम व गुणलीलायुक्त मंत्र,

बड़े शिक्षापत्र ३०

सर्वसाधन के संग्रह रूप, श्रीकृष्ण की सेवा वही कर्म, भक्तिमार्ग में (देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मंत्र और कर्म) ये षट् पदार्थ के साधन रूप सत्संग हैं।

व्याख्या – जहां श्रीकृष्ण विराजते हैं, वह उत्तम से उत्तम देश जानना, और भगवदीय का संग हो वही काल परम उत्तम जानना। प्रथम स्कंध में शौनक ने कहा है – **"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"** (भगवान् के संगी भक्त के संग में एकलव बराबर नहीं स्वर्ग की नहीं मोक्ष की तुलना करते हैं। जहां मनुष्य की आशीष जो राज्यादिक क्या है, बराबरी हो ?) इस वाक्य से स्वर्ग तथा मोक्ष पर्यन्त सुख भी सत्संग के समान नहीं है। इसलिये सत्संग हो वह काल उत्तम जानना और द्रव्यादिक में सारा पदार्थ घर आदि सब आ गया वह सर्वस्व जानना और मैं ही सर्ववस्तु का कर्त्ता हूं, इस अभिमान से रहित होकर द्रव्य में ममत्व और सब कार्य में अपने को कर्त्ता जाने। यह दोनों बाधक है इसलिये ममत्व अहंकार छोड़े और सारे मंत्र में श्रीकृष्ण का नाम है, वही सर्वोपरि महामंत्र जाने। (जैसे "श्रीकृष्णः शरणं मम") और प्रभु के अनेक गुण हैं, अनेक लीला हैं, ओरों के गुणगान से श्रीकृष्ण का ही गुणगान मुख्य है। उनकी भावना करे वह महामंत्र है। अष्टम स्कंध में शुक्राचार्य ने कहा है, **"मंत्रतस्तंत्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्त्तनं तव ।।"** (मंत्र से, तंत्र से, देश, काल, और द्रव्य से जो अपूर्ण रहा हो वह सर्व तुम्हारे नाम का संकीर्त्तन पूर्ण करता है) इस भांति श्रीकृष्ण का नाम लिया वह सब मंत्र कर चुका उस विषय में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"हरे त्वन्नामनिर्व्यक्तिं याह श्रुतिरहं सदा । गृणाभि यद्यदा नाथ ! तत्तथैवास्तुनान्यथा"** (हे हरे ! आपके नाम का अर्थ जो वेद कहते हैं इनको ही मैं सदा उच्चारण करता हूं, इसलिये हे नाथ ! वह वैसे ही हो, अन्यथा नहीं हो) श्रीकृष्ण का नाम सर्ववेद श्रुति का सार है उन श्रीकृष्ण की कृपा ही से लिया जाता है अन्यथा नहीं। इसलिये मंत्र ही श्रीकृष्ण का नाम है। श्रीकृष्ण की सेवा है वही उत्तमोत्तम कर्म है। जहां श्रीकृष्ण की सेवा हुई वहां सर्वसाधन कर चुका। अष्टम स्कंध में ब्रह्मा ने कहा है – **"यथाहि स्कंध शाखानां तरोर्मूलावसेचनम् । एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ।।"** (जैसे वृक्ष की जड़ में जल सींचे तो सब डाल पात हरे होते हैं। वैसे ही श्रीकृष्ण की सेवा से

सर्वलोक संतुष्ट होते हैं) इसलिये सारे कर्म में मुख्य सर्वसाधन के संग्रह रूप श्रीकृष्ण की सेवा ही है। ये षट् पदार्थ हृदय में रखे तो सप्तमधर्मी श्रीकृष्ण सदा हृदय में रहे कभी बाहर नहीं जाते हैं। श्रीकृष्ण, श्रीजी, सातों स्वरूप, वल्लभकुल जहां विराजें वह सर्वोपरि उत्तम देश जाने, जिस घड़ी सत्संग हो वह ही सुन्दर काल जाने, द्रव्यादिक प्रभु में विनियोग हो वही उत्तम जाने। कर्त्ता का अभिमान त्याग करे श्रीकृष्ण का नाम सर्वोपरि जाने। श्रीकृष्ण की लीला उसको सर्वोपरि जाने। श्रीकृष्ण की लीला वही सर्वोपरि गुण जाने। समस्त कर्म में श्रीकृष्ण की सेवा वही सर्वोपरि कर्म जाने। यह षट् पदार्थ सर्वोपरि है। वे जब मिलें तब पुष्टिमार्गीय भगवदीय का संग होता है। यही साधन है और दूसरा साधन नहीं है। इसलिये सत्संग हुआ तब सर्वसाधन कर चुका।

मूलं – कृष्णसान्निध्यदेशे तु यतस्तिष्ठंति साधवः ।
कालः प्रसंगहेतुस्तु मिलितैस्तैरुदेति हि ।।७।।

श्लोकार्थ – जिससे श्रीकृष्ण की सन्निधि के देश में साधु पुरुष रहते हैं। जिससे सत्पुरुषों के मिलने से सत्संग के कारण रूप काल उदित होता है।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय भगवदीय श्रीकृष्ण के सान्निध्य देश में रहते हैं वहां श्रीकृष्ण बिराजते हैं वहां भगवदीय भी दर्शन सेवार्थ रहते हैं। वहां काल का सामर्थ्य नहीं चलता है। जहां श्री गोवर्धननाथजी, सातों स्वरूप, श्री वल्लभकुल का मंदिर हो वहां भगवदीय मिले तब सर्व कार्य सिद्ध हो। उपर देश की तथा काल की उत्तमता कही वह हो।

मूलं – सर्वस्वस्योपयोगोऽपि सिद्धयेत्सद्बुद्धिदातृभिः ।
अभिमाननिवृत्तिस्तु तदाश्रयवतामिह ।।८।।

श्लोकार्थ – सुन्दर बुद्धि के देने वाले भगवदियों से सर्वस्व का उपयोग भी सिद्ध होता है। जिससे द्रव्य की उत्तमता हुई और इनके आश्रय वालों के अभिमान की निवृत्ति यहां हो वहां कर्त्ता की उत्तमता हुई।

व्याख्या – ऐसे प्रभु और भगवदीय जहां बिराजते हैं वहां सर्व पदार्थ का उपयोग सिद्ध होता है। सर्व तादृशीयों के संग से सुन्दर बुद्धि होती है, प्रभु का आश्रय सिद्ध होता है। तब अज्ञान से अभिमान हुआ वह निवृत्त होता है तथा भगवदीय का आश्रय करे तब सब सिद्ध होता है।

बड़े शिक्षापत्र ३०

मूलं – कृष्णनामस्वरुपादिज्ञानं तु तत एव हि ।
भगवत्सेवनं वापि पुरुषार्थस्तदैव हि ।।६।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण के नाम तथा स्वरूपादिक का ज्ञान भी उससे ही होता है। यह मंत्र सिद्ध हुआ और पुरुषार्थ रूप श्रीकृष्ण की सेवा भी तभी होती है। यह उत्तम कर्म सिद्ध हुआ। ऐसे भक्तिमार्ग में देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता, मंत्र, कर्म यह षट् पदार्थ की सिद्धि के उपाय तीन श्लोकों से कहे हैं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के नाम का और श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हो तब श्रीकृष्ण की सेवा का परम पुरुषार्थ रूप फलरूप सर्वोपरि जानने में आता है। वे प्रभु जब कृपा करे तब ही जाना जाता है। उसी से सिद्धान्त मुक्तावली में कहते हैं – **"कृष्णसेवा सदाकार्या मानसी सा परामता"** श्रीकृष्ण की सेवा सदा करे फलरूप जान मन लगाकर करे तब श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर अपने स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं। तब मानसी सिद्ध होती है। इसलिये परम पुरुषार्थ रूप जानकर भगवत्सेवा करनी चाहिए।

मूलं – यदा तथाविधाः संतो दृश्यंते सेवनोद्यताः ।
अतः सत्संग एवास्मिन् मार्गे सर्वस्य साधनम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – जब वैसे सत्पुरुष सेवन में तत्पर देखने में आवे तब उपर लिखे षट् पदार्थ सिद्ध होते हैं। पुष्टिमार्ग में सत्संग ही सर्व का साधन करने वाला है।

व्याख्या – उपर कहा कि सब श्रीकृष्ण की सेवा में उद्यत (तत्पर) ऐसे भगवदीय मिले तब सर्व सिद्ध होता है। तभी प्रभु कृपा करे अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि हमारे इस पुष्टिमार्ग में तो सत्संग ही सर्वोपरि निश्चय साधन है। इसी कारण नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (सर्वथा निवेदन तो तादृशीय जन से मिलकर स्मर्त्तव्य है) इसलिये भगवदीय का संग करना चाहिए।

मूलं – तदभावे सर्वथैव न किंचिदिह सिध्यति ।
तस्मात्प्रयत्नः कर्त्तव्यः सत्संगाय सुबुद्धिभिः ।।११।।

श्लोकार्थ – सत्संग का अभाव हो तो सर्वथा इस मार्ग में कुछ सिद्ध नहीं होता है। इसलिये सुंदर बुद्धि वालों को सत्संग के लिये प्रयत्न कर्त्तव्य है।

व्याख्या – उपर कहा तदनुसार भगवदीय का भाव सहित संग होने से सर्व सिद्ध होता है। ऐसे तदीय के संग बिना किंचिद् भी सिद्ध नहीं होता है। इसलिये सर्वथा प्रयत्न कर भगवदीय का संग कर्त्तव्य है। सत्संग करे उसी वैष्णव की सुबुद्धि है। एकादश स्कंध में भगवान् ने कहा है – **"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव! । न स्वाध्याय स्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ।। व्रतानियज्ञश्छंदासि तीर्थानि नियमायमाः । यथावरुंधे सत्संग सर्वसंगा पहो हि माम् ।।"** (मेरे को योग वश नहीं करता है न ही सांख्य धर्म, हे उद्धव! न स्वाध्याय, तप, दान, न कूपारामादिक, न दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, नियम, यम, यह कोई वश नहीं करता है) जैसा सर्वसंग की निवृत्ति करने वाला सत्संग मेरे को वश करता है। इस भांति अनेक साधन कर भगवान् वश नहीं होते हैं। वैसे ही सत्संग करने से वश होते हैं। सत्संग का यत्न सर्वथा पुष्टिमार्गीय का कर्त्तव्य है।

मूलं – अत एवोक्तमाचार्यैर्हरिस्थाने तदीयकैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ।।१२।।

श्लोकार्थ – इसीलिये ही श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी ग्रंथ में कहा है हरि के स्थान में भगवदियों के संग या समीप में अथवा दूर में जैसे चित्त दोषयुक्त नहीं है, वैसे करना।

व्याख्या – हमारे श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः । अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति"** इसलिये हरिस्थान में भगवद् धर्म पर तदीयों के साथ या समीप में अथवा दूर में चित्त दोषयुक्त नहीं हो वैसे रहना। इस वाक्य से हरिस्थान जहां श्री ठाकुरजी बिराजते हो वहां तदीय भगवदीय से मिलकर सेवा करे जिससे चित्त में कोई दोष नहीं हो। इस भांति रहे तो बहुत निकट में चित्त का दोष हो तो नेक दूर रहे जिसमें दर्शन सेवा नित्य बने। चित्त में दोष नहीं हो। इस भांति भगवदीय से मिलकर हरि स्थान में रहे।

मूलं – चित्तदोषे कथं सेवा चेतस्तत्प्रवणं भवेत् ।
अतो विचारः कर्त्तव्यः सर्वथैकत्र वासकृत् ।।१३।।

श्लोकार्थ – चित्त में दोष हो, तब तत्प्रवण चित्त रूप सेवा कैसे हो, इस लिये सर्वथा एक स्थल में (हरि स्थान में भगवदीय हो वहां) वास हो ऐसा विचार कर्त्तव्य है।

व्याख्या – जब चित्त में अनेक भांति के दोष उत्पन्न हो तब सेवा कैसी, श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सिद्धान्त मुक्तावली में कहा है – **"चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।"** प्रभु में एकाग्र चित्त हो वह सेवा मानसी उसकी सिद्धि के अर्थ तनुजा तथा वित्तजा सेवा है। तनुजा वित्तजा सेवा मन लगाकर करे तब मानसी सिद्ध होती है। जैसे नदी का प्रवाह रात्रि–दिन धारा अहर्निश एक रस चलती है। वैसे ही वैष्णव का चित्त अहर्निश एक रस भगवत्सेवा में लगा रहे तब मानसी सेवा सिद्ध होती है। तनुजा, वित्तजा करने में जब चित्त दुष्ट हो तब आगे मानसी फलरूप कहां से सिद्ध होगी। इसलिये श्री आचार्यजी के वचनामृत का विचार करे

मूलं – बुद्धया विचार्य मत्प्रोक्तं निधाय हृदि सर्वथा ।
स्वार्थसंपत्तये कार्यो वास एकत्र तत्परैः ।।१४।।

श्लोकार्थ – मैंने कहा कि बुद्धि से विचार कर सर्वथा हृदय में स्थापन कर स्वार्थ की प्राप्ति के अर्थ में तत्पर (भगवदीय) के संग एकत्र वास करना।

व्याख्या – एकांत में बैठकर अपनी बुद्धि से विचार करे उसमें विचार नहीं हो तो भगवदीय के संग विचार करे श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"बाघ संभावनायां तु नैकांते वास इष्यते। हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।"** (बाघ की संभावना हो तो एकांत में वास नहीं करना हरि तो सर्व से रक्षा करेगे, इसमें संशय नहीं है) इस वाक्य से श्री महाप्रभुजी के वचनामृत का विचार हृदय में सर्वथा ही कर्त्तव्य है। वहां कोई कहे कि अनेक सुख–दुःख आवे वहां किस प्रकार करे वहां श्री महाप्रभु जी ने कहा है कि हरि भगवान् सर्वथा अपने भक्तों की रक्षा करेगे। इसलिये यह चिंता सर्वथा नहीं करे एकांत में बैठकर अपनी सुंदर बुद्धि से अपने चित्त में नित्य विचार करे सेवा दर्शन के समय सेवा दर्शन करे और अनोसर में एकांत में भगवदीय से मिलकर विप्रयोग से लीला संबंधी विचार करे इस भांति वैष्णव रहे तो सारे कार्य सिद्ध हो।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३०।।

बड़े शिक्षापत्र ३१

अब ३१वें शिक्षापत्र में साक्षात् तथा परंपरा से वरण दो प्रकार का है। उसमें लीलास्थ भक्तों में साक्षात् और आधुनिक भक्तों में (श्री आचार्यजी द्वारा) परंपरा वरण है। लीलास्थ भक्तों में भी श्रुतिरूपा में साक्षात् और अग्नि कुमार (ऋषि रूपा) में परंपरा (श्री मर्यादा पुरुषोत्तम द्वारा) वरण है वह आत्मीयपन से दो प्रकार का है। उसमें अवतार दशा में आत्मीयपन और अनवतार दशा में दासपन से वरण है। दासपने में मर्यादा और पुष्टि दो भेद हैं। उसमें मर्यादा रीति से वरण में साधन निष्ठा से फल है और पुष्टि में अनुग्रह से फल है। पुष्टि में मर्यादापुष्टि और पुष्टि पुष्टि ये दो भेद हैं। अपने तो श्री आचार्यजी के अनुग्रह से मर्यादा सहित पुष्टि में अंगीकृत हुआ है। श्री आचार्यजी महाप्रभु की आज्ञारूप मर्यादा है। वह अपने लिये हितकारिणी है। अपने प्रभु पुष्टि पुरुषोत्तम है। वे इस लोक एवं परलोक संबंधी सर्व (भक्तों की) चिंता करते हैं। इस कारण निश्चिंत रहना। इस मार्ग में श्री भगवान् की आर्ति कर सेवा, गुण गान, कथा, श्रवणादिक करने से मुख्य फल प्राप्त होता है और आर्ति बिना न्यून फल होता है। इस कारण आर्ति सदा रखनी चाहिए। वह आर्ति कैसे सिद्ध हो ? उसके लिये साधन बताया है उसका निरूपण है। उपर कहा है कि हरि स्थान में भगवदीय के संग स्थित होकर सेवा करे और एकांत में बैठकर चित्त में विचार करे, वहां अपने मन में साधन की भावना नहीं करे यह मार्ग निःसाधन फलात्मक है उसका आगे वर्णन करते हैं।

मूलं – निःसाधनफले मार्गे बलं नैवोपयुज्यते ।
साधनानामतो नायमात्मेत्येषोदिता श्रुति ।।१।।

श्लोकार्थ – निःसाधन के फलरूप इस मार्ग में साधन का बल उपयोगी नहीं है। श्रुति में कहा है कि यह आत्मा प्रवचन आदि से प्राप्त नहीं होता है। जिनका प्रभु वरण करता है उनसे लभ्य है।

व्याख्या – यह पुष्टिमार्ग साधन साध्य नहीं है। कृपा साध्य है। अपने बल से कोटानकोटि साधन करे परन्तु उनके करने से सिद्धि नहीं है। इसलिये श्रुति में साधन का निषेध कहा है – **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य इत्यादि"** यह परमात्मा प्रवचन से, बुद्धि से और बहुत सुनने से प्राप्त नहीं होता है। किन्तु परमात्मा जिसका वरण करता है वह प्राप्त कर सकता

है। इसलिये प्रभु के वरण बिना और साधन के बल से प्रभु प्राप्ति इस मार्ग में नहीं है।

मूलं – किंतु सर्वस्य मूलं हि हरेर्वरणमुच्यते ।
यथैव वृणुते कृष्णस्तथा तिष्ठति वै जनः ।।२।।

श्लोकार्थ – किन्तु हरि का वरण है। वह सर्व का मूल कहा है। श्रीकृष्ण जैसा वरण करते हैं, वैसे जन रहते हैं।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में यह सिद्धान्त है कि जो सर्व का मूल पुष्टिमार्ग का फल वह हरि के वरण से होता है। जीव के साधन साध्य नहीं है। जैसा जीव का वरण करे वैसा वह जीव पुष्टिमार्ग में स्थित होता है। इसलिये जीव के साधन साध्य नहीं है। उसमें भगवान् दो प्रकार वे वरण करते हैं। उसको आगे कहते हैं –

मूलं – वरणं तु द्विधा साक्षात्पारंपर्यविभेदतः ।
लीलास्थितेषु वै साक्षादन्येष्वस्ति परंपरा ।।३।।

श्लोकार्थ – साक्षात् और परंपरा इस भेद से दो प्रकार का वरण है। लीला स्थित भक्तों में साक्षात् वरण है और अन्य में परंपरा है।

व्याख्या – वरण दो प्रकार का है। एक साक्षात् एक परंपरा। इस प्रकार से दो तरह के भेद हैं। श्रीकृष्ण की लीला स्थित सृष्टि में साक्षात् है अन्य में परंपरा है।

मूलं – आचार्यद्वारकं तत्र वरणं न हरेः स्वतः ।
लीलास्थेष्वपि भक्तेषु वृतेर्द्वैविध्य मीक्ष्यते ।।४।।

साक्षाच्छ्रूतिषु हरिणा वरण वह्निसूनुषु ।
परंपराप्रकारेण मर्यादापुरुषोत्तमात् ।।५।।

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी द्वारा हरि का वरण है, वह स्वतः नहीं है। परंपरा से है। लीलास्थित भक्तों में वरण के दो प्रकार देखने में आते हैं। श्रुतिरूपा में हरि ने साक्षात् वरण किया है और अग्निकुमार (ऋषिरुपा) में परंपरा से मर्यादा पुरुषोत्तम (श्री रामचंद्रजी) द्वारा वरण हैं।

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – श्री आचार्यजी द्वारा जिस जीव का वरण है वह स्वतः नहीं है। श्रीकृष्ण की लीला सृष्टि के भक्तों का वरण दो प्रकार का है। साक्षात् भी है और परंपरा से भी है। श्रीकृष्णावतार में श्रुतिरुपा का वरण है। वह साक्षात् भगवान् ने स्वयं किया है और अग्निसूनु जो सोलह हजार अग्नि कुमार उनका वरण परंपरा मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी द्वारा है। इस भांति लीला सृष्टि में भी साक्षात् और परंपरा वरण है।

मूलं – अन्यथाप्यत्र भेदोऽस्ति दासतात्मीयतादिभिः ।
आत्मीयत्वेनावतारे दासत्वेनान्यदा वृतिः ।।६।।

श्लोकार्थ – दूसरी रीति से ही वरण में दासता और आत्मीयता में भेद हैं। अवतार दशा में आत्मीयता से वरण है और अनवतार दशा में दासता से वरण है।

व्याख्या – साक्षात् और परंपरा इन दो भेद बिना वरण के दूसरे दो भेद हैं। एक आत्मीय और एक दास भाव। अवतार दशा में भगवान् का संबंधी हो तब वरण हो, वह आत्मीय और अवतार दशा में दास भाव होता है।

मूलं – दासत्वेऽप्यस्ति भेदो हि मर्यादापुष्टिभेदतः ।
अतो न जीवस्वातंत्र्यं दासत्वाद्धि निसर्गतः ।।७।।

श्लोकार्थ – दासपने में भी मर्यादा तथा पुष्टि इस भेद से दो भेद हैं। इस कारण स्वभाव से ही जीव का दासत्व है। इसलिये स्वतंत्रता नहीं है।

व्याख्या – दासभाव में दो रीति है। एक मर्यादा और एक पुष्टि इस प्रकार दो भेद हैं। दासत्व धर्म जीव में स्वभाव से है। इसलिये जीव स्वतंत्र नहीं है। दासत्व धर्म से प्रभु का संबंधी होता है। इसलिये दासत्व धर्म सबसे अधिक है।

मूलं – यथा कृतिस्तथा सर्वं कृष्णस्तस्य करोति हि ।
मर्यादायां वृतौ तस्य भवेत् साधननिष्ठता ।।८।।

पुष्टावनुग्रहे दृष्टिस्तयैव सकलं पुनः ।
वयं त्वनुग्रहाचार्यैः पुष्टौ मर्यादया सह ।।९।।

अंगीकृतिसमर्यादैः सर्वेऽप्यंगीकृताः स्वतः ।
अतस्तदुक्तमर्यादा स्थितिर्हि हितकारिणी ।।१०।।

श्लोकार्थ – जिस जीव का जैसा वरण है वैसा सर्व श्रीकृष्ण करते हैं। जिसका मर्यादा में वरण है उसकी साधन में निष्ठा होती है। पुष्टि में जिसका वरण है उसकी अनुग्रह में दृष्टि होती है। उस दृष्टि से सर्व होता है। अपने तो अंगीकार में मर्यादा सहित पुष्टि श्री आचार्यजी श्री महाप्रभुजी ने पुष्टि में मर्यादा सहित आपने सभी को अंगीकृत (किये) हैं। इस कारण इनके वचनामृत की मर्यादा में स्थिति है। वह (अपना) हित करने वाली है।

व्याख्या – जैसी जिसकी वृत्ति (वरण) है उसी भांति श्रीकृष्ण फल देते हैं। वह पुष्टिप्रवाह मर्यादा में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः । वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चयः ।।"** इस वचन से मन में प्रकट हुई वह प्रवाही सृष्टि, उनका फल यह संसार, वचन से प्रकट हुई वह मर्यादा सृष्टि, वेदमार्ग में कर्म मार्गीय हुई उनका फल सत्यलोक (मोक्ष) और भगवान् के शरीर से प्रकट हुई वह पुष्टि भक्ति, भगवत्सेवा में लगी उनको स्वरूपानंद का अनुभव फल देते हैं। जिस जीव का वरण भगवान् ने मर्यादा में किया है उस जीव की निष्ठा साधन में होती है। वह जीव यह विचार करे कि अमुक साधन करूं तो फल मिले। पुष्टि में जिस जीव का वरण भगवान् ने किया है। वह जीव प्रभु का अनुग्रह देखता है (चाहता है) सर्वकर्म करे भगवद् धर्म भी करे परन्तु मन में साधन का बल नहीं लावे। निःसाधन होकर यह जाने कि प्रभु कृपा करेगे तब ही मेरा कार्य होगा। इस भांति सब जगह सर्वकार्य में प्रभु का अनुग्रह ही देखे। अपने तो अनुग्रह रूप श्री आचार्यजी ने पुष्टि में मर्यादा सहित अंगीकृत किये हैं। वह आगे कहते हैं। श्री गुसाईजी ने सर्वोत्तम में श्री आचार्यजी महाप्रभु के नाम कहे हैं – **"अंगीकृतौ समर्यादः"** (अंगीकार में मर्यादा सहित) इस वाक्य से पुष्टिमार्गीय समस्त जीवों का अंगीकार आपने स्वतः मर्यादा से किया है। इसलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु की जो उक्ति है उस प्रमाण स्थिति करे उसमें हित है।

मूलं – पुष्टिप्रभुत्वादस्माकं लौकिकी पारलौकिकी ।
सर्वा चिंता हरेरेव निश्चिन्तत्वं विभाव्यताम् ।।११।।

श्लोकार्थ – अपनी इस लोक संबधी तथा परलोक संबंधी सारी चिंता पुष्टि प्रभुपने से हरि को ही है। इसलिये निश्चिंतता से रहना।

व्याख्या – हमारे प्रभु पुष्ट हैं इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की लौकिक वैदिक चिंता हरेंगे। यह निश्चय जानकर निश्चिंतता की भावना रखे। चिंता भगवद् भाव में बाधक है।

मूलं – अत एवोक्तमाचार्यैर्निजेच्छातः करिष्यति ।
नोपेक्षते निजानार्त्तबंधुः श्रीगोकुलेश्वरः ।।१२।।

श्लोकार्थ – इसलिये ही श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है कि जो अपनी तथा अपने भक्तों की इच्छा से प्रभु करेगे उससे दीनबंधु श्री गोकुलेश्वर अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं करते हैं।

व्याख्या – उपर कहा उस भांति निश्चिंत होकर प्रभु की इच्छा जाने। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति"** प्रभु श्रीकृष्ण कैसे हैं, सर्व के आत्मा हैं और सर्व के ईश्वर है। सर्वोपरि है। सर्व के अंतकरण की जानते हैं। अपनी निज इच्छा के बिना मांगे सर्वसिद्ध करेगे। आर्त्त के बंधु (दीनबंधु) श्री गोकुलेश्वर (श्रीकृष्ण) अपने जन की उपेक्षा नहीं करेगे। वहां कोई कहे कि प्रभु तो स्वतंत्र हैं। कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है। उनकी जब विपरीत इच्छा हो तब प्रार्थना करे, नहीं करे वहां कहते हैं –

मूलं – हरीच्छा विपरीताऽपि दासदुःखावलोकनात् ।
अनुकंपानिधानत्वाद्धरेर्विपरिवर्त्तते ।।१३।।

श्लोकार्थ – हरि की इच्छा विपरीत हो तब भी दास के दुःख को देखने से तथा हरि कृपानिधान है, इसलिये विपरीत होते हैं अर्थात् विपरीत इच्छा हो वह अनुकूल होता है।

व्याख्या – हरि की इच्छा विपरीत देखने में आती है। वह अज्ञान से विपरीत दिखती है। जैसे नारदजी के ब्याह की इच्छा हुई तब भगवान् ने नहीं करने दिया तब नारद जी बहुत दुःख पाये। तब भगवान् ने कृपा कर समझा कर दुःख दूर किया। वैसे ही जीव लौकिक चाहना रखे वह भगवान् नहीं करने दे तब अज्ञान से दुःख माने अथवा प्रभु की विपरीत (दुःख

देने की) इच्छा हो तब भी दुःख सहन करे जैसे प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु ने बहुत दुःख दिया। प्रह्लाद ने प्रभु की इच्छा मानकर दुःख सहन किया। पीछे प्रभु ने दैत्य को मारकर दुःख दूर किया। वैसे ही प्रभु विपरीत इच्छा परीक्षार्थ करे तो सहन करे। प्रभु सर्व के आत्मा हैं वे बिना कहे आप ही जानते हैं। वे दास का दुःख देखकर आप हृदय में दयायुक्त हैं। वे जिस भांति दास का मनोरथ है उस भांति प्रभु आप प्रवृत्त होते हैं। जिस भांति दास को सुख होगा वही आप करेगे।

मूलं – **आर्त्तिमात्रमतः स्थाप्यं प्रार्थना न विधीयताम् ।**
कृपालुरेव भविता निजार्त्तजनशर्म्मदः ।।१४।।

श्लोकार्थ – इसलिये आर्तिमात्र रखना प्रार्थना नहीं करना, अपने आर्त्तजन को सुख देने वाले प्रभु कृपालु ही होंगे।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में आर्ति मात्र कर्त्तव्य है। मेरे से प्रभु की सेवा टहल नहीं बनती है। मनुष्य जन्म सारा यों ही बीत गया। इस भांति आर्ति करे और लौकिक अलौकिक कुछ फल की प्रार्थना नहीं करे क्योंकि श्रीकृष्ण तो परम कृपालु हैं। इसलिये अपने जन की आर्ति देखकर कृपा करते हैं। निरोधलक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपालुयुक्तो यदा भवेत् । तदा सर्वं सदानंदं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ।।"** इस वचन से विरह आर्ति रूप क्लेश संयुक्त अपने जन को देख कर प्रभु कृपायुक्त होते हैं। वे सर्व प्राणिमात्र के हृदय में सदा आनंद रूप भगवान् हैं, वे प्रकट होकर अपने दास को सुख देते हैं। इसलिये आर्ति इस पुष्टिमार्ग में मुख्य है। वह आर्ति किस प्रकार करे, वह आगे वर्णन करते हैं।

मूलं – **आर्त्यैव क्रियते यत्तु सेवागुणकथादिकम् ।**
तदैवास्मत्प्रभूक्तेऽस्मिन् मार्गे प्रविशति ध्रुवम् ।।१५।।
अन्यथा क्रियमाणं तु कृष्णसायुज्य साधकम् ।
न मुख्यफलसंबंधस्ततो भवति निश्चितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – आर्ति से ही जो सेवा गुण कथादिक् होते हैं वही अपने प्रभु ने कहा है। वह पुष्टिमार्ग में निश्चय ही प्रविष्ट होता है। अन्यथा किया वह तो श्रीकृष्ण के सामुज्य साधने

वाला है। उससे मुख्य फल का संबंध नहीं होता है। यह निश्चय है।

व्याख्या – आर्ति कर भगवत्सेवा करे, वाणी से गुणगान करे, संयोग में संयोग के पद, अनोसर में विप्रयोग के पद का गान करे श्रवण से श्री सुबोधिनी आदि कथा सुने, मन से श्रीकृष्ण की लीला का स्मरण करे इस भांति पुष्टिमार्ग में वैष्णव स्थित रहे। उसको इस पुष्टिमार्ग का निश्चय ही फल होता है। वहां कोई कहे कि जो वेदशास्त्र में अनेक साधन कहे हैं। उनके करने से फल कहा है। तुमने साधन से फल नहीं कहा है। प्रभु की कृपा से कहा है वह क्या ? वहां कहते हैं। इस पुष्टिमार्ग की क्रिया का भाव नहीं जानकर केवल साधन जानकर सेवा करे तो श्रीकृष्ण की सामुज्य मुक्ति होती है। अनेक साधन करने से फल मुक्ति होती है। इसलिये इस पुष्टिमार्ग का मुख्य फल संबंध कभी नहीं होता है। यह निश्चय जानना चाहिए।

मूलं – तदार्तिप्राप्तिरेतेषां तद्रूपाचार्यसेवनात् ।
तत्कृपातस्तदुदितंवचोवृंदविचारणात् ।।१७।।
निवेदनानुसंधानात् सदा सत्संगसंभवात् ।
अन्यथा न भवेदेवं स्वकृतानंत साधनैः ।।१८।।

श्लोकार्थ – उपर कही आर्त्ति की प्राप्ति विप्रयोग अग्निरूप श्री आचार्यजी के सेवन से, इनकी कृपा से, इनके वचनामृत के समूह के विचार से, निवेदन के अनुसंधान से और सदा सत्संग हो तब हो अन्यथा अपने किये अनंत साधन करने से नहीं होता है।

व्याख्या – विप्रयोगात्मक इस पुष्टिमार्गीय आर्त्ति की प्राप्ति के अर्थ विप्रयोगाग्निरूप श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल की (अत्यन्त प्रीति से) सेवा करे, जब श्री आचार्यजी महाप्रभु के वचनामृत श्री सुबोधिनीजी निबंध आदि छोटे–बड़े ग्रंथ का विचार अहर्निश करे, तब श्री आचार्यजी की कृपा से आर्त्ति होती है। निवेदन का अनुसंधान अष्टप्रहर रखे सदा पुष्टिमार्गीय भगवदीय के संग नित्य नियमपूर्वक निवेदन का विचार करे तब आर्ति होती है। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी ने कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** तादृशीय वैष्णवों के संग सर्वथा निवेदन का स्मरण कर्त्तव्य है। उसके करने से आर्त्ति होती

है और प्रकार कोटानकोटि साधन करे परन्तु आर्त्ति सिद्ध नहीं होती है। जब आर्त्ति नहीं हुई तब फल की आशा किसलिये करे।

मूलं – ये भावं वर्द्धयंत्येव दृढं वचनवर्षणैः ।
संगोऽपि तेषां कर्त्तव्यो नान्येषामिति निश्चयः ।।१६।।

श्लोकार्थ – जो भगवदीय वचन की वृष्टि कर दृढ़ भाव की वृद्धि करे उनका संग्रह करना, औरों का संग नहीं करना यह निश्चय है।

व्याख्या – उपर कहा उस प्रकार भाव की वृद्धि करे, श्री आचार्यजी के श्री सुबोधिनीजी, निबंधादिक छोटे–बड़े ग्रंथ हैं, उनको ही मन लगाकर सुनावे, वचन की वर्षा करे, उनका संग करे, लौकिक वैदिक में मन नहीं लगावे। स्वयं भी ग्रंथ का पाठ करे तब आर्त्ति सिद्ध हो यह निश्चय जानना।

मूलं – तद्दुर्ल्लभत्वे बाधिर्यं मूकत्वं वा वरं मतम् ।
वाचः प्रभूणां वदने दुर्जनानां भवंति न ।।२०।।

श्लोकार्थ – ऐसे भगवदीय दुर्लभ हो तब बधिरपना एवं मूकपना उत्तम है। क्योंकि दुर्जन के मुख से प्रभु के गुणगान की वाणी नहीं होती है।

व्याख्या – उपर कहा कि ऐसे भगवदियों का संग होना तो इस काल में बहुत दुर्लभ है। इसलिये और साधन बने तो मूक होकर रहे तथा बहरा होकर रहे। लौकिक में किसी की नहीं सुने नहीं किसी से कुछ कहे। यह इस काल, समय में श्रेष्ठ मत है। अपने प्रभु के मुख से निकले ऐसे वचनामृत दुर्जन के मुख से नहीं हो सकते इसलिये उनके मुख की वाणी सुनने में फल नहीं है। दुष्ट जन का संग ही नहीं करे। उनकी वाणी ही नहीं सुने। दुर्जन (बहिर्मुख) भगवद् वार्त्ता भगवद् कथा करे, वह भगवदीय अन्यमार्गीय के मुख से सर्वथा नहीं सुने। यह किस भांति बाधक है, वह कहते हैं।

मूलं – म्लेच्छानामिव गायत्री ततः श्रवणतः किमु ।
तत्सधर्मास्तत्रवर्णा अनुभावतिरोहिताः ।।२१।।

श्लोकार्थ – जैसे म्लेच्छ के मुख मे़ गायत्री हो उसके श्रवण से क्या फल हो क्योंकि जो इनके मुख की गायत्री में अनुभाव (दैवी प्रभाव) रहित उन म्लेच्छ के बराबर अक्षर हो जाते हैं।

व्याख्या – जैसे म्लेच्छ के मुख से गायत्री सुनने में कुछ फल नहीं होता है। उल्टा बाधक है। क्योंकि उस आसुर का दुष्ट धर्म है। उस दुष्ट के संग से गायत्री के वर्ण जो अक्षर हैं, उसमें आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों तिरोहित हो जाते हैं। केवल आधिभौतिकता रहती है। वैसे ही अवैष्णव के मुख से कथा वार्त्ता सुनने से फलरूप नहीं होता है उल्टा बाधक होता है। जैसे गंगाजल सुन्दर है परन्तु नीच जाति (चमार, चांडालादिक) के पात्र में हो तो उस जल के संग से प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यदि स्पर्श करे तो स्नान करना पड़ता है, इस भांति पात्रभेद है।

मूलं – अतः फलं न श्रवणाद्दोषः प्रत्युत जायते ।
सावधानतमैःस्थैयमीदृक् श्रवणकीर्त्तनात् ।।२२।।

श्लोकार्थ – इसलिये (अवैष्णव के मुख से) कथावार्त्तादिक श्रवण से फल नहीं है, उल्टा दोष होताहै। इसलिये ऐसे के मुख से श्रवण और कीर्त्तन से बहुत सावधान होकर रहना।

व्याख्या – ऐसा दुष्ट बहिर्मुख अन्यमार्गीय हो उसके मुख से भगवद् धर्म सुनने से कुछ फल नहीं होता है। प्रत्युत दोष होने से प्रायश्चित्त करना पड़े इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णव तुम सब सावधान रहना। जो पुष्टिमार्ग में स्थित होकर मार्ग के अनुसार क्रिया करता हो। इस भांति सुन्दर पात्र देखकर उसके मुख से श्रवण कीर्त्तन करे तब भक्तिमार्ग में प्रवेश हो यह पुष्टिमार्ग महादुर्लभ है। अब पुष्टिमार्गीय भगवदीय के लक्षण कहते हैं।

मूलं – निरपेक्षाः कृष्णजना निजाचार्यपदाश्रिताः ।
श्रीभागवत्तत्त्वज्ञा दुर्लभा एव भूतले ।।२३।।
अतः शरणमात्रं हि कर्त्तव्यमखिलं ततः ।
यदुक्तं तातचरणैरिति वाक्यादभविष्यति ।।२४।।

श्लोकार्थ – निरपेक्ष, अपने श्री आचार्यजी के चरणारविंद के आश्रय वाले और श्री भागवत् के तत्त्व को जानने वाले ऐसे जन भूतल में दुर्लभ नहीं है। इसलिये शरण मात्र ही कर्त्तव्य है। इसलिये (श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है कि तात चरण श्री महाप्रभुजी ने कहा है कि श्रीकृष्ण मेरे आश्रय स्थान है, इस कारण हम निश्चिंत हैं) इस वाक्य से सर्व होगा।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय भगवदीय कैसा हो, जिसको कुछ अपेक्षा नहीं हो हृदय में पूर्ण काम हो। लौकिक वैदिक की कुछ इच्छा नहीं हो। चतुष्ट्य मुक्ति पर्यन्त चाहना नहीं हो, ऐसा निरपेक्ष हो और एक श्रीकृष्ण का दास हो। अन्यदेव तथा प्रभु के अन्य अवतार उन सबसे एक श्रीकृष्ण में अनन्य भाव हो और अपने श्री आचार्यजी महाप्रभुजी के चरणकमल का आश्रय मन में दृढ़ हो और श्री भागवत का तत्व जो श्री सुबोधिनीजी निबंध का ज्ञान हो ऐसे भगवदीय मिले उन ही का संग कर्त्तव्य है। इस काल में ऐसे भगवदीय मिलना परम दुर्लभ है। इसलिये ऐसे भगवदीय नहीं मिले तो शरण मंत्र अष्टाक्षर महामंत्र **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** इसका जप करे उसके करने से सकल कार्य सिद्ध होंगे। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत एवास्ति नैश्चिंत्यमैहिके पारलौकिके"**। श्री गुसांईजी कहते हैं कि हमारे तात चरण श्री आचार्यजी महाप्रभु ने उक्त नाम मंत्र प्रकट किया। उसके करने से यह लोक और परलोक के सर्वकार्य से हम निश्चिंत हैं। इत्यादि वचन का विचार श्रीमहाप्रभुजी के शरण हो, अष्टाक्षर की भावना करे तो निश्चय ही सारे कार्य हों।

मूलं – तथा विधेयं कृपया यथा गोवर्द्धनेश्वरः ।
दर्शयत्यचिरादेव निजंरुपं तदाश्रितैः ।।२५।।

श्लोकार्थ – इनके आश्रित भक्तों को वैसे कर्त्तव्य है, जैसे श्री गोवर्द्धननाथ जी कृपा कर के शीघ्र ही दर्शन दे।

व्याख्या – यह सारा भगवद् धर्म उपर कहा वह कब हो ? जब श्री गोवर्द्धननाथजी कृपा करे तब हो। अपने आश्रितजन अपने निज पर प्रसन्न होकर स्वरूप का दान करे तभी सर्वकार्य सिद्ध हो। यह मार्ग साधन साध्य नहीं है। कृपा साध्य है। जैसे गिरिराज के संबंध से पुलिंदी पर कृपा की वैसे श्री आचार्यजी महाप्रभु के संबंध से श्रीजी कृपा करे तब सर्वसिद्ध हो।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३१।।

बड़े शिक्षापत्र ३२

अब ३२वें शिक्षापत्र में कामादि दोष विशिष्ट के हृदय में भगवान् कभी प्रवेश नहीं करते हैं, उसका निरूपण है। उपर कहा कि श्रीजी की कृपा हो तब सर्वकार्य सिद्ध हो। उस पंचपर्वा अविद्या का नाश हो। विद्या सिद्ध हो तब श्रीकृष्ण भगवान् हृदय में विराजें। वह अविद्या पंच श्लोक से कहते हैं और अविद्या भी पंच श्लोक से कहते हैं। ऐसे इस शिक्षा पत्र में दश श्लोक हैं। अब प्रथम अविद्या का प्रकार कहते हैं क्योंकि अविद्या जाय तब विद्या हृदय में आवे जैसे श्री कृष्णावतार में श्रीकृष्ण ने भक्तों की अविद्या दूर की तब हृदय में निःष्प्रपंच विद्या स्थित हुई, उसका वर्णन श्री सुबोधिनीजी में हैं। उसके अनुसार श्रीहरिरायजी वर्णन करते हैं।

मूलं – **कामाविष्टे क्रोधयुते संसारासक्तिसंयुते ।**
लोभाभिभूते सततं धनार्ज्जनपरायणे ।।१।।

श्लोकार्थ – काम से आविष्ट, क्रोधयुक्त संसार में आसक्तियुक्त, लोभ से व्याप्त, निरंतर धन संचय करने में तत्पर ऐसे हृदय में कभी हरि प्रवेश नहीं करते हैं, ऐसे पंच श्लोक में अन्वय है।

व्याख्या – अविद्या के इतने दोष जिसके हृदय में हो उसके हृदय में भगवान् कभी स्थित नहीं होते हैं। कामादिक विषय में आवेश हो। इसके विषय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** विषय से व्याप्त देह वाले के हृदय में सर्वथा हरि का आवेश नहीं होता है। इत्यादि वचन से काम को दुष्ट जानना। कामावेश नहीं हो और हृदय में क्रोध भरा रहे, वह तो चांडाल का स्वरूप है। जहां चांडाल रूप क्रोध हृदय में हो वहां भगवान् कैसे हृदय में आवे। इसलिये क्रोध बाधक है। यह लौकिक संसार में देह संबंधी कुटुम्ब, घर इन्हीं के भरण पोषण में अष्ट प्रहर आसक्त है उनके हृदय में भगवान् नहीं आते हैं और लोभ से भरे द्रव्यादिक के लिये विश्वासघात चोरी करता है। द्रव्य ही को सर्व पदार्थ जानता है। अष्ट प्रहर धन जोड़ने में मन है। देह संबंधी लोभ है, ऐसे के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं और धन के उपाय में

परायण है। अपना धर्म (वैष्णवता) धन के लिये बताता है। धन के लिये अनेक वार्त्ता करे अष्ट प्रहर धन ही में मन रखे। उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं।

मूलं – दयाविरहिते रुक्षे नित्यं संतोषवर्ज्जिते ।
शोकाकुले भयक्रांते विषयध्यानतत्परे ।।२।।

श्लोकार्थ – दया से रहित, स्नेह से रहित, नित्य संतोष जिसमें नहीं है। शोक से आकुल, भय से आक्रांत और विषय के ध्यान में तत्पर ऐसे हृदय में प्रभु नहीं पधारते हैं।

व्याख्या – दया से रहित है, अनेक जीवों के हिंसक, किसी के दुःख को देखकर प्रसन्न रहता है। रंचक दया मन में नहीं है। उनके हृदय में प्रभु नहीं रहते हैं। स्नेह से जो रहित है। भगवदीय वैष्णव में जिनका रंचक स्नेह नहीं है। कितनी भगवद् वार्त्ता सुने परन्तु रंचक भगवद् रस हृदय में द्रवीभूत नहीं हो ऐसे रुखे के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। नित्य संतोष से रहित है। अष्ट प्रहर हाय हाय यह कार्य नहीं हुआ, आज तो कुछ नहीं कमाया, अब कैसे काम चलेगा। इस भांति सदा संतोष से रहित है। उनके हृदय में भगवान् स्थित नहीं होते हैं। सदा शोक से व्याकुल रहे, स्त्री पुत्रादिक के शोक अथवा गृहादिक में शोक जो कैसे निर्वाह होगा। इस भांति बालपने से वृद्धावस्था पर्यंत शोक से व्याकुल रहे, सदा भय से हृदय में कंपायमान रहे। राजडर, कालडर, चौरादिक का डर, ज्ञाति संबंधी देह संबंधी का डर इत्यादिक लौकिक वैदिक भय का हृदय में आवेश रहे उसके हृदय में भगवान् कभी नहीं रहे। विषयादिक के साधन में तत्पर रहे। देह से विषय नहीं सिद्ध हो तब मन में अनेक विचार करे कोई मेरे को वैष्णव जाने तो अच्छा खानपान हो, अच्छा कपड़ा पहनने को मिले, ऐसा विचार करे परस्त्री के मिलने का विचार करे वह प्राप्त नहीं हो तो दुःख पावे। ऐसे विषय के ध्यान में तत्पर रहे उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं।

मूलं – अहंकारयुते क्रूरे दुष्टपक्षैकपोषके ।
ज्ञानमार्गस्थिते सर्वसाम्यचिंतनभाविते ।।३।।

श्लोकार्थ – अहंकार युक्त, क्रूर दुष्ट के पक्ष का ही पोषण करे, ज्ञानमार्ग में रहे और सर्वदेव समान प्रभु को जानकर ऐसा चिंतन करे, उसके हृदय में भगवान् नहीं पधारते हैं।

व्याख्या – अहंकारयुक्त रहे, मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, मैं बहुत समझदार हूं। मेरे में बड़ी वैष्णवता है। मैं सेवा स्मरण बहुत करता हूं। मैं अनेक मनोरथ करता हूं। मैं सारे कुटुम्ब का पालन करता हूं। मेरे सारे आज्ञाकारी हैं इत्यादि मन में अहंकार रखे उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। क्रूर हृदय हो। दूसरे का बुरा ही विचारे। मन में ही विचार रहे कि मेरा मौका आयेगा तो दुःख दूंगा। इस भांति क्रूर दृष्टि रखे। टेढ़ा रहे। टेढ़ा ही बोले, ऐसे क्रूर के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। कोई दुष्ट कार्य (चोरी, अन्याय, किसी का बुरा) करे उसका पक्षपात करे उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। ज्ञानमार्ग में स्थित है। उसमें स्वामी सेवक भाव नहीं है। सर्वगुण युक्त भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। भगवान् को निराकार जानता है। उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। भगवान् को ब्रह्मा, महादेव, गणेश, इंद्र इत्यादिक देवता के समान चिंतन करे सभी का समान आश्रय करे सबसे फल की चाहना करे इस भांति अन्याश्रय करे उसके हृदय में भगवान् नहीं बिराजते हैं।

मूलं – लौकिके सन्मुखे कृष्णजनवैमुख्यसंयुते ।
कृष्णलीलादोषदृष्टौ तथा कर्मजडेऽपि च ।।४।।

श्लोकार्थ – लौकिक में सन्मुख, श्रीकृष्ण के जन (वैष्णव) से विमुखता युक्त, श्रीकृष्ण की लीला में दोष दृष्टि हो तथा कर्म में जड़ की तरह आसक्त हो उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं।

व्याख्या – लौकिक कार्य में सन्मुख रहे अष्टप्रहर मिथ्याक्रिया, मिथ्याज्ञान, मिथ्या भाषण, ऐसे लौकिक में मगन रहे उसके हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। श्रीकृष्ण के जन भगवदीय से विमुख रहे भगवदीय की निंदा करे, भगवदीय को दुःख दे, ऐसे के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। श्रीकृष्ण की लीला आनंदमय निर्दोष है। वैसे भगवान् श्रीकृष्ण आप निर्दोष आनंदमय है। वैसी लीला है उसमें दोष दृष्टि जो प्रभु कामादि दोष से परस्त्री के वश है। इस भांति दोष दृष्टि वाले के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। कर्मजड़ जो कर्ममार्ग में तत्पर प्रभु की सेवा छोड़कर कर्म को ही मुख्य जान श्राद्धादिक संध्यादिक में तत्पर रहे। भगवद् धर्म में प्रीति नहीं है, ऐसे के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं।

मूलं – आचार्यविमुखे नित्यमसद्वादविभूषिते ।
एतादृशे तु हृदये हरिर्नाविशतेक्वचित् ।।५।।

बड़े शिक्षापत्र ३२

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी से विमुख और नित्य असत्यवाद से भूषित ऐसे हृदय में हरि कभी प्रवेश नहीं करते हैं।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग के सर्वोपरि श्री आचार्यजी श्री वल्लभाचार्यजी हैं उनके चरण कमल से विमुख ऐसे के हृदय में श्रीकृष्ण नहीं रहते हैं। सुंदर भगवत्कथा भगवद् वार्त्ता इत्यादिक के विदूषक हैं, असत्यवाद करते हैं। लौकिक वार्ता में प्रसन्न होते हैं। ऐसे के हृदय में भगवान् नहीं रहते हैं। उपर बाइस अविद्या के दोषों का वर्णन है। वे जिसके हृदय में रहते हैं, उनके हृदय में श्रीकृष्ण कभी नहीं आते हैं। भगवदावेश कभी नहीं होता है। इसलिये वैष्णव को इन बाइस दोष से रहित रहना है। इन दोषों से डरता रहना है। अब जिस गुण से वैष्णव के हृदय में श्रीकृष्ण विराजते हैं वह बताते हैं।

मूलं – **दीने शुद्धे निःप्रपंचे लीलाचिंतनतत्परे ।**
स्वाचार्यशरणे नित्यं सर्वकामविवर्जिते ।।६।।

श्लोकार्थ – दीन, शुद्ध प्रपंच रहित, श्रीकृष्ण की लीला के चिंतन में तत्पर, स्वाचार्य के दृढ़ आश्रययुक्त, और नित्य सर्वकाम से वर्जित ऐसे हृदय में भगवान् तत्क्षण प्रवेश करते हैं।

व्याख्या – दीन हो, कोई कुछ कहे निंदा करे, सब को सहन कर ले। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"आचार्य चरणैरुक्तं दैन्यं त्वत्तोषसाधनम्"** (श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्री सुबोधिनीजी ने कहा है कि प्रभु को प्रसन्न करने का साधन एक दैन्य ही है) इसलिये दीन हो उसके हृदय में भगवान् बिराजते हैं और शुद्ध हृदय हो मन में कपट छल नहीं हो शुद्ध भाव से प्रभु का भजन स्मरण करे उसके हृदय में भगवान् बिराजते हैं। लौकिक प्रपंचादिक से रहित हो किसी देह संबंधी में मन नहीं लगावे एक प्रभु में मन लगावे। कुछ प्रपंच में आसक्ति नहीं करे उसके हृदय में प्रभु बिराजते हैं। श्रीकृष्ण की लीला आनंद रूप बाललीला, दानलीला, रासलीला इत्यादि अनेक लीला हैं उनके चिंतन में तत्पर रहे। निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः"** भगवान् के गुण चित्त में प्रविष्ट हो तब हृदय में अनेक दोषमुर दैत्य रूप हैं, उन सब अपने वैरी का नाम सुनकर निवृत्त होते हैं। इसलिये लीला में जिनका चित्त तत्पर रहे उनके हृदय में प्रभु बिराजते हैं। अपने पुष्टिमार्ग के आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी के चरण

का आश्रय अहर्निश चित्त में रहे। श्री सर्वोत्तम जी में नाम है – **"अशेषभक्तसंप्रार्थ्य चरणाब्जरजोधनः"** इस भांति श्री आचार्यजी के चरणकमल की रज को अपना सर्वस्व धन जिनने जाना है उनको श्रीकृष्णाधरामृतास्वाद सिद्धि है उनके हृदय में श्रीकृष्ण बिराजते हैं और लौकिक वैदिक देह संबंधी सर्वकाम से वर्जित है। प्रभु बिना कहीं मन की आसक्ति नहीं है। ऐसे अनन्य वैष्णव के हृदय में प्रभु विराजते हैं।

मूलं – व्रजस्त्रीचरणांभोजरेणुप्राप्त्यभिलाषुके ।
गुणगानपरे कृष्णनामार्थपरिभावुके ।।७।।

श्लोकार्थ – अपने व्रजभक्त के चरणारविंद के रज की प्राप्ति में इच्छायुक्त, गुणगान में तत्पर (श्रीकृष्ण) इस नाम का अर्थ (फलात्मक) है। उसके यथार्थभाव युक्त ऐसे हृदय में प्रभु क्षण में पधारते हैं।

व्याख्या – व्रजभक्तों के चरण कमल की रेणु की प्राप्ति में निशदिन अभिलाषा रहे कि मेरे को व्रजभक्तों के चरणकमल की रज कब प्राप्त होगी यही मनोरथ मन में रखे। जैसे उद्धवजी ने भ्रमर गीत के अध्याय में कहा है – **"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजन मार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुंद पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।। वंदे नंद व्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः । यासां हरिकथोद् गीतं पुनाति भुवनत्रयम्"** (इन व्रजभक्तों के चरणारविंद की रज का सेवन करने वाले जो श्री वृंदावन में गुल्म, लता और औषधी (तामस, राजस और सात्विक) हैं उसमें मैं कुछ भी हूं, किसी व्रजभक्त से त्याग नहीं हो। ऐसे अपने जन (संबंधी वर्ग) और वेदमार्ग को छोड़कर श्रुतियों में ढूंढ़ने योग्य श्रीकृष्ण की पदवी को भजते थे। (आप श्रुतिरूपा है इसीलिये भजते हैं) श्री नंदरायजी के व्रज की स्त्रियों के चरणारविंद की रज को मैं बारंबार वंदन करता हूं जिनकी भगवत्कथा का उद्गीत (परवशता से ऐसा गान हुआ) तीन लोगों को पवित्र करता है। इत्यादिक वचन के भाव का विचार करे उसके हृदय में श्रीकृष्ण बिराजते हैं। श्रीकृष्ण की लीला संबंधी गुणगान करे द्वादश स्कंध में शुकदेवजी ने कहा है – **"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः । कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबंधः परं व्रजेत् ।।"** (हे राजन् दोष के निधि रूप कलियुग का एक बड़ा गुण है।

श्रीकृष्ण के कीर्त्तन से ही मुक्तबंध होकर परपुरुष (श्रीकृष्ण) प्राप्त हो। इत्यादि वचन से गुणगान करे, उसके हृदय में प्रभु बिराजते हैं। कीर्त्तन नहीं आवे तो श्रीकृष्ण इस नाम का अर्थ विचार कर अनुभव करे) षष्ठ स्कंध श्री भागवत् में कहा है – **"अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तम श्लोक नामयत्। संकीर्त्तितमद्यं पुंसां दहेदेधो यथानलः। नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यतपुत्रकाः। अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत।।"** (विष्णु दूत यमदूत को कहते हैं) अज्ञान से अथवा ज्ञान से उत्तम श्लोक (भगवान्) का नाम अच्छी रीति से (आत्तियुक्त होकर) जो लिया वह अग्निकाष्ठ को जलाता है, वैसे पुरुष के पाप को जलाता है। यमराजा अपने दूतों से कहते हैं हे पुत्र! हरि के नाम के उच्चारण का माहात्म्य देखो जिसके कहने से ही अजामिल भी मृत्यु के पाश से मुक्त हुआ) और अष्टम स्कंध में कहा है – **"तेसद्भाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप! निश्चितम्। स्मरंति स्मारयंतीह हरेर्नाम कलौयुगे"** (हे राजन् इस कलियुग में हरि के नाम का आप स्मरण करते हैं और दूसरे को स्मरण कराते हैं) वे मनुष्यों में सुन्दर भाग्य वाले और कृतार्थ (पूर्ण) निश्चय है। इत्यादि वचन से श्रीकृष्ण के नाम के अनुभव से ही भगवान् हृदय में विराजते हैं।

मूलं – अनन्येऽनन्यसेवैकनिष्ठातत्परतां गते ।
भगवद्धर्मनिरते विरक्ते गुणसंगिनि ।।८।।

श्लोकार्थ – अनन्य भावयुक्त, अनन्य भक्त की सेवा की मुख्य निष्ठा में तत्परता को प्राप्त हुए। भगवद् धर्म में प्रीतियुक्त, विरक्त और भगवद्गुण के संगयुक्त (ऐसे हृदय में प्रभु पधारते हैं)

व्याख्या – एक श्रीकृष्ण ही में अनन्य भाव हो। श्रीकृष्ण की सेवा करे, श्रीकृष्ण का स्मरण, श्रीकृष्ण की कथा का श्रवण, श्रीकृष्ण का ही गुणगान, मन, वचन, कर्म से पुष्टि मार्ग के धर्म में अनन्य हो। हारितस्मृति में कहा है – **"अनन्यशरणा ये तु तथैवानन्यसाधनाः। अनन्यभोगभोग्या ये ते तु सर्वेऽधिकारिणः।। नान्यं देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत्। नान्यप्रसादमद्याच्च नान्यदायतनम् व्रजेत्।।"** (अनन्य आश्रय वाले वैसे ही अनन्य साधन करने वाले) और अन्य देव का प्रसाद नहीं लेने वाले ऐसे भक्त

(भक्तिमार्ग) में अधिकारी हैं। अन्यदेव को नमस्कार नहीं करे अन्यदेव को नहीं देखे, अन्य का प्रसाद नहीं ले। अन्यदेव के स्थान में नहीं जाय। ऐसे अनन्य हो उसके हृदय में श्रीकृष्ण विराजते हैं। अनन्य पुष्टिमार्गीय जो वैष्णव है उनमें पूर्ण निष्ठाकर उन भगवदीय का संग करे, उनकी सेवा करे उसको भगवदीय ने गाया है – **"एक भरोसो व्रजभक्तन को दूजो नंदकिशोर को"** और भक्तिवर्धिनी में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः"** (इसलिये भगवत्परायण भगवदियों के संग हरि स्थान में (भगवत्मंदिर में अथवा मंदिर के पास रहना) प्रभु के स्थान में तदीय के संग तत्पर रहे, उसके हृदय में प्रभु बिराजते हैं और भगवद् धर्म में रति हो, इस पुष्टिमार्ग के धर्म में प्रीति हो और साधनादि में मन नहीं लगावे। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्साक्षिणोभवताखिलाः। सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया"** इस भांति गुरु की आज्ञा प्रमाण पुष्टि मार्ग में स्थित होकर सेवा करे और प्रभु की इच्छा से गुरु की आज्ञा का बाध हो उसमें तथा संसारादिक में साक्षिवत् रहे जैसे जल में कमल रहे उस भांति भगवद् धर्म में रति हो उसके हृदय में प्रभु विराजते हैं और लौकिक से विरक्त होकर सर्वप्रभु को समर्पण कर दे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सिद्धान्त रहस्य में कहा है – **"तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्"** इस भांति जो वैष्णव पहले ही सर्वकार्य में भगवान् को सर्ववस्तु समर्पित कर विरक्त होकर रहे। उसके हृदय में प्रभु बिराजते हैं और भगवान् के गुण का संग करे, इनके गुण का गान करे इनका स्मरण करे, उनके हृदय में प्रभु बिराजते हैं।

मूलं – कृष्णार्त्तिभावसंयुक्ते सरसेऽन्यरसातिगे ।
अचंचले कृष्णलीलाचंचले दर्शनाकुले ।।६।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण की आर्त्ति तथा भाव से युक्त, भक्ति के रस सहित, अन्य धर्म के रस उलंघित, भगवद् धर्म में स्थिर, श्रीकृष्ण की लीला से चंचल (विकल जैसा) और श्रीकृष्ण के दर्शन में आकुल ऐसे हृदय में प्रभु क्षण में पधारते हैं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण में आर्त्ति होने से प्रभु कृपा करे निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदाभवेत् । तदा सर्वं**

सदानंदं हृदिस्थं निर्गतं बहिः ।।" इस वचन से भगवान् भक्तों को आर्त्ति क्लेश युक्त देखकर कृपा मुक्त हो सर्व के आनन्ददाता हृदय से बाहर प्रकट होकर दर्शन देकर अनुभव करावें। आर्त्ति तो पुष्टिमार्ग का फल है। जहां आर्त्ति होती है वहां प्रभु पधारते हैं। श्रीकृष्ण में भाव निवेदन से लौकिक में स्त्री का ब्याह हो तब पति के भाव हो। यह मेरा पति है, वैसे ही श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन हुआ। तब श्रीकृष्ण में भाव हो। श्रीकृष्ण ही को सर्वस्व जाने यह भाव हो तब भगवान् हृदय में पधारते हैं। भगवत्स्वरूप रस में सरस हो और अन्यमार्गीय रस तथा विषयादिक रस से रहित हो। एक पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्णाधरामृतास्वादरस को चाहे ऐसे वैष्णव के हृदय में प्रभु पधारे। अचल (गंभीर बुद्धि) हो, अन्य मार्गीय के संग से दुष्ट के संग से, विषयादि के संग से बुद्धि चलायमान नहीं हो, ऐसे पुष्टिमार्ग में दृढ़ हो उसके हृदय में प्रभु पधारते हैं और श्रीकृष्ण की नाना प्रकार की लीलारस में अति चंचल (क्षण क्षण में लीलारस में मग्न) हो। सिद्धान्त मुक्तावलि में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"चेतस्तत्प्रवणं सेवा"** यह मानसी सेवा जो चित्त एकाग्र (नदी के प्रवाह की तरह) अहर्निश प्रभु की लीला में रहे। इस भांति जिसका चित्त प्रभु की लीला में चंचल हो उसके हृदय में प्रभु पधारते हैं और श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये मन बारंबार व्याकुल हो। श्री भागवत के एकादश स्कंध में जनक राजा ने कहा है – **"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षण भंगुरः । तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठ प्रिय दर्शनम्।।"** (जीव का क्षणभंगुर मनुष्यदेह दुर्लभ है। उसमें भी भगवान् के प्रिय (भक्त) का दर्शन दुर्लभ है) ऐसे मनुष्य के देह का दुर्लभ और क्षणभंगुर जान उसमें भी भगवद् भक्त का दर्शन दुर्लभ जान भगवान् के दर्शन में व्याकुल हो, वह भाव कुंभनदासजी का है। एक दर्शन के अंतराय में गाया – **"किते दिन व्हेजु गये बिनुदेखे"** ऐसी आर्त्ति दर्शन में हो उसके हृदय में प्रभु पधारते हैं।

मूलं – मनोरथशताक्रांते सर्वौदासीन्यसंयुते ।
तदादृशे तु हृदये हरिराविशते क्षणात् ।।१०।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण की सेवा में अनेक मनोरथयुक्त और लौकिक वैदिक में औदासीन्ययुक्त (लौकिक वैदिक में आसक्ति रहित) ऐसे हृदय में क्षण में प्रभु पधारते हैं।

व्याख्या – जैसे व्रजभक्त श्री ठाकुरजी को सुखदानार्थ नाना प्रकार के मनोरथ करते बागा वस्त्र, आभूषण, सामग्री (तन, मन, धन से) प्रभु को समर्पित सर्वात्म भाव प्रभु में था वैसे ही

बड़े शिक्षापत्र

पुष्टिमार्ग में श्री वल्लभकुल श्रीकृष्ण का सर्वस्व विनियोग कराते हैं। इसलिये वैष्णव को तन, मन, धन से प्रभु ही की सेवा में अनेक मनोरथ हो और द्रव्यादिक नहीं हो तो मन ही से (मानसी सेवा) नाना प्रकार के मनोरथ करे, उसके हृदय में प्रभु बिराजते हैं और लौकिक वैदिक देह संबंधी कार्य में सर्वठोर अपने मन को उदास रखे। लौकिक में साक्षिवत् रहे। संसार के सुख दुःख से मन उदासीन रहे तो प्रभु हृदय में रहे। अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि यह बत्तीण गुण विद्यारूप जिस वैष्णव के हृदय में आवे उसके हृदय में श्रीकृष्ण पधारते हैं। स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं। जैसे व्रजभक्तों की पंचपर्वा अविद्या दूर हुई तथा विद्या सिद्ध हुई तब श्रीकृष्ण हृदय में बिराजे वैसे वैष्णव बत्तीस दोष छोड़कर बत्तीस गुणो को धारण करे तो श्रीकृष्ण निश्चय ही उसी क्षण हृदय में पधारते हैं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३२।।

बड़े शिक्षापत्र ३३

अब ३३वें शिक्षापत्र में इस मार्ग में सर्व का कारण भगवदिच्छा ही है। वह प्रतिकूल हो उसका नाश हरि में दैन्य से हो क्योंकि जो दीनजन उपर हरि अपनी इच्छा अनुकूल करते हैं। जब इच्छा अनुकूल हुई तब दास को क्या दुर्लभ है ? इसलिये लोक में भी दीन के उपर सभी की दया होती है। यह जानकर के दैन्य ही रखना वही साधन है। अभिमान और मद दैन्य के विरोधी हैं। उसका त्याग करना यह नहीं हो तो अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु का दृढ़ आश्रय रखना। इनके निबंध, श्री सुबोधिनीजी और षोड्श ग्रंथ का अवलोकन करना तथा दुःसंग से दूर रहना। ऐसा करने से सर्वदोष निवृत्त होते हैं। यह निरूपण है। ऊपर विद्या अविद्या के प्रकार कहे हैं वे व्रजभक्तों को प्रभु ने ही अविद्या की निवृत्ति कर विद्या को सिद्ध किया तब हुआ। भक्तों की सामर्थ्य नहीं है। प्रभु ही ने सामर्थ्य दिया तब रास पंचाध्यायी में सारे प्रतिबंध को तोड़कर प्रभु पास आये तब अनुभव हुआ। वैसे ही यहां पुष्टिमार्ग में जब प्रभु कृपा करे तब ही फल होता है। उसको आगे कहते हैं।

बड़े शिक्षापत्र ३३

मूलं – अस्मिन् मार्गे प्रभोरिच्छामात्रं सर्वत्र कारणम् ।
सैव चावरणं यातव् प्रतिकूला फले निजे ।।१।।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग में सर्वकार्य में मात्र प्रभु की इच्छा कारण है। वही जब तक अपने फल में प्रतिकूल हो वह आवरण है।

व्याख्या – हमारे श्री वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण की इच्छा ही सर्वकार्य में कारण है। वह इच्छा जब तक प्रतिकूल है अपना फल देने में विलंब की इच्छा है तब तक आवरण है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई वर्ण हो तथा हीनजाति म्लेच्छ, चांडाल, मलाह इत्यादिक हो सर्वधर्म से रहित हो उनकी फल देने की इच्छा हो तो ऐसे ही पुष्टिमार्ग में शरण आवे और फल का निश्चय पावे और जिसको फल देने में प्रतिकूल इच्छा है। वह इस पुष्टिमार्ग के धर्म से रहित हो उनको नहीं होता है। इस कारण प्रभु की इच्छा ही मुख्य है। वह वार्ता में प्रसिद्ध है कि अलीखां और अलीखां की बेटी भगवान् की इच्छा से चाचा हरिवंशजी द्वारा श्री गुसांईजी की शरण आये। इसलिये इस मार्ग में श्रीकृष्ण की इच्छा परम कारण है।

मूलं – तदावरणनाशस्तु दैन्यादेव हरौ कृतात् ।
स दीनेषु निजामिच्छामनुकूलां करोति हि ।।२।।

श्लोकार्थ – इस आवरण का नाश हरि में दैन्य करने से ही होता है क्योंकि वह भगवान् दीन में अपनी इच्छा (प्रतिकूल हो तब भी फिर) अनुकूल करता है।

व्याख्या – हरि से जब दीनता हो तब आवरण का नाश हो भगवान् का संबंधी हुआ उससे भगवत्सेवा में अंगीकार हुआ। दीनता कर, दासभाव हुआ तब प्रभु की इच्छा स्वयं ही अनुकूल हो। अब तो यह जीव मेरा ही हुआ इस कारण इसको छोड़ा नहीं जाता है। जब प्रभु अनुकूल हुए तब सब सिद्ध हो उसको आगे कहते हैं।

मूलं – तानुकूल्ये दासानां किं फलं दुर्लभं मतम् ।
कृपा च जायतेदीने लोकसिद्धिनिदर्शनात् ।।३।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – भगवान् की इच्छा अनुकूल हुई तब दासों को क्या फल दुर्लभ है। (कुछ नहीं) क्योंकि जो दीन पर कृपा कर ऐसे लोक में दिखता है। (इस कारण दीन हो तो प्रभु की कृपा हो)

व्याख्या – जब प्रभु की इच्छा अनुकूल हुई तब सारा फल सिद्ध हुआ इसमें संदेह नहीं है। इसलिये श्रीकृष्ण की कृपा का कारण एक दैन्य है। वह लौकिक में कहीं प्रसिद्ध दिखाई पड़ता है। कैसे भी वैरी हो, कैसा भी काम बिगाड़े परन्तु आकर शरण पड़े और कहे मैं तुम्हारा हूं, अब चाहो सो करो। तब उस पर कृपा ही करे, उसे मारा नहीं जा सकता है। वैसे अनेक जन्म से जीव भूला है वह श्री आचार्यजी द्वारा प्रभु को सर्व समर्पण कर दीन हो जावे और कहे कि मैं एक श्रीकृष्ण का ही दास हूं। इसलिये दीन होकर एक श्रीकृष्ण का ही मैं दास हूं तब प्रभु प्रसन्न होकर कृपा ही करते हैं। दीन हो एक श्रीकृष्ण के शरण की भावना रखे। श्रीभागवत के एकादश स्कंध में पिंगला का एक वाक्य है – **"संसार कूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् । ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः"** (संसार रूप कूप में गिरा और विषय से मूंद गये हैं नेत्र जिनके ऐसे और काल रूप सर्प ने निगल लिये हैं, ऐसे आत्मा को और अन्य की कौन रक्षा करने में समर्थ है) और पुरुरवा ने कहा है – **"पुंश्चल्यापहृतं चित्तं कोऽन्यो मोचयितं क्षमः । आत्मारामेश्वरमृते भगवंतमधोक्षजम्"** (पुंश्चली) (व्यभिचारणी) स्त्री ने हर लिया ऐसे चित्त को आत्माराम (योगी) के ईश्वर अधोक्षज भगवान् बिना और अन्य कौन छुड़ाने में समर्थ है। और व्यास जी कहते हैं **"घोरे कलियुगे प्राप्ते सर्वधर्मविवर्जिते । वासुदेवपरा मर्त्यास्ते कृतार्था न संशयः।।"** (सर्वधर्म से रहित घोर कलियुग प्राप्त हुआ उसमें भगवत्परायण मनुष्य कृतार्थ है संशय नहीं) इस भांति पिंगला पुरूरवादि और द्रौपदी, गजेन्द्र जो आर्त्तिकर शरण आये उन सभी का उद्धार प्रभु ने किया। इसलिये एक प्रभु के आश्रय से और दैन्य से ही प्रभु की कृपा होती है।

मूलं – **अतो दैन्यं हि मार्गेऽस्मिन् परमं साधनं मतम् ।**
अभिमानो मदश्चापि सततं तद्विरोधिनौ ।।४।।

बड़े शिक्षापत्र ३३

तौ विज्ञाय प्रयत्नेन परित्याज्यौ फलार्थिभिः ।
दौष्टय समस्तेंद्रियाणां साधनैरेव नाशयेत् ।।५।।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग में दैन्य ही परम साधन माना है। अभिमान और मद यह दोनों ही निरंतर दैन्य के विरोधी हैं। इनको जानकर पुष्टिमार्गीय फल के अर्थ वाले को यत्न करके त्याग करना योग्य है। समग्र इन्द्रियों की दुष्टता का साधन कर ही नाश करे

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में परम साधन एक दैन्य है। दैन्य भावना करणार्थ सर्व समर्पण है। जिसको दीनता सिद्ध हुई उनको इस पुष्टिमार्ग का फल सिद्ध ही हुआ। विज्ञप्ति में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"यादृशी तादृशी नाथ! त्वत्पादाब्जैककिंकरी । त्वद्वक्रं कथमप्याशु कुरु दृग्गोचरं मम"** (जैसी तैसी तुम्हारे चरण कमल की किंकरी (दासी) हूं, इसलिये अपनी जानकर मेरे नेत्र को आपके मुख का शीघ्र ही दर्शन कराओ) और श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है **"दैन्यं त्वत्तोष साधनम्"** इस भांति दैन्य सर्वोपरि साधन है। अभिमान और मद ये दोनों पुष्टिमार्ग के फल में विरोधी हैं। इसी कारण श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात्।"** स्वामी के आधीन हूं ऐसी भावना से सारा अभिमान छोड़ना जो स्वतंत्र हो वही अभिमान करे, दास का नहीं कर्त्तव्य है। स्वामी की आज्ञा मांग सारा कार्य कर्त्तव्य है। अभिमान से दासपना जाता रहता है। इसमें अभिमान बड़ा बाधक है। वैसे ही मद भी बाधक है। पुष्टिमार्ग में फल के विरोधी हैं। लौकिक सुख से सारे अलौकिक साधन का नाश होता है। इस कारण इन्द्रियां दुष्ट होती है। उनको अलौकिक में लगावे तब दुष्टता मिटती है। निरोधलक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"संसारावेशदुष्टानामिंद्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत् ।।"** (संसार में आवेश कर दुष्ट सब इन्द्रियों के हित के लिये अपने स्वामी श्रीकृष्ण की सर्ववस्तु है वह उनमें लगावे) इससे इन्द्रियों की दुष्टता निवृत्त होकर सारी इन्द्रियों की आसक्ति लौकिक में हो वह दुष्टता जानकर आसक्ति से वह दुष्टता मिटती है।

मूलं – **अथवाश्रयमात्रेण नाशयिष्यति मत्प्रभुः ।**
निजाचार्याश्रितानां तु दोषा वन्हिस्वरूपतः ।।६।।

बड़े शिक्षापत्र

संबंधमात्रतो भस्मीभवंति क्षणमात्रतः ।

श्लोकार्थ – उपर कहा कि इन्द्रियों की दुष्टता साधन करने से निवृत्त करे परन्तु वैसे नहीं हो सके तो अपने स्वामी का आश्रय दृढ़ करना। उस आश्रय मात्र से अपने स्वामी सर्वदोष का नाश करेगे। क्योंकि जो अपने श्री आचार्यजी के दृढ़ आश्रय वाले के दोष तो अग्नि स्वरूप से (श्री आचार्यजी अग्नि स्वरूप हैं इस कारण) संबंध मात्र से क्षणमात्र में भस्म हो जाते हैं।

व्याख्या – दृढ़ आश्रय रखना, अन्याश्रय से फल का नाश होता है। दामोदरदास संभर वाले की वार्त्ता में प्रसिद्ध है कि उसकी स्त्री ने रंचक अन्याश्रय किया जिससे म्लेच्छ पुत्र हुआ, ऐसा बाधक है। श्री गुसांईजी ने कहा है – **"अहं कुरंगी दृग्भंगिनांगी कृतोऽस्मि यत् । अन्यसंबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते।।"** अन्य संबंध का गंध भी हो तो गला कटे परन्तु प्रभु से अन्याश्रय सहा नहीं जाता है। श्री नंदरायजी अंबिका पूजन को गये वहां सुदर्शन सर्प नंदरायजी को निगल गया फिर प्रभु की शरण जाकर प्रार्थना की तब छूटे। इसलिये अन्याश्रय महाबाधक है। इसलिये श्री आचार्यजी के आश्रितों को अग्नि के संबंध से काष्ठ की तरह अग्नि रूप श्री आचार्यजी के संबंध से सारे दोष एक क्षण में भस्म हो जाते हैं।

मूलं – **अतः स्वाचार्यमात्रैकशरणैस्तत्पराश्रितैः ।।७।।**
तदग्रंथार्थावबोधार्थविहितातिप्रयत्नकैः ।
दुःसंगवर्जितैः संगसंप्राप्त्याशायुतैरपि ।।८।।
स्थेयं सेवापरैरन्याश्रमत्याग विचक्षणैः ।
कामलोभादिदोषैकपरित्यागेच्छुभि सदा ।।६।।

श्लोकार्थ – अपने श्री आचार्यजी के ही आश्रय वाले, इनके परायण भगवदीय के आश्रित, इनके ग्रंथ श्री सुबोधिनीजी, निबंध आदि के अर्थ जानने के लिये प्रयत्न करने वाले, दुःसंग से रहित, सत्संग की प्राप्ति की आशायुक्त, सेवामें चतुर, अन्याश्रय के त्याग में चतुर, काम लोभादि मुख्य दोष के त्याग की इच्छा वाले, ऐसे होकर सदा रहना।

व्याख्या – श्री आचार्यजी के चरणकमल का दृढ़ आश्रय करे, श्री आचार्यजी के चरण कमल के आश्रित भगवदीय जो उनका आश्रय करे पुष्टिमार्गीय ग्रंथ श्री आचार्यजी महाप्रभु,

बड़े शिक्षापत्र ३३

श्री गुसांईजी आदि के श्री सुबोधिनी जी, निबंध, विद्वन्मंडन, टिप्पणीजी, श्री सर्वोत्तमजी आदि ग्रंथ हैं, इनके भाव का बोध होने से आश्रय सिद्ध होता है। सर्वोत्तम स्तोत्र में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"कृष्णाधरामृतास्वाद सिद्धिरत्र न संशयः"** श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान निश्चय करता है इसमें संशय नहीं है। इसलिये सर्वोत्तम आदि सारे ग्रंथ का पाठ अवश्य कर्त्तव्य है। उसके करने से सर्व सुबोध होता है। दैन्य जब होता है तब आश्रय सिद्ध होता है। अब दुःसंग का त्याग करना सत्संग की प्राप्ति का यत्न करना। श्री भागवत के प्रथम स्कंध में शौनक ने कहा है – **"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"** (भगवान् के संगी भक्तों के लवमात्र के संग तुल्य न स्वर्ग की नहीं मोक्ष की तुलना करते हैं। तब मनुष्य का सुख तो क्या) इस भांति सत्संग तुल्य और सुख नहीं है। इसलिये सत्संग करे तो सर्वसिद्ध हो। श्रीकृष्ण की सेवा में स्थित रहे क्योंकि जो इस पुष्टिमार्ग में परम फलरूप भगवत्सेवाही है। सेवासमान और कुछ नहीं है। श्री भागवत के नवम स्कंध में श्री भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है – **"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टम् । नेच्छंति सेवाया पूर्णाः कुतोऽन्यत्काल विप्लुतम्"** (मेरी सेवा से साक्षात्कार हो ऐसे सालोक्यादि चतुर्विध मोक्ष को भी मेरे भक्त नहीं चाहते हैं। क्योंकि जो सेवा करके पूर्ण हैं काल से जिनका नाश हो उसकी इच्छा नहीं रखते हैं उसमें क्या कहना)। ऐसे भगवदीय सेवा में पूर्ण है जो चतुर्विध मुक्ति पर्यन्त नहीं चाहते हैं। इस भांति श्रीकृष्ण की सेवा में स्थित हो, और अन्याश्रय नहीं करे देवतादिक का (द्रव्यादिक के लिये) रंचक भी आश्रय हो तो फल का नाश हो (इसलिये अन्याश्रय छोड़ने में विचक्षण रहना) कामादि विषय का तथा लोभ का त्याग करे क्योंकि जो कामादि विषय में तत्पर रहने से श्री ठाकुरजी का आवेश हृदय में नहीं होता है। हृदय में से पधारे और लोभ से संसारासक्ति हो, पाप पुण्य का विचार नहीं रहे, केवल अपने स्वार्थ के ही वश हो ऐसे लोभी तथा कामी के हृदय में प्रभु नहीं आते हैं। इसलिये काम तथा लोभ का सदा त्याग करे तब फलरूप दैन्य सिद्ध होता है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३३।।

बड़े शिक्षापत्र

बड़े शिक्षापत्र ३४

अब ३४वें शिक्षापत्र में श्रीकृष्ण सदासेख्य हैं। यही फल है। उसमें मुखारविंद की भक्ति से प्रभु स्वयं ही प्राप्त होते हैं और चरणारविंद की भक्ति से धर्म द्वारा धर्म विशिष्ट प्रभु प्राप्त होते हैं। चरणात्मक भक्ति से सायुज्य फल होता है और मुखारविंद की भक्ति से श्री भगवान् के अधरामृत सेवन रूप फल होता है। इस भांति पुष्टिभक्ति की अवस्था और साधन का निरूपण तथा सर्वात्म भाव का निरूपण है। जैसे मंत्रशास्त्र में मंत्र के बीज बिना कुछ कार्यसिद्ध नहीं होता है। वैसे इस पुष्टिमार्ग में दैन्य बिना कुछ सिद्ध नहीं होता है। पुष्टिमार्ग की प्राप्ति तो श्रीमदाचार्यजी के चरणारविंद की कृपा से होती है। इसलिये इनका ही आश्रय करना यह निरूपण है। उपर ग्रंथ के बोध से, सत्संग से और सेवा से दैन्य सिद्ध हो, ऐसा निरूपण किया है। सेवा के दो प्रकार हैं। एक मुखारविंद की सेवा की भक्ति सर्वोपरि है। एक चरण कमल की भक्ति है। दोनों प्रकार की भक्ति के प्रकार को कहते हैं।

मूलं – श्रीकृष्णः सर्वदा सेव्यः फलं प्राप्यं स्वतस्तु सः ।
मुखारविंदभक्त्यैव साक्षात्सेवैकरूपया ।।१।।

श्लोकार्थ – साक्षात् सेवारुप मुखारविंद की भक्ति है। उससे ही स्वतः प्राप्य फल यह श्रीकृष्ण है, वह सर्वदा सेव्य है।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि इस पुष्टिमार्ग में तो सदा सर्वदा श्रीकृष्ण ही सेव्य हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने चतुःश्लोकी ग्रंथ में कहा है – **"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन।।"** (सर्वदा सर्वभाव से व्रज के अधिपति श्रीकृष्ण ही की सेवा कर्त्तव्य है, हमारा यह धर्म है और नहीं) और हमारे पुष्टिमार्ग में जो कोई स्थित है उनका भी यही धर्म है। श्रीकृष्ण की सेवा ही कर्त्तव्य है। दूसरे काल में अन्य साधन नहीं कर्त्तव्य है। उसको करके पुष्टिमार्ग के फल की प्राप्ति स्वतः (आप ही से) सिद्ध होती है। क्योंकि जो मुखारविंद की भक्ति है वह साक्षात् स्वरूप सेवा से सिद्ध होती है। जिसमें दर्शन, स्पर्श, सर्वांग सुख का अनुभव है। इसलिये स्वरूप सेवा में साक्षात्कार है। यह मुखारविंद भक्ति कही है वह सर्वोपरि है।

बड़े शिक्षापत्र ३४

मूलं – चरणात्मकभक्तया तु धर्मसेवात्मरुपया ।
धर्मद्वारातद्विशिष्टः प्रभुः प्राप्यो न संशयः ।।२।।

श्लोकार्थ – धर्म सेवा स्वरूप चरणात्मक भक्ति कर धर्म विशिष्ट प्रभु प्राप्त हो, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या – चरणात्मक भक्ति धर्म सेवा रूप है, जैसे पहले ब्रह्मा, शिव, नारद सनकादिक सब कर आये हैं। उसी भांति मर्यादा संयुक्त धर्मवत् करनी यह धर्म द्वारा भक्ति है। उसको करने से प्रभु की प्राप्ति है, इसमें संशय नहीं है। वहां कोई संदेह करे कि उपर मुखारविंद की भक्ति कही फिर धर्म सेवात्मक चरणारविंद की भक्ति कही दोनों से प्रभु की प्राप्ति बताई तब दोनों एक ही हुई। तब श्री आचार्यजी महाप्रभु प्रकट हो मुखारविंद की भक्ति में अधिकता क्या बताई ? इस प्रकार कोई संदेह करे वहां आगे कहते हैं।

मूलं – तत्र सायुज्यसंबंधो न लोभामृतसेवनम् ।
मुखारविंदभक्तौ तु साक्षात् तत्सेवनं मतम् ।।३।।

श्लोकार्थ – चरणारविंद की भक्ति में सायुज्य संबंध है। लोभात्मक अधरामृत (भगवत्प्रसाद) का सेवन नहीं और मुखारविंद की भक्ति में तो साक्षात् इनका सेवन है।

व्याख्या – मुखारविंद की भक्ति (पुष्टिभक्ति) में और चरणाविंद की भक्ति (मर्यादा भक्ति) में फल बहुत भेद हैं, वह कहते हैं। चरणात्मक मर्यादाभक्ति से सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति है। उसमें लोभामृत का सेवन नहीं है और मुखारविंद की भक्ति है। वह तो प्रभु की साक्षात्सेवा रूप है। वहां साक्षात् प्रभु के स्वरूपानंद का अनुभव है। इसलिये मुखारविंद पुष्टिभक्ति सर्वोपरि है और धर्मरूप चरणात्मक मर्यादाभक्ति है। ऐसे दोनों में बड़ा तारतम्य है इससे अलग अलग कही हैं।

मूलं – एतादृक्फलिका भक्तिर्भवेत्केवलपुष्टितः ।
तत्रापि मुखरुपास्मदाचार्यानुग्रहात् पुनः ।।४।।

श्लोकार्थ – लोभात्मक अधरामृत के सेवन रुप फल सिद्ध करने वाली भक्ति, केवल पुष्टि से होती है उसमें भी फिर (श्रीकृष्ण के) मुखारविंद रूप अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु के अनुग्रह से होती है।

व्याख्या – जिसमें अधरामृत की प्राप्ति है। ऐसी भक्ति तो मुखारविंद रूप पुष्टिभक्ति है। वह मुखारविंद रूप श्री आचार्यजी महाप्रभु है। इसलिये मुखारविंद की भक्ति हमारे श्री आचार्यजी महाप्रभु के अनुग्रह से सिद्ध होती है। क्योंकि जो मुखारविंद की भक्ति श्री स्वामिनीजी की है। वह स्वामिनीजी के विप्रयोग भावात्मक पुष्टिभक्ति श्री वल्लभाचार्यजी ने ही प्रकट की है। इसलिये श्री आचार्यजी जब अनुग्रह कर इस मुखारविंद की भक्ति का दान करे तब सिद्ध होती है।

मूलं – अत एतद्भक्तिमद्भिः श्रीमदाचार्य संश्रयः ।
प्रथमं सर्वथा कार्यस्ततएवाखिलं भवेत् ।।५।।

श्लोकार्थ – इसलिये इस (मुखारविंद की) भक्ति वालों को प्रथम श्रीमदाचार्यजी का आश्रय सदा कर्त्तव्य है। उसको करके ही समग्र सिद्ध होता है।

व्याख्या – ऐसी इस मुखारविंद की भक्ति का साधन एक श्री आचार्यजी का आश्रय ही है। इसलिये प्रथम सर्वथा यही कार्य कर्त्तव्य है। जो श्री आचार्यजी की शरण आकर नाम निवेदन कर पीछे अपने मन में दृढ़ श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय करे ऐसे वैष्णव का अखिल कार्य सिद्ध होता है। इसमें संशय नहीं है। इसलिये मुखारविंद की भक्ति में एक श्री आचार्यजी का आश्रय ही साधन है और कोई साधन नहीं है।

मूलं – अतः परं तु तद्भक्तेरवस्थासाधनादिकम् ।
निरुप्यते स्वतोषाय तत्कृपातो हृदि स्थितम् ।।६।।

श्लोकार्थ – उपर जो दो भक्ति का निरूपण किया है उसके पीछे इस भक्ति की अवस्था और साधनादिक इनकी कृपा से हृदय में स्थित है। वह अपने तथा अपने भगवदियों के संतोष के लिये निरूपण करते हैं।

व्याख्या – उपर चरणात्मक भक्ति तथा मुखारविंद रूप भक्ति का निरुपण किया है। उसमें पुष्टि भक्ति में केवल श्री आचार्यजी का आश्रय बताया है। उसके पीछे इनके साधनादिक कर्त्तव्य है। वे अपने मन में संतोषार्थ तथा अपने तदीय (पुष्टिमार्गीय) के संतोषार्थ जो हमको श्री आचार्यजी महाप्रभु ने दान दिया है और इनकी कृपा से जो हृदय में स्थिर रहा है उसका निरुपण करते हैं।

मूलं – यथा मर्यादया भक्तौ ब्रह्मभावस्तु साधनम् ।
तथा सर्वात्मभावोऽत्र साधनत्वेन बुद्धयताम् ।।७।।

श्लोकार्थ – जैसे मर्यादाभक्ति में ब्रह्मभाव है वह साधन है। वैसे इस पुष्टिमार्गीय भक्ति में सर्वात्म भाव है वह साधनपने से जानना चाहिए।

व्याख्या – जैसे मर्यादा भक्ति में ब्रह्म भाव है वही साधन है। सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय है। अपने को ही ब्रह्म मानता है। यह ब्रह्म सब ठोर है। इस भांति ब्रह्मभाव (अक्षर ब्रह्म का ज्ञान) मर्यादाभक्ति का साधन है। वैसे ही इस पुष्टिमार्ग में सर्वात्म भाव यहां साधन है। यह बुद्धि से निश्चय जानना।

मूलं – वस्तुतस्तु फलं चैव फलं स्यात्तत्प्रवेशतः ।
तत्स्वरूपं तु सर्वेषा देहांतः करणात्मनाम् ।।८।।
येन भावेन भगवत्यात्मभावो हि जायते ।
यस्माद्भावात्स्वदेहादि सकलंस्यात्तदर्थकम् ।।९।।

श्लोकार्थ – वस्तु से तो यह सर्वात्म भाव फलरूप ही है क्योंकि जो सर्वात्म भाव का भीतर प्रवेश हो तब फल सिद्ध हो, उसका स्वरूप तो देह अंतःकरण, आत्मा, सर्व के जो भाव कर भगवान् के आत्मभाव का निश्चय हो उस भाव से अपने देहादिक समग्र भगवदर्थ होता है।

व्याख्या – मर्यादामार्ग में जैसे वस्तु से अक्षर ब्रह्म रूप फल है जिसमें प्रवेश हो, फिर माया के गुण में नहीं आवे वैसे पुष्टिमार्गीय का प्रभु की लीला रूप फल में प्रवेश है। वहां स्वरूपात्मक रस का अनुभव है। नेत्र से दर्शन, अंतःकरण से प्रभु की लीला का अनुभव, सर्व इंद्रिय मन प्राण सर्व की प्रभु में तत्परता, जैसे ब्रह्मसंबंध के गद्यार्थ में कहा है इस प्रकार मुख्य फल का अनुभव पुष्टिमार्गीय भक्तों के हो इस प्रकार मर्यादा और पुष्टि के पृथक् पृथक् फल कहे हैं। उसमें पुष्टिभक्ति सर्वोपरि है। उपर कहा उस भांति भाव जो भगवान् में बढ़े वह उपाय करते रहना। प्रभु में भाव हुआ यह कब जानना ? जब देहादि, इंद्रिय, मन सब प्रभु के अर्थ लगे। तन, मन, धन तीनों प्रभु में लगे तब देहादिक सब की क्रिया भगवदर्थ हो वह तनुजा वित्तजा दोनों प्रकार की सेवा से सिद्ध होती है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – न देहाद्यर्थसिद्ध्यर्थं भगवान्प्यपेक्षते ।
यतो देहादिरक्षापि प्रभुलीलौपयोगतः ।।१०।।
न स्वार्थबुद्धया स्वार्थोऽपि भगवानेव यत्र हि ।
येन भावेनानिमित्ता प्रीतिर्भवति वै हरौ ।।११।।

श्लोकार्थ – देहादिक अर्थ की सिद्धि के लिये भगवान् की अपेक्षा नहीं रखते हैं जिससे देहादिक की रक्षा भी प्रभु की लीला में उपयुक्त होने में है। स्वार्थ बुद्धि से नहीं है। जहां स्वार्थ भी भगवान् ही है। जिस भाव को करके निश्चय निष्कारण प्रीति होती है।

व्याख्या – यह भगवत्सेवा भी देहादिक की सिद्धि के अर्थ तथा देह संबंधी कुटुम्ब, द्रव्यादिक की कामना के अर्थ नहीं करे अपना भोगसुख कुछ भी नहीं विचारे। केवल भगवान् की ही अपेक्षा रखे जो प्रभु किस प्रकार सुख पावेंगे ? अपराध से प्रभु को कुछ दुःख नहीं हो। इस भांति प्रभु के सुख का विचार करे तथा भगवान् के दर्शन की, स्वरूपानंद के अनुभव की अपेक्षा रखे। देहादिक के भोग सुख का विचार नहीं करे महाप्रसाद ले उसमें भी यह भाव रखे कि प्रभु की सेवा में सामर्थ्य हो। इंद्रियादिक शिथिल नहीं हो जाय। जैसे श्री गुसांईजी परदेश पधारते तब विप्रयोग कर कृश होते और तब परदेश से श्रीजी द्वार पधारते तब बहुत प्रीति सहित सुंदर महाप्रसाद लेते और वह इस भाव से लेते कि श्री गोवर्द्धननाथजी हमको कृश देखेंगे, उनके मन में दुःख होगा। वह अच्छा नहीं है। प्रभु हमको देख सुख पावे तो अच्छा है। इसलिये अच्छी भांति रहना। इसी भाव से व्रजभक्तों ने भी अपने देह की रक्षा की है। उसमें अपने सुख का विचार नहीं किया है। इस भांति देहादिक की रक्षा प्रभु सेवार्थ विचार कर करे कुछ लौकिक वैदिक फल सिद्ध होगा तथा प्रभु की सेवा से कृतार्थ होऊंगा। यह स्वार्थबुद्धि से भगवत्सेवा नहीं करे क्योंकि जो भगवान् बिना विचारे ही निजेच्छा से सर्वकार्य सिद्ध करेगे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति"** (प्रभु सर्व के ईश्वर हैं सर्व के आत्मा है। (इसलिये सर्व जानते हैं) अपनी इच्छा से ही दास के सकल मनोरथ सिद्ध करेगे) इसलिये प्रभु की सेवा में अपनी स्वार्थ बुद्धि नहीं करे और गौण भाव से क्रियावत भी नहीं करे भावसंयुक्त प्रीति से करे क्योंकि जो भगवान् में एक प्रीति ही से रखे वह प्रिय लगता है। जैसे पद्मनाभदासजी

के छोला प्रीति से ही अरोगे। इसलिये सेवा प्रीति से करे

मूलं – **न फलकांक्षणं यत्र लौकिकानां यथा धने ।**
तद्भावे यथा लोका दुःखेनासूंस्त्यजंति हि ।।१२।।

श्लोकार्थ – जहां फल की इच्छा नहीं है जैसे लौकिकों की धन से प्रीति है। वहां धन का नाश होता है। जैसे दुःख से प्राणों को छोड़ता है। वैसे प्रभु की सेवा में प्रीति रखे और सेवा के अभाव में प्राणत्याग समान दुःख करे

व्याख्या – प्रभु की सेवा कर फल की कुछ भी आकांक्षा नहीं करे क्योंकि जो फल की कामना रखे तो पुष्टिमार्गीय मुख्य फल का नाश होता है। इस कारण कामना भाव में बाधक है। यह जानकर फलाकांक्षा नहीं करे लौकिक में धन मुख्य है। धन के लिये सुख दुःख सहता है। प्राण त्याग करता है। ऐसी धन में प्रीति है, वैसे ही सेवा में रखे।

मूलं – **सर्वत्यागस्तु सहजो यत्र लौकिकवेदयोः ।**
नैरपेक्ष्यं स भावस्तु सर्वभावो निगद्यते ।।१३।।

श्लोकार्थ – जिसमें लौकिक वैदिक का सर्व त्याग सहज हो और निरपेक्षता हो वह भाव सर्वभाव कहा जाता है।

व्याख्या – श्री भगवान् में सहज प्रीति कर सर्व त्याग सहज ही में कर लौकिक वैदिक कुछ नहीं चाहे। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने चतुःश्लोकी में कहा है – **"यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि। ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि"** (जिसने सर्वात्म भाव से श्री गोकुलाधीश को हृदय में धारण किया है इसलिये (अधिक) दूसरा लौकिक तथा वैदिक कर के कहा है वह क्या) इस भांति सर्व के आत्म श्रीकृष्ण है, उन्हीं को हृदय में धारण कर सेवा कर एक प्रभु ही में मन रखे।

मूलं – **तथात्र दैन्यमेवेकं मार्गे न श्रवणादिकम् ।**
दैन्यनैव च संतुष्टः प्रादुर्भूतः फलं ददौ ।।१४।।

श्लोकार्थ – (जैसे सर्वात्म भाव रखना) वैसे इस मार्ग में दैन्य ही एक (मुख्य) है। श्रवणादिक (साधन बल) मुख्य नहीं है। दैन्य करके ही (व्रजभक्तों को) प्रसन्न हुए प्रभु ने प्रकट होकर फल दिया।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में एक दैन्य ही साधन है। उससे अभिमान मिटता है। दोष निवृत्त होते हैं। जहां दैन्य सिद्ध हुआ वहां श्री ठाकुरजी प्रकट होकर दर्शन देते हैं। जैसे रास पंचाध्यायी में व्रज भक्तों ने गुणगान कर निःसाधन हो दीन रुदन किया तब प्रभु तत्काल पधारे। इसलिये जहां तक श्रवणादिक साधन का बल मन में हो वहां तक दैन्य नहीं आता है। साधन का बल मिटने पर दैन्य आता है। तब प्रभु संतुष्ट हो प्रकट होकर स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं।

मूलं – तदेवात्र हि संसेव्यं येन दैन्यं प्रसिद्धयति ।
यदैन्यनाशकं तद्धि विरोधि सकलं मतम् ।।१५।।

श्लोकार्थ – जिससे दैन्य सिद्धि होती है इसलिये यह मार्ग अच्छी रीति से ही ग्रहण करने योग्य है। जो दैन्य का नाश करने वाला है उन सबको विरोधी जानना चाहिए।

व्याख्या – दैन्य बिना फल सिद्धि नहीं होती है। जिस साधन से दैन्य हो वही करे दैन्य का नाश करे वह सर्व पुष्टिमार्ग में विरोधी जानना। कैसा भी साधन हो परन्तु दैन्य का नाश करे ऐसा हो वह सर्वथा नहीं करना। यह कहकर यह जताया है कि पुष्टिमार्ग बिना अन्य मार्ग की जितनी क्रिया साधन है वे सब पुष्टिमार्ग के फल के विरोधी हैं। यह निश्चय मन में जान अन्य मार्ग की क्रिया नहीं कर्त्तव्य है।

मूलं – एतन्मार्गांगीकृतौ हि हरिर्दैन्यं विवर्द्धयेत् ।
मदादिजनकंदुष्टंनाशयत्यपि (नाशयित्वापि) लौकिकम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – इस मार्ग में अंगीकार हो तब हरि निश्चय ही दैन्य वृद्धि करते हैं। मदादिक की उत्पत्ति करने वाला दुष्ट जो लौकिक है उनका भी नाश करता है अथवा मदादिक को उत्पन्न करने वाला जो दुष्ट लौकिक उनका नाश करने को ही इस मार्ग में अंगीकार हो तो हरि निश्चय ही दैन्य वृद्धि करते हैं।

व्याख्या – एतन्मार्गीय जो भक्त इस पुष्टिमार्ग में श्री आचार्यजी द्वारा शरण आये हैं, उन भक्तों का दैन्य बढ़ाते हैं और मद (अभिमान) अपने मन में हो वह दुष्ट लौकिक बढ़ाने वाला है। फल में प्रतिबंधक है। उसका नाश करते हैं। रास पंचाध्यायी में प्रसिद्ध है कि भगवान्

ने वेणुनाद कर व्रजभक्तों को बुलाकर रास किया। तब व्रजभक्तों को मद हुआ तब भगवान् अंतर्धान हुए। पीछे जब अत्यन्त दैन्य हुआ तब प्रकट हुए। वैसे ही इस पुष्टिमार्ग में भगवान् दैन्य सिद्ध करते हैं। मद का नाश करते हैं। अपने जन का दैन्य बढ़ाते है। मद को दूर करते हैं। जहां जहां लौकिक में आसक्ति है। वह सब ठोर से छुड़ा कर दैन्य सिद्ध करते हैं। पीछे कृपा करते हैं।

मूलं – **स्वांगीकृतेर्हि निर्वाहः प्रभुणैवः विधीयते ।**
जीवाः स्वभावदृष्टाः हि प्रचलेयुः कथं तथा ।।१७।।
अतो दंडप्रदानेन पितेवाचरति प्रभुः ।
दंडोऽप्यनुग्रहत्वेन मंतव्यस्तु तदाश्रितैः ।।१८।।

श्लोकार्थ – जिनको प्रभु ने अंगीकार किया है। उनका निर्वाह प्रभु ही से होता है। जीव स्वभाव से दुष्ट है। वह कैसे चले। इसलिये पिता की तरह दंड प्रदान कर प्रभु हित करते हैं। इस कारण इनके आश्रय वालों को दंड हो तब भी अनुग्रह मानना।

व्याख्या – अपने अंगीकृत जीवों का निर्वाह प्रभु स्वयं ही करते हैं। परन्तु जीव यह नहीं जानता है। क्योंकि जो स्वभाव से दुष्ट है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने बाल बोध में लिखा है – **"जीवाः स्वभावतो दुष्टाः"** (जीव स्वभाव से दुष्ट है) श्री ठाकुरजी अपने अंगीकृत जीवों का निर्वाह आगे से करते आये हैं, करते हैं और करेगे। जीव को तो एक क्षण में दुःसंग लगे तो नाश कर देते हैं। मन एक क्षण में ओर का हो जाता है। प्रभु निर्वाह करे तब होता है। जैसे अज्ञानी बालक की रक्षा माता–पिता करते हैं। अग्नि जलादिक से बचाते हैं। वैसे ही अंगीकृत भक्तों के भूल पड़ने पर (जिसमें अपना अनिष्ट हो वह जीव नहीं जानता है। परन्तु प्रभु दंड देते हैं। फिर वह काम नहीं करे जैसे नंदरायजी अंबिका पूजन को गये वैसे ही जीव स्वभाव से कुछ अपराध बने तो) प्रभु दंड देते हैं। इस कारण दुःख में भगवदीय अपने मन में अनुग्रह मान प्रभु का आश्रय नहीं छोड़े। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"दंड स्वकीयतां मत्वेत्येवं चोदिष्टमेव नः । अस्मासु स्वीयतां मत्वा यत्र कुत्र यदा कदा"** (आप अपने मानकर दंड देते हैं, ऐसा होता है तो हमारा प्रिय ही है। क्योंकि जो जहां तहां जब तब आप हम को अपना मानकर दंड दोगे) श्री गुसांईजी कहते हैं कि

हमको अपने जान दंड दें उसमें हम सुखी हैं। जहां तहां जब भूल पड़े सुखेन दंड दे इत्यादिक वचन से प्रभु पिता की तरह अपने जन को दंड देते हैं। तब दुःख हो उसको अनुग्रह जान श्री महाप्रभु का आश्रय नहीं छोड़े।

मूलं – दंडदानं स्वकीयेषु परकीयेह्युपेक्षणम् ।
आर्त्तिरेवात्र सततं भाव्या कृष्णपरोक्षतः ।।१६।।

श्लोकार्थ – प्रभु अपने जन को दण्ड देते हैं और परकीय (ओरों के आश्रित) जीव हो उसकी उपेक्षा करते हैं। (जैसे लौकिक में भी अपना हो उसकी रक्षा करते हैं और पराया हो उसकी उपेक्षा करते हैं) इसलिये यहां श्रीकृष्ण परोक्ष हैं इस कारण निरंतर आर्त्ति ही कर्त्तव्य है।

व्याख्या – जिसको प्रभु अपना करते हैं उनको ही दण्ड देते हैं और जो संसारासक्त प्रवाही सृष्टि है उनकी उपेक्षा करते हैं। दण्ड नहीं देते हैं। लौकिक देकर लौकिक में ही आसक्ति कराते हैं। रास पंचाध्यायी में आर्त्ति के लिये प्रभु अंतर्धान हुए वैसे यहां पुष्टिमार्ग में टेरा प्रभु में आर्त्ति बढ़ाने के अर्थ हैं। वहां स्वरूपानंद का अनुभव नहीं कराते हैं। आर्त्ति देखते हैं तो कराते हैं। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को आर्त्ति अवश्य करनी है।

मूलं – अत्र भक्तार्त्तिदृष्टयैव मुदितो हि हरिर्भवेत् ।
संगो भाववतामेव भाववृद्धिर्यतो भवेत् ।।२०।।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग में प्रभु भक्तों की आर्त्तियुक्त दृष्टि करके ही प्रसन्न होते हैं। इसलिये भाव वाले भगवदियों का ही संग करना जिससे भाव की वृद्धि हो।

व्याख्या – ज्यों ज्यों भक्त आर्त्ति क्लेश करता है त्यों त्यों भगवान् उस भक्त को देखकर प्रसन्न होते हैं। इसलिये सत्संग भगवदियों का हो तो शीघ्र ही भाव की वृद्धि हो। इसके लिये सत्संग का यत्न करना।

मूलं – व्याघ्रस्याग्रे यथा देही तथा दुःसंगतो बिभेत् ।
दुःसंग एव भावस्य नाशकः सर्वथा मतः ।।२१।।

श्लोकार्थ – जैसे बाघ के समीप देही भय को पाता है, वैसे दुःसंग से मद पाता है। क्योंकि जो दुःसंग ही सर्वथा भाव का नाश करने वाला माना गया है।

व्याख्या – जैसे बाघ के आगे शरीर का नाश ही होता है वैसे ही दुःसंग भगवद् भाव का नाशक है। इसलिये जैसे बाघ से डरकर चले वैसे अपने भगवद् भाव की भी रक्षा करे तब भाव रहे।

मूलं – दुःसंगतश्च्युताः सर्वे श्रुता हि भरतादयः ।
दुःसंगान्नजदोषाभ्यामभूद्भीष्मो बहिर्मुखः ।।२२।।

श्लोकार्थ – दुःसंग से ही भरतादिक गिरे हैं यह हमने सुना है। दुःसंग और अन्न दोष से भीष्म बहिर्मुख हुए (अर्थात् श्री ठाकुरजी के संग लड़ने को तैयार हुए)

व्याख्या – अनेक जीव दुःसंग करके भगवद् धर्म से गिरे हैं। जिसका श्री भागवत में वर्णन है। भरत को मृग के दुःसंग से तीन जन्म का अंतराय हुआ और भीष्म पितामह बड़े भगवदीय थे किन्तु दुर्योधन का दुष्ट अन्न खाया उस दोष से श्री भगवान् के संग लड़ने को खड़े हुए, इसलिये यह दुःसंग दोष से जीव निश्चय ही श्री भगवान् से बहिर्मुख हो जाता है। इसलिये ऐसे भगवदीय गिरे हैं तो आधुनिक जीवों की कितनीक बात है।

मूलं – लौकिकाभिनिवेशात्तु मनोनिष्कासनं सदा ।
अलौकिकस्तु तद्भावस्तेनापि च विनश्यति ।।२३।।

श्लोकार्थ – लौकिक आवेश से तो सदा मन को निकालना। अलौकिक भाव तो लौकिकावेश से मिट जाता है।

व्याख्या – जहां जहां लौकिक में मन लग रहा है वहां सारा दुःसंग जानना। इसलिये लौकिकाभिनिवेश जहां जहां हो और जिसके संग से हो उस सबका त्याग करना। जहां जिस वस्तु में लौकिकाभिनिवेश हो वहां भगवद् भाव जाता रहता है। सब लौकिक से भगवद् भाव की रक्षा क्षण–क्षण में करता रहे तब भाव रहता है।

मूलं – **वैराग्यपरितोषौ च हृदि भाव्यौ निरंतरम् ।**
तदभ्यासात्तु मनसः कदाचिन्निर्गतिस्ततः ।।२४।।

श्लोकार्थ – वैराग्य और संतोष निरंतर हृदय में रखे। इनके अभ्यास से तो लौकिकाभिनिवेश से किसी दिन मन निकलेगा।

व्याख्या – दुसंग दोष के नाश के अर्थ वैराग्य और संतोष ये दोनों निरंतर हृदय में धारण करने, सर्व लौकिक विषय देह संबंधी पदार्थ में वैराग्य रखे और सहज में जो आकर प्राप्त हो उसी में मन का संतोष कर रहे। यह अभ्यास जब रखे तब दुःसंग से बचे।

मूलं – **कामाभावाय वैराग्यं चिंत्यं चेतसि सर्वथा ।**
परितोषस्त्वलोभाय भक्तौ तावेव बाधकौ ।।२५।।

श्लोकार्थ – काम के अभाव के अर्थ चित्त में निश्चय वैराग्य का चिंतन करना और संतोष तो लोभ के अभाव के अर्थ में रखना। क्योंकि जो भक्ति में यह दोनों ही बाधक हैं।

व्याख्या – मन में दृढ़ वैराग्य हो तो उसके करने से कामादिक विषय का अभाव (नाश) होता है और संतोष से लोभ का नाश होता है। ये दोनों दोष भक्तिमार्ग में भगवद् भाव के बाधक हैं। इसलिये काम और लोभ के त्यागार्थ वैराग्य और संतोष रखना।

मूलं – **कामेनेंद्रियवैमुख्यं लोभे पाखंड संभवः ।**
क्रोधस्तु मध्यपातित्वान्महाबाधक ईष्यते ।।२६।।

श्लोकार्थ – काम से इंद्रियों की विमुखता होती है। लोभ में पाखंड संभव है (अर्थात् जिसको लोभ हो वह द्रव्यादिक के लिये अनेक पाखण्ड करता है) और क्रोध से (काम, क्रोध, लोभ यह तीन) बीच में रहने वाला है। इसलिये महाबाधक है।

व्याख्या – काम के प्रकट होने से विषयादिक करने से सारी इंद्रियां श्री भगवान् से तथा भगवद् धर्म से बहिर्मुख हो जाती है। इंद्रियों को विषयावेश होता है और लोभ हृदय में हो तो उससे पाखंड प्रकट होता है। संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है –

बड़े शिक्षापत्र ३४

"स्वयं च विषयाक्रांतः पाखंडी स्यातु कालतः" (आप विषयाक्रांत और पाखंडी काल से होता है) इत्यादि वचन से काम और लोभ बाधक है। उसमें मध्यपाती क्रोध है। कामादिक नहीं मिले तब क्रोध होता है। वैसे ही लोभ का अर्थ सिद्ध नहीं हो तब क्रोध उपजता है। उससे क्रोध प्रकट होने का कारण काम और लोभ है। क्रोध करने के पीछे मोह होता है इत्यादिक दोष प्रकट होते हैं। तब अष्टप्रहर लौकिकावेश, लौकिक का ध्यान हृदय में रहे उससे दैन्य का नाश होता है।

मूलं – यतो मार्गीयसर्वस्वदैन्यभावविनाशकः ।
दैन्य सर्वेषु कार्येषु कृष्णसेवाकथादिषु ।।२७।।
बीजं यथा मंत्रशास्त्रते तद्युक्तमखिलं भवेत् ।
तदभावे न सेवादिसकलं पुष्टिसाधकम् ।।२८।।

श्लोकार्थ – जिससे (क्रोध) पुष्टिमार्ग के सर्वस्वरूप दैन्य का नाश करने वाला है। (इस कारण महाबाधक है ऐसे पूर्व श्लोक से संबंध है) श्रीकृष्ण की सेवा और कथादिक सर्वकार्य में दैन्य बीज है। जैसे मंत्रशास्त्र में बीजयुक्त मंत्र फल देने वाला होता है। वैसे इस पुष्टिमार्ग में सेवादिक सब दैन्य युक्त हो तो फल देने वाला होता है। दैन्य का अभाव हो तो सेवादिक सब पुष्टि (भगवदनुग्रह) को सिद्ध करने वाला नहीं होता है।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में सर्वस्व दैन्यभाव है। उसका नाशक क्रोध है। इसलिये उसका त्याग निश्चय ही करना और सर्वकार्य में दैन्य रखना। उस दैन्य का उपाय कहते हैं। श्रीकृष्ण की तनुजा वित्तजा सेवा प्रीति से करना और श्रीकृष्ण की कथा (श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रंथ) सुना करे इस सेवा कथा का नियम नित्य प्रति रखे तो हृदय में दैन्य रहे। जैसे मंत्र का मूल बीज है। मंत्रशास्त्र में कहा है कि जो बीज सहित मंत्र से अखिल सिद्धि होती है। वैसे ही सेवा में दैन्य भाव है, वह पुष्टिमार्ग का साधन है। दैन्य भाव सहित सेवा करे तो पुष्टिमार्ग का अखिल फल सिद्ध होता है।

मूलं – तस्माद्रक्षेत्प्रयत्नेन दैन्यं भक्तियुतोनरः ।
दैन्येन गोपिकाः सिद्धाः कौंडिन्योऽपि परोक्षतः ।।२९।।

श्लोकार्थ – इसलिये भक्तियुक्त नर (जीव) प्रयत्न करके दैन्य को रखे क्योंकि गोपीजन भी दैन्य करके सिद्ध हुए हैं ओर कौंडिन्यऋषि भी परोक्ष से सिद्ध हुए हैं।

व्याख्या – वैष्णव यत्न करके अपने दैन्य की रखा करे यह पुष्टिमार्गीय भगवदियों को उचित है। वहां दृष्टांत कहते हैं – जो दैन्य कर गोपीजनो को सिद्धि प्राप्त हुई प्रभु मिले और दैन्यकर कौंडिन्य ब्राह्मण अनंत! अनंत! रटते रहे उससे उनको सिद्धि हुई। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"कौंडिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् । भावोभावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।"** (कौंडिन्य ऋषि और गोपीजन भक्तिमार्ग के गुरु हैं और साधन उनने किया। उसी भावना से भाव सिद्ध होता है और साधन नहीं है) इसलिये पुष्टिमार्ग के गुरु गोपीजन और मर्यादा मार्ग के गुरु कौंडिन्य ब्राह्मण है। इनके प्रकार से भाव विचार दैन्य भक्ति के भाव में कारण है। ऐसा जानना।

मूलं – **फलमत्र हरेर्भावो विरहात्मा सदा मतः ।**
रसात्मकत्वात्तद्रूपे सर्वलीला समन्वितः ।।३०।।

स्वरूपे तस्य सततं साक्षात्कारो विशेषतः ।
युगपत् सर्वलीलानाममनुभूतिः प्रजायते ।।३१।।

श्लोकार्थ – विरहात्मक रूप में रसात्मकपना है। इसलिये सर्वलीला सहित जो प्रभु का सदा विरहात्मक भाव वह यहां फलरूप माना है। यह (विरहात्मक) भाव के स्वरूप में निरन्तर विशेष साक्षात्कार होता है क्योंकि जो एक कालावच्छिन्न सर्व लीला का अनुभव होता है। **"साक्षात्कारे"** ऐसा पाठ हो तो यह (विरहात्मक) भाव के साक्षात्कार स्वरूप में निरंतर विशेष से एक कालावच्छिन्न सर्व लीला का अनुभव होता है।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में हरि में भाव रहे वही फल रूप है इसलिये विरहात्मक मन हो आवे क्योंकि जो संयोग के अनुभव में अंतःकरणगामी प्रभु नहीं है। बाहर की सब इन्द्रियां देह का विनियोग है और विप्रयोग में अंतःकरण में सब सिद्ध होता है। इसलिये विप्रयोग भाव हृदय में रखे। इस पुष्टिमार्ग में यही सिद्धि है। क्योंकि जो संयोग में तो जहां तक

दर्शन हो वहां तक सुख है और विप्रयोग में रसात्मक पुरुषोत्तम का सर्वलीला संयुक्त अनुभव सर्वठोर होता है। इसलिये विप्रयोग भाव सर्वोपरि है। जिसमें सब ठोर प्रभु का साक्षात्कार है। वह आगे कहते हैं। विप्रयोग में लीला के भाव में मग्न हो सब ठोर साक्षात् लीला सहित स्वरूप का निरंतर दर्शन होता है। संयोग से अधिक विप्रयोग में सुख है। इसलिये युगपत् जो एक काल में सर्वलीला का अनुभव करे मन से व्रजभक्तों का भाव विचारे। प्रभु गोचारण को पधारते तब व्रजभक्त विप्रयोग की भावना करते वह विचारे और पीछे संध्यासमय प्रभु वन से पधारते तब व्रजभक्त जो भाव करते उस भाव का विचार करे इस भांति विप्रयोग में दोनों लीला के भाव का अनुभव होता है।

मूलं – एवं विज्ञाय मनसा पुष्टिमार्गं विभावयेत् ।
प्राप्तिः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।।३२।।

अतः स एव सततं सर्वभावेन सर्वथा ।
सुधिभिः कृष्णरसिकैः शरणीक्रियतां सदा ।।३३।।

श्लोकार्थ – ऐसा जानकर मन से पुष्टिमार्ग की भावना करे तो श्री वल्लभाचार्यजी के चरणारविंद के प्रसाद से (फल की) प्राप्ति होती है। (**"प्राप्तं"**) ऐसा पाठ हो तो ऐसे मन से जानकर श्री वल्लभाचार्यजी के चरणारविंद के प्रसाद से प्राप्त हुआ जो पुष्टिमार्ग उसकी भावना करे इसलिये निरंतर सर्वभाव करके निश्चय श्रीकृष्ण के रस को जानने वाले अथवा श्रीकृष्ण ही जो रस उसमें मग्न जो बुद्धिमान है उनको सदा श्री वल्लभाचार्यजी ही शरण (आश्रय स्थान) है।

व्याख्या – उपर विप्रयोग आर्त्ति का प्रकार कहा, उसका अनुभव जिस भांति हो वह कहते हैं कि पुष्टिमार्गीय वैष्णव अपने मन में भावना करे किसी से कहे नहीं। इस भांति भावना करते करते श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल के प्रसाद से पुष्टिमार्ग के फल की प्राप्ति निश्चय हो उसको सर्वोत्तम नाम में श्री गुसांईजी ने कहा है – **"अशेष भक्त संप्रार्थ्य चरणाब्ज रजो धनः"** (समग्र भक्तों को अच्छी भांति से सेवन करने योग्य है। चरणारविंद के रज रूप धन जिनके) इस भांति पुष्टिमार्गीय भगवद्भक्त श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरण

कमल की रज को अपना (सर्वस्व) धन जानते हैं। उनको श्रीकृष्णाधरामृत फल की सिद्धि होती है। इसलिये श्री आचार्यजी के चरण कमल के प्रसाद से पुष्टिमार्गीय भगवदीय को फल होता है। उपर कहा उस प्रकार निरंतर सर्वभाव कर सर्वथा श्री आचार्यजी के चरण कमल का आश्रय रखे और विप्रयोग की भावना निरंतर सर्वभाव से सर्वथा कर्त्तव्य है। अपने मन से छल, कपट का त्याग कर हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र के शरण होकर तथा शुद्ध भगवदीय श्रीकृष्ण रस में रसिक हो तथा श्री आचार्यजी महाप्रभु के चरणकमल के शरण हो। (दैन्य भाव कर निःसाधन होकर रहे) उनको पुष्टिमार्गीय फल की प्राप्ति निश्चित होती है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३४।।

बड़े शिक्षापत्र ३५

अब ३५वें शिक्षापत्र में भगवदियों को विजातियों का संग और सजातियों का असंग हो, वह महादुःखदायक है। वे दोनों मेरे को प्राप्त है। श्री भगवान् से द्वेष करने वाले हैं। वे तक्षक तुल्य हैं। जैसे ब्राह्मण के पुत्र ने भेजा ऐसा तक्षक नाग ने महाभगवदीय परीक्षित को डसा। वैसे भगवद्द्वेषी दुष्टकर्म करने वाला दुर्वचन से भगवदियों को दुःख देते हैं उसमें भगवद् द्वेषी जो दुष्ट कर्म करने वाला है वह आधि भौतिक अनाधिकारी है। वह अच्छी क्रिया और वचन से साध्य है। ज्ञान शून्य (अज्ञानी) तथा विपरीत ज्ञानवान है। वह आध्यात्मिक अनधिकारी है। वह भी यथार्थ तत्व बोध से शुद्ध हो जाता है और प्रीति जो महादुष्ट है वह किसी उपाय से साध्य नहीं होता है। जैसे जन्म से नपुंसक हो वह किसी औषधियों से पुरुष नहीं होता है। वैसे ही जिसमें प्रीति नहीं है उसको आसुरी जानना। उसके संग से आसुरावेश होता है। इसलिये भक्तिमार्ग में रहने वाला उनका त्याग करे यह निरूपण है। उपर विप्रयोगभाव सर्वोपरि कहा है। उसका साधन है कृपा। परन्तु दुःसंगादि अनेक प्रतिबंध हैं उनसे बचे तब सिद्ध हो। इसलिये जो दोष पुष्टिमार्ग में बाधक है, उनको कहते हैं।

मूलं – तदीयानां महद्दुःखं विजातीयेन संगमः ।
संभाषणं सजातीयैरसंगो भाषणं च न ।

बड़े शिक्षापत्र ३५

तदेतदुभयं जातं ममैवाद्य स्वभाग्यतः ।।१।।

श्लोकार्थ – बहिर्मुख का संग तथा भाषण और भगवदीय का संग नहीं है तथा भाषण भी नहीं है। यह भगवदियों का बड़ा दुःख है। वे दोनों अपने भाग्य से मेरे को अब प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि इस पुष्टिमार्ग में वैष्णव को यह एक बड़ा दुःख है जो विजातीय (अन्यमार्गीय) का संग हो और की मैं क्या कहूं मेरे को विजातीय का संग हुआ है। इसलिये मेरे मन में महादुःख है। जैसे व्रजभक्तों को श्रीकृष्ण की कथा वार्त्ता में प्रतिबंध करने वाले का संग दुःखदायी है। सारे भक्त मिले तब सुख से मिलकर लीला वार्त्ता कर परम आनंद प्राप्त करते हैं, वहां कोई लौकिक जन आवे तब यह वार्त्ता रह जाय और दुःख हो, वैसे ही पुष्टिमार्गीय वैष्णव परस्पर भगवद् वार्त्ता करते हो वहां एक भी अन्य मार्गीय तथा बहिर्मुख आवे उससे दुःख हो। वह मेरे को दशों दिशा से विजातीय का संग हुआ है। उससे मैं बहुत दुःखी हूं। संभाषण तो सजातीय वैष्णव से चाहिए वह तो प्राप्त नहीं है। अन्यमार्गीय के संग अष्टप्रहर संभाषण करना पड़ता है। वह मेरे को परम दुःख है। उस दुःख को दूर नहीं कर सकता हूं। यह दोष मेरे भाग्य से आकर प्राप्त हुआ है। एक तो भगवदीय का संग चाहिए वह तो मिलता नहीं है और दूसरा अन्य मार्गीय (विजातीय) का संग नहीं चाहिए। वह अष्टप्रहर रहता है। यह दोष मेरे को प्राप्त है। यह पुष्टिमार्ग में विरोधी हैं। ये दोनों मेरे भाग्य से आकर प्राप्त हुए हैं।

मूलं – दुःखांतरं तु ज्ञानेन भक्त्या वापि निवर्त्तते ।
लौकिकं विषय प्राप्त्या न हि दुःसंगजं क्वचित् ।।२।।

श्लोकार्थ – दूसरा दुःख हो तो ज्ञान से अथवा भक्ति से निवृत्त होता है। लौकिक (शब्दादिक विषय नहीं मिलने से हुआ ऐसा) दुःख विषय की प्राप्ति होने पर निवृत्त होता है परन्तु दुःसंग से उत्पन्न हुआ दुःख किसी समय निवृत्त नहीं होता है।

व्याख्या – दूसरा दुःख तो ज्ञान अथवा भक्ति से निवृत्त होता है। लौकिक विषयादिक की प्राप्ति का दुःख होता है। वह विषय मिलने पर निवृत्त होता है। परन्तु उसी दुःख से दुःसंग

बड़ा दुःख है। बड़ा है इसलिये किसी से निवृत्त नहीं होता है। श्री भागवत में कहा है कि जो विषय से विषयी का संग है वह महाबाधक है। क्योंकि जो उनके संग से अष्टप्रहर विषय के ध्यान रहे, विषयावेश हो उससे ऐसे विषय के संगी बहिर्मुख का संग मेरे को हुआ है, उसका कारण महादुःख है।

मूलं – दुष्टानां दुर्वचो बाणौर्भिन्नं मर्मणि मद्वपुः ।
न क्वापि लभते स्वास्थ्यं समाहितमपि स्वतः ।।३।।

श्लोकार्थ – दुष्ट जन के दुर्वचन रूप बाण से मर्म में भिदा ऐसा मेरा शरीर स्वयं समाहित हुआ है तब भी स्वस्थता को प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या – दुष्ट के दुर्वचन रूपी बाण मेरे शरीर के मर्म को बेधते हैं उससे बड़ी पीड़ा होती है। ऐसा दुःसंग मेरे को मिला है। इस कारण रंचक मेरे मन में धीरज नहीं होता है। इसलिये स्वयं धीरज नहीं रहता है।

मूलं – इदानीं तु जनाः प्रायो दुःसंगपदवीं गताः ।
शुद्धं मनः कलुषितं क्षणेनातिविचक्षणाः ।।४।।

श्लोकार्थ – अब तो बहुत से मनुष्य दुःसंग की पदवी को प्राप्त हुए हैं। वे शुद्ध मन को एक क्षण में (संग) मलिन करने में अति विचक्षण (चतुर) हैं।

व्याख्या – अपना हित नहीं दीखता है। हित तो भगवदीय के संग से होता है और अष्टप्रहर दुःसंग से अहित होता है। मेरे को अष्टप्रहर दुःसंग है। इसलिये मेरे को अपना हित नहीं दिखाई देता है। श्रीभागवत में कहा है और श्री आचार्यजी महाप्रभु तथा श्री गुसांईजी ने कहा है कि दुःसंग से वैष्णव जन निश्चय दुःख पाता है। वह दुःसंग मेरे को आ मिला है। इस कारण दुःख पाता हूं। वहां कोई कहे कि तुम दुःख क्यों पाते हो ? अज्ञानी हो वह दुःसंग से दुःख पाता है। तुम तो अनेक शास्त्र को जानते हो, इस कारण दुःसंग तुम्हारा क्या करे ? इस भांति कोई कहे वहां कहते है कि जो शुद्ध मन सुंदर बुद्धि हो उसका चित्त दुष्ट पापी के संग से एक क्षण में भ्रष्ट हो जाता है। ऐसा दुःसंग बाधक है। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"अहं कुसंगिदुःसंगिसंगिनांगीकृतोऽस्मि**

यत् । अन्य संबंधगंधोऽपि कंधरामेव बाधते ।।" (जिससे मैं व्रजभक्तों के संगी जो श्रीकृष्ण हैं उनका अंगीकृत हूं। इसलिये अन्याश्रय का गंध है वह ग्रीवा का बाध करता है) इस भांति रंचक भी अन्य संबंध हो और गला कटे वह चौरासी वैष्णव की वार्त्ता में प्रसिद्ध है कि संभर वाले दामोदरदास की स्त्री ने रंचक अन्याश्रय किया तो म्लेच्छ पुत्र हुआ। इस कारण दुष्ट के संग से बुद्धि भ्रष्ट होती है। वह दुःसंग मेरे को मिला है। इसलिये दुःख पाता हूं। वहां कोई कहे कि ऐसे दुःसंग को शीघ्र त्याग दो। तब सुंदर बुद्धि रहेगी। इस भांति कहे वहां कहते हैं।

मूलं – **गृहस्थितस्य व्यावृत्तियुतस्य न हि तादृशाम् ।**
संगो वारयितं शक्यो व्यावृत्तेर्विनिरोधतः ।
अव्यावृत्तौ न विश्वासदार्ढर्यं येन तथा कृति ।।५।।

श्लोकार्थ – गृहस्थाश्रम में रहा ऐसा पुरुष जो व्यावृत्तियुक्त (लौकिकजन) का संग व्यावृत्ति मिट जाय, उससे नहीं मिट सकती है और अव्यावृत्ति में विश्वास की दृढ़ता नहीं है। जिससे ऐसी कृति होती है।

व्याख्या – गृहस्थ के व्यावृत्ति बिना कैसे चले, परदेश में मनुष्य संग चाहिए। इनका त्याग करो तो पीछे मनुष्य बिना तो नहीं चलता है। यदि रखें तो इनसे भी अधिक बहिर्मुख आ जाय गृहस्थ है जिससे व्यावृत्ति के लिये रखना पड़ता है। जब अव्यावृत्ति हो तब दुःसंग छूटता है। वहां कोई कहे कि तुम तो बड़े सामर्थ्ययुक्त हो व्यावृत्ति छोड़ दो तब दुःसंग छूट जायेगा। इस भांति कहे वहां कहते हैं कि खोटे मनुष्य का त्याग कर अपने घर में बैठे रहें तो कहां से दुःसंग आवे। परन्तु व्यावृत्ति चाहिए। उससे दुःसंग नहीं छूटता है तब मनुष्य को चाहिए जहां परदेश जावे वहां नित्य नूतन मनुष्य का मिलाप हो उनका समाधान करना चाहिए। तब दुःसंग कैसे छूटे ? इसलिये दुःसंग छोड़ने में व्यावृत्ति विरोधी हैं। व्यावृत्ति नहीं करना अव्यावृत्त रहना। वह तो सर्वोपरि उत्तम है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः"** (अव्यावृत्त होकर पूजा कर श्रवणादिक से श्रीकृष्ण को भजे) इस भांति अव्यावृत्त हो तब दृढ़ विश्वास (धीरज) चाहिए।

वह धीरज छूट जाता है। जो व्यावृत्ति बिना गृहस्थाश्रम का कैसे निर्वाह हो ? इस दृढ़ विश्वास बिना अव्यावृत्त नहीं हुआ जाता है, इसलिये क्या किया जाय।

मूलं – **भगवद्द्वेषितां यातः स तु तक्षक एव हि ।**
यथा विप्रार्भकवचः प्रेरितः क्रोधमूर्च्छितः ।।६।।

अदशत्स समागत्य महाभक्तं परीक्षितम् ।
तथा दुर्ज्जनवाक्यैकप्रेरितो ह्यतितामसः ।।७।।

अवज्ञया दुर्वचनैरधिक्षेपेण मामयम् ।
दुष्कर्मा भौतिको दुष्टः स साध्यः सत्क्रियोक्तिभिः ।।८।।

श्लोकार्थ – श्री भगवान् के द्वेषिपने को प्राप्त हुआ वह तो तक्षक ही है। जैसे ब्राह्मण के बालक (शृंगी ऋषि) ने भेजा और क्रोध से मूर्च्छित (ज्ञानरहित) हुआ ऐसे तक्षक ने आकर महाभक्त परीक्षित राजा को डसा, वैसे दुर्जन के वचन से ही भेजा ऐसा अतितमोगुणी यह दुष्टकर्म करने वाला निंदा, दुर्वचन और तिरस्कार करके मेरे को डसता है। उसको दुष्ट जानना। वह अच्छी क्रिया और वचन से साध्य है।

व्याख्या – उपर व्यावृत्ति में दुःसंग दोष हो उसके विषय में कहते हैं कि अब कालदोष कहते हैं। भगवद् द्वेषी जो हैं उससे धर्म की रक्षा करे यह काल भगवद् धर्म में महाबाधक है। जैसे ब्राह्मण के बालक ने क्रोध करके परीक्षित राजा को श्राप दिया। यह कर्मकाल दोष से हुआ। राजा परीक्षित सद्भक्त भगवद् धर्म में चतुर जिनकी रक्षा श्री भगवान् ने गर्भ में की। उनको कलिकाल के दोष से दुर्बुद्धि उत्पन्न हुई **"ब्राह्मणं प्रत्यभूद् ब्रह्मन्! मत्सरोमन्युरेवच"** हे शौनक! (शमीक ऋषि ने आदर सम्मान नहीं किया) यह ब्राह्मण प्रति मत्सर (इनकी ऐसी बड़ाई क्या ? जो मैं राजा आया हूं उसका कुछ सम्मान नहीं किया ऐसी दोष बुद्धि) तथा क्रोध हुआ तब दुर्बुद्धि हुई इसलिये मृतसर्प लेकर शमीक ऋषि के कंठ में डाल दिया। यह बात इनके पुत्र शृंगी ऋषि ने सुनी तब क्रोध करके (तक्षक सर्प सातवें दिन खायगा ऐसा) शाप दिया। यह सर्वकार्य कालदोष से हुआ नहीं तो महाभक्त परीक्षित की ऐसी दुर्बुद्धि क्यों आई ? और बालक ने ऐसा शाप क्यों दिया ? परन्तु सब कालदोष

से हुआ। वैसे ही दुर्जन के वचन सर्परूप ही है। वह तामस के आवेश में अन्यथा बोले वह कालदोष जानना। अब श्री हरिराय जी कहते हैं कि इस कलिकाल में जीव दुष्ट हो गये हैं। उसमें तीन प्रकार के दुष्ट हैं (१) आधिभौतिक (२) आध्यात्मिक (३) और आधिदैविक। उनमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक तो किसी समय भगवद् धर्म में आवे परन्तु आधिदैविक दुष्ट तो कभी भगवद् धर्म में नहीं आते हैं। ऐसे आधिदैविक दुष्ट का कभी संग नहीं करना। ये तीनों दुष्ट कैसे जाने जाते हैं उसके लिये तीनों के अलग–अलग लक्षण कहते हैं। अनेक दुर्वचन कहे, अज्ञान से अवज्ञा करे, दुर्वचन से अपने मन का विक्षेप करे और शरीर से दुष्ट कर्म करे, पापाचरण करे वह भौतिक दुष्ट जानना। ऐसे दुष्ट को अच्छे भगवदीय का संग हो तब भगवत्सेवादिक सब करे कठोर बोलना ही छूट जाय, मन का विक्षेप भी छूट जाय, भगवदीय के संग से भौतिक दुष्ट को भक्ति का वेग हो जाय।

मूलं – **आध्यात्मिको ज्ञानशून्यो ह्यन्यथाज्ञानवानपि ।**
कष्टसाध्यः कदाचित्स तत्वबोधेन शुद्धयति ।।६।।

श्लोकार्थ – ज्ञानशून्य और अन्यथा (विपरीत) ज्ञानयुक्त आध्यात्मिक दुष्ट जानना। वह भी कष्ट साध्य है। वह किसी दिन तत्वबोध करके शुद्ध होता है।

व्याख्या – आध्यात्मिक दुष्ट ज्ञान से शून्य हो सारा कार्य अज्ञान से करे उसको जब कोई ज्ञानवान बड़ा भगवदीय मिले, बहुत दिन तक सत्संग हो, बहुत कष्ट कर सत्प्राणी भगवदीय अनेक भांति समझाकर बोध करे, तब आध्यात्मिक दुष्ट बहुत दिन में शुद्ध होता है।

मूलं – **प्रीतिशून्यो महादुष्टः स न साध्यः कथंचन ।**
यथा नपुसको नैव ह्यौषधैः पुरुषो भवेत् ।।१०।।
यथा त्रिषोदग्रस्तो न कथंचिदपि जीवति ।
प्रीतिशून्यो नीरसश्च न तथा श्रवणादिभिः ।।११।।

श्लोकार्थ – प्रीति से शून्य है वह महादुष्ट किसी उपाय से साध्य नहीं है। जैसे नपुंसक हो वह औषधी से पुरुष नहीं होता है। जैसे त्रिदोषग्रस्त हो वह किसी रीति से जीवित नहीं रहता है। वैसे प्रीतिशून्य नीरस श्रवणादिक से सिद्ध नहीं होता है।

व्याख्या – प्रीति से शून्य है वह महादुष्ट आधिदैविक दुष्ट को असाध्य जानना। कोटि कल्प सत्संग हो परन्तु कैसे भी ज्ञान उसके हृदय में नहीं लगता है। केवल प्रवाही आसुरी का मन श्री भगवान् में और भगवद् धर्म में कभी नहीं लगता है। उसका लौकिक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे नपुंसक हो उसको कोटि औषध दो परन्तु किसी प्रकार वह पुरुष नहीं होता है। उसमें पुरुषार्थ नहीं होता है वैसे ही आधिदैविक महादुष्ट को भगवत्संबंधी ज्ञान नहीं लगता है। जैसे त्रि (कफ, वात, पित्त) दोषग्रस्त रोगी नहीं जीता है उसको कुछ भी औषधी नहीं लगती है। वैसे प्रीतिशून्य नीरस (भक्ति रस रहित) महादुष्ट है वह कितनी ही भगवत्कथा का श्रवण करे परन्तु रंचक हृदय में भगवान् में मन नहीं होता है। उसको प्रवाही आसुरी जीव की तरह जानना। पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है **"चर्षणी शब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु । क्षणात्सर्वत्वमायांति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्"** (चर्षणी जीव सर्वमार्ग में क्षण में आवे परन्तु इनकी कहीं रुचि नहीं लगती है) ऐसे प्रवाही आसुरी जीव की तरह जन्म जन्म में संसारासक्ति में पड़ा रहे। इसको भगवत्प्राप्ति नहीं होती है। कृष्णदास जी ने गाया है – **"गुणप्रताप देखियत अपने चख अशमसार ज्यों भेदे न तोय"** जैसे अश्मसार (काले पत्थर) को लेकर हजार वर्ष तक जल में डालकर रखें परन्तु जल उस पत्थर को नहीं भेदता है। जब निकालो तब सूख जाता है। वैसे प्रीतिशून्य आधिदैविक महादुष्ट इस पुष्टिमार्ग का प्रताप देखकर गुण ही सुनता है परन्तु कभी भगवद्धर्म का हृदय में रंचक भी लेश नहीं आता है ऐसे प्रीति शून्य नीरस (भक्ति रस से रहित) बहिर्मुख है।

मूलं – प्रायः स आसुरो जीवो यस्मिन् प्रीतेरसंभवः ।
तादृशैर्नित्यसंगेन भवेदासुरभावनात् ।।१२।।

श्लोकार्थ – जिसमें प्रीति असंभव हो वह बहुत करके आसुर जीव जानना। ऐसे आसुर जीवों के साथ नित्य संग से आसुर भाव वाला होता है।

व्याख्या – उपर कहा कि ऐसे प्रीतिशून्य महादुष्ट होते हैं उनको आसुर जीव जानना। उस जीव में प्रीति की संभावना भी नहीं है। इसलिये ऐसे का संग छोड़ना भगवदीय के संग बिना नित्य आसुर भाव होता है। जब नित्य तादृशीय का संग हो तब यह आसुर भाव निवृत्त

हो। श्रीभागवत के एकादश स्कंध में श्रीकृष्ण ने उद्धव के प्रति कहा है – **"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्याय स्तपस्त्यागो नेष्टा पूर्त्तं न दक्षिणा। व्रतानि यज्ञाश्छंदासि तीर्थानि नियमा यमाः।। यथावरुंधे सत्संगः सर्वसंगापहोहिमाम्। सत्संगेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगा गंधर्वाप्सरसा नागाः सिद्धाश्चारण गुह्यकाः।। बहवोमत्पदं प्राप्तास्त्वाष्टकायाधवादयः।।"** मेरे को योग वश नहीं करता है, सांख्य वश नहीं करता है। हे उद्धव ! धर्म, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छंद, तीर्थ, नियम, यम कोई वश में नहीं करता है। जैसा सर्वसंग का मिटाने वाला सत्संग मेरे को वश करता है। वैसा कोई वश नहीं करता है। सत्संग से यातुधान, दैत्य, खग, मृग, गंधर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, वृत्रासुर, प्रह्दादिक बहुत मेरे चरणारविंद को प्राप्त हुए हैं। इत्यादिक वचन से सत्संग सब से बड़ा है इसलिये तादृशीय के संग बिना नित्य दुःसंग से आसुर भाव होता है।

मूलं – दुष्कर्मा कर्मदुष्टः स्यात् ज्ञानदुष्टोऽन्यथादृशि।
प्रीतिशून्यो भक्तिदुष्टस्तत्तन्मार्गगतस्त्यजेत् ।।१३।।

श्लोकार्थ – दुष्ट कर्म वाला कर्म दुष्ट होता है, विपरीत दृष्टि वाला, ज्ञान दुष्ट होता है और प्रीतिशून्य भक्ति दुष्ट होता है। इसलिये भक्तिमार्ग में रहने वाला इनका त्याग कर दे अथवा जो जो मार्ग में ऐसे तीन दुष्ट हो वह वह मार्ग में रहने वाला इनको छोड़ दे।

व्याख्या – अब श्री हरिरायजी कहते हैं कि दुष्कर्मा हो वह कर्मदुष्ट, भौतिक दुष्ट जानना और अन्यथा (विपरीत) ज्ञानवान् ज्ञानदुष्ट आध्यात्मिक दुष्ट जानना। वह सत्संग होने से भगवद् धर्म में आवे और जो प्रीतिशून्य आधि दैविक दुष्ट है। उनको आसुरी जानना। ऐसे को भक्तिमार्गीय सर्वथा त्याग करे तब भगवद् धर्म रहे। यह निश्चय है। ऐसे असुर के रंचक भी संबंध से बुद्धि का नाश होता है। अन्याश्रय हो तो वह पुष्टिमार्ग में महाबाधक है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३५।।

बड़े शिक्षापत्र ३६

अब ३६वें शिक्षापत्र में यह बताया है कि भक्तिमार्गीय वैष्णवों को चिंता नहीं कर्त्तव्य है । जैसे बुहारी कंठ (निकालकर) कर के शुद्ध किया है उस में गृहपति रहता है वैसे

ही चिंतादिक से रहित चित्त में प्रभु पधारते हैं। जिस चित्त में चिंतादिक हो तो प्रभु का आवेश नहीं होता है। नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है कि चिंता नहीं करनी चाहिए। ऐसा निरूपण किया है। धर्म मार्ग के विचार में भी कलियुग में कर्त्ता लिप्त होता है। संसर्ग का इतना बाध नहीं है। यद्यपि अवैष्णवों के साथ नहीं रहना। ऐसे श्री आचार्यजी की आज्ञा है। तब भी लोक में संकोच रखना और इनकी निवृत्ति में यत्न रखना। अपने मन को मोह करे ऐसी चिंता नहीं करना। इस चिंता में आयु व्यर्थ जाती रहती है। भगवद् चरणारविंद में चित्त स्थापित करना। इस शरीर संबंधी की अहंता ममता छोड़नी। प्रतिबंध की निवृत्ति के अर्थ हरि की शरण भावना रखनी। हरि ही सर्व सिद्ध करेगे। अपने को तो श्री आचार्यजी की आज्ञा प्रमाण निवेदन का अनुसंधान मात्र करना यह निरूपण है। उपर कहा कि ऐसे दुःख को छोड़े तब भगवद धर्म रहता है। वैसे ही लौकिक चिंता भी छोड़े, तब प्रभु हृदय में पधारते हैं। उस चिंता निवृत्ति का प्रकार अब कहते हैं।

मूलं – नैव चिंता प्रकर्त्तव्या लौकिकी भक्तिमार्गगैः ।
चित्ते चिंतातुरे कृष्णः कथमाविशते गुणैः ।।१।।

यथा गृहे गृहपतिः शुद्धे समार्जनादिभिः ।
स्वस्थस्तिष्ठत्यन्यथा तु परावर्त्तेत सर्वथा ।।२।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्गीय वैष्णवों को लौकिक चिंता नहीं कर्त्तव्य है। क्योंकि जैसे गृह के मालिक के गृह लीपकर, झाड़कर शुद्ध कर रखा हो, उसमें स्वस्थ होकर रहे। नहीं तो सर्वथा पीछा फिर जाता है। वैसे चिंतातुर चित्त में सकल गुण से पूर्ण प्रभु कैसे प्रवेश करे ?

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी सभी पुष्टिमार्गियों को शिक्षा देते हैं कि हे सर्व पुष्टिमार्गीय वैष्णव ! तुमको लौकिक चिंता नहीं कर्त्तव्य है क्योंकि जिसका चित्त चिंता में व्याकुल हो उसके हृदय में सकल गुणयुक्त प्रभु कैसे आकर बसें ? चिंता सकल दोषों की जननी है जहां चिंता आई वहां सकल दोष आये तब सकल गुणयुक्त प्रभु किस प्रकार आवें ? इसीलिये श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि"** (निवेदितात्म जीवों को किसी भी समय चिंता नहीं कर्त्तव्य है) अपना सारा पदार्थ भगवान को निवेदन किया हो पीछे चिंता क्यों करते हो ? सर्वथा चिंता

नहीं करे सर्वकरण समर्थ भगवान् धनी मस्तक पर हैं इसलिये लौकिक चिंता कुछ भी नहीं कर्त्तव्य है। अब लौकिक दृष्टांत कहते हैं जैसे लौकिक में गृहपति घर को शुद्ध कर समार्जन कर सारा कूड़ा (कचरा) बाहर निकाल अच्छा शुद्ध गृह कर उसमें रहता है। वैसे ही श्रीकृष्ण जिस वैष्णव के हृदयरूपी धर को शुद्ध देखता है। चिंता का दोष जिसके हृदय में नहीं है उस वैष्णव के हृदय में प्रभु पधारते हैं। क्योंकि जो चिंता लौकिक है, वह श्रीकृष्ण के चरण की विस्मारक है चिंता हुई तब लौकिकावेश हृदय में भरा रहे, तब हृदय में प्रभु कैसे पधारें। इसलिये श्री आचार्यजी द्वारा निवेदन करने के पीछे सारी चिंता, काम, क्रोध, मद, मत्सर, यह हृदय में कूड़ा (मेल) है, उसको निकाल कर अपना हृदय शुद्ध कर शांत चित्त कर एक श्रीकृष्ण ही का आश्रय कर रहे तब प्रभु उस वैष्णव के शुद्ध हृदय को देखकर प्रसन्न हो उसमें पधारते हैं तथा कृपा करके अपने स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं।

मूलं – उक्तं च प्रभुभिस्तस्मान्नवरत्ने कृपालुभिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिंता का स्वस्य सोऽपि चेत् ।।३।।

श्लोकार्थ – इसलिये कृपालु श्री महाप्रभुजी ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है कि जो (स्त्री, पुत्र आदि के लिये द्रव्यादिक का विनियोग हो तब) यह ही अपना है तो अन्य विनियोग निमित्त भी चिंता क्या है ?

व्याख्या – वहां कोई कहे कि अन्य विनियोग होता है जब प्रभु की सेवा टहल नहीं बने तब तो चिंता करनी है वहां श्री हरिराय जी कहते हैं कि हमारे श्री वल्लभाचार्य जी परम कृपालु हैं उन्होंने नवरत्न ग्रंथ में निरूपण किया है कि जो अपने से अन्य विनियोग हो तभी कुछ चिंता नहीं करनी क्योंकि जो यह भी अपना है इसलिये चिंता छोड़ एक प्रभु का दृढ़ आश्रय हृदय में रखना।

मूलं – धर्ममार्गविचारेऽपिकलौ कर्तैव लिप्यते ।
न संगर्गकृतो दोषस्तथा कलियुगे भवेत् ।।४।।

श्लोकार्थ – धर्म मार्ग के विचार में भी कलियुग में कर्त्ता ही लिप्त होता है। (ओर युग में जैसा संसर्ग का दोष है वैसा) कलियुग में संसर्ग का दोष नहीं है।

व्याख्या – धर्म मार्ग की रीति का विचार करे तो धर्मशास्त्र में सभी स्थान पर यही कहा कि कलियुग में दोष करे वही लिप्त होता है। संसर्ग का दोष कलियुग में सर्वथा नहीं लगता है इसलिये संबंधी का दोष अपने को नहीं लगे ऐसी मर्यादा है इसलिये संबंधी भक्ति की रीति छोड़कर अन्याश्रय करे तब भी उसको समझाकर अन्याश्रय छुड़ावे। स्वयं चिंता नहीं करे वे नहीं माने तो ऐसा जाने कि इनने किया है इसलिये ये ही भुक्तेंगे। मेरे को क्या बाधक है ? ऐसे विचार कर आप अपने धर्म में सावधान रहो।

मूलं – **युगांतरे तथैवायं पंचमत्वेन गण्यते ।**
यद्यप्युक्तं निजाचार्यैः स्थेयं नावैष्णवैः सह ।।५।।

तथापि लोकसंकोचः कर्त्तव्यस्त्वग्रदर्शनैः ।
मन स्थाप्यं तन्निवृत्तौ समये तन्निवर्त्तनम् ।।६।।

श्लोकार्थ – वैसे ही दूसरे युग में यह (कलियुग) पंचमपने में गिना जाता है। यद्यपि अपने श्री आचार्यजी ने कहा है कि जो अवैष्णवों के संग नहीं रहता, तब भी आगे कैसे करने में अच्छा हो ऐसा विचार करने वालों को लोक संकोच करना और इनकी निवृत्ति में मन स्थापित करना, वह समय आवे तब निवृत्त करना।

व्याख्या – युगांतर जो सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग में चारों युग आते हैं। उसमें अब यह वर्तमान कलियुग है। यह पंचम है। उत्तम में उत्तम है। यह चारों युग में नहीं है। क्योंकि जो इस युग में श्री वल्लभाचार्यजी पूर्ण पुरुषोत्तम का प्राकट्य है। श्री गुसांईजी ने सप्तश्लोकी में कहा है – **"मायावादकरींद्रदर्प दलनेनास्येंदुराजोदगत श्रीमद्भागवताख्यदुर्लभसुधावर्षेण वेदोक्तिभिः। राधावल्लभ सेवया तदुचित प्रेम्णोपदेशैरपि श्रीमद्वल्लभनामधेय सदृशोभावीनभूतोऽस्त्यपि"** मायावाद रूप मदोन्मत्तहस्ती के गर्व को तोड़ने से श्री ठाकुरजी के मुख चंद्रराज से प्रकट हुआ। ऐसा जो श्रीमद्भागवत नाम का दुर्लभ सुधा (अमृत) का वर्ष (वृष्टि) उसको करके वेद वचन से श्री राधावल्लभ (श्रीकृष्ण) की सेवा करके और वह सेवा में योग्य हो, ऐसे प्रेम सहित उपदेशों में श्री वल्लभाचार्य जी के बराबर (कोई) नहीं होगा। नहीं हुआ है और है ही नहीं। और

बड़े शिक्षापत्र ३६

बधाई में कहा है – **"एसी भई न ह्वेहे कबहूं जैसी अब निधि आई"** इस भाव से ऐसा मन में जानना कि ऐसा कलियुग कभी नहीं हुआ और न आगे होगा इसलिये अब दैवी सृष्टि के जीव के उद्धारार्थ श्री आचार्यजी महाप्रभु ने पधारकर पुष्टिमार्ग प्रकट किया है। इसलिये यह युग और युग से अलग ही हैं। ऐसे जानना और अपने श्री आचार्यजी ने कहा है कि अवैष्णव के संग नहीं रहना। तब भी अब तक लोक संबंधी संकोच आ पड़े बहुत दुःख होता जाने तब तक उन्हीं में स्थित हो इनके दोष अर्थ बहुत क्लेश नहीं करे परन्तु अपने मन को स्वाधीन रखे, समय आवे तब उनको छोड़ दे। अपने पुष्टिमार्ग की रीति से सेवा स्मरण में मन लगावे।

मूलं – तत्कालं तत्प्रयत्ने तु रोगस्येवोद्भवो भवेत् ।
अतः कार्यं शनैरेव प्रतिबंधनिवर्त्तनम् ।।७।।

श्लोकार्थ – जैसे रोग उत्पन्न हुआ तब (उसको शोधन कर मूल से मिटाने में विलंब हो तो वह नहीं करे और) तत्काल उसको दबाने का प्रयत्न करे तो उस समय तो दब जाय परन्तु फिर वह रोग उत्पन्न हो वैसे जो प्रतिबंध आवे उसका तत्काल निवृत्त करने का यत्न करे तो फिर वह प्रतिबंध आने दे। इसलिये धीरे–धीरे ही प्रतिबंध का निवर्त्तन करना।

व्याख्या – कुटुम्ब लौकिकादिक का संकोच जैसे आ जाय तो उस समय उन्हीं में मिल कर रहे और इनके त्याग की भावना रखे। उस क्रम से उसको छोड़े क्योंकि जो तत्काल छोड़ने में रोग की तरह फिर उत्पन्न हो, इसलिये शनैः (धीरे से) निवृत्त करना। इस भांति वैष्णव को रहना चाहिए।

मूलं – वृथाचिंता न कर्त्तव्या स्वमनोमोहकारणम् ।
यथा सच्छिद्र कलशाज्जलं स्रवति सर्वशः ।।८।।

तथायुः सततं याति ज्ञायते न गृहस्थितैः ।
एवं हि गच्छत्यायुष्ये क्षणं नैव विलंबयेत् ।।९।।

भगवच्चरणे चेतः स्थापनेऽतिविचक्षणः ।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – अपने मन के मोह के कारण रूप वृथा चिंता नहीं करनी, क्योंकि जो जैसे छिद्रयुक्त कलश से चारों ओर से जल स्रवित होता है वैसे आयुष्य चला जाता है वह गृहस्थाश्रमी को जानने में नहीं आता है। ऐसे आयुष्य चला जाता है उसमें श्री भगवान् के चरणारविंद में चित्त स्थापित करने में अति चतुर ऐसा वैष्णव क्षण मात्र विलंब नहीं करे

व्याख्या – वृथा चिंता सर्वथा नहीं कर्त्तव्य है। क्योंकि मन का मोह हो, मोह का कारण एक वृथा चिंता ही है। यह निश्चय जानना। उसका दृष्टांत कहते हैं जैसे एक कलश के पेंदे में छिद्र होने से सारा जल कलश से बाहर बह जाता है। वैसे ही वृथा चिंता से मन का मोह उपजता है। भगवद धर्म नहीं बनता है। आप परम उत्तम यह मनुष्य देह है उसकी सारी आयु बीत जाती है। एकादश स्कंध में राजा जनक ने कहा है – **"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः । तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठ प्रियदर्शनम्।।"** (इस वचन से यह मनुष्य देह है वह महादुर्लभ है और क्षण में भंग हो, ऐसा है) उसमें भी (श्री भगवान् के प्रिय भक्त का दर्शन दुर्लभ है। ऐसे मैं मानता हू) यह देह पाकर प्रभु का आश्रय करे तो उनको फल सिद्ध होता है। परन्तु जीव वृथा चिंता करके मोह करके संसार में जाता है। उपर कहा उस भांति इस मनुष्य देह का आयुष्य क्षण क्षण में क्षीण होता है। यह विचार निरंतर कर जाने कि यह गृहस्थाश्रम में मेरे को तो सारे बहिर्मुख दुःसंगी मिले हैं। यह भगवद् धर्म में सदा बाधा ही करेगे। इस भांति प्रतिबंध हो तो उनका तत्काल त्याग करे एक क्षण भी विलंब नहीं करे क्योंकि देह छूटने का प्रमाण नहीं है। श्री भागवत के सप्तम स्कंध में प्रह्लादजी ने बालकों से कहा है – **"कौमारआचरेत् प्राज्ञोधर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्"** (इस वचन से प्रह्लादजी कहते हैं कि हे बालक ! यह भगवद् धर्म का कुमार अवस्था ही से आचरण कर्त्तव्य है। क्योंकि यह मनुष्य देह महादुर्लभ है इसका निश्चय नहीं है) कब नाश होगा ! क्षण में नाश हो जाय, इसलिये कुमार अवस्था से भगवद् धर्म कर्त्तव्य है। यह विचार कर प्रतिबंध रूप गृह कुटुम्ब का तत्काल ही त्याग कर्त्तव्य है। एक क्षण भी विलम्ब नहीं करे कहीं दुःसंग से मन फिर जाय तो संसारासक्ति हो जाय इसलिये उसी क्षण उनका शीघ्र ही त्याग करे उपर कहा ऐसे प्रतिबंध को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविंद का स्मरण ज्ञानी तथा मर्यादामार्गीय भक्त

करते हैं। इसलिये विचक्षण होकर करे ऐसा जो कहा उसका अभिप्राय यह है कि जो पुष्टिमार्ग की रीति से नित्य श्रीकृष्ण की सेवादि कर सर्व इन्द्रिय, देह, मन सब श्री भगवान् के चरणारविंद में लगावे।

मूलं – शरीरं प्राकृतं तद्धि ह्यनित्यं सर्वथा मतम् ।।१०।।
तत्संबंधोऽप्यविद्यातस्ततोहंममतात्मकः ।
संसारस्तत्कृतः सर्वसंबंधोऽपिमृषामतः ।।११।।
तत्संबंधकृतं दुःखं नहि मंतव्यमुत्तमैः ।
प्रतिबंधनिवृत्त्यर्थं हरिं शरणमाव्रजेत् ।।१२।।

श्लोकार्थ – शरीर प्राकृत है उसको सर्वथा अनित्य माना है। इनका संबंध भी अविद्या से है इस कारण अहंता ममतात्मक संसार है। उनने किया ऐसा सर्व संबंध ही खोटा माना है। इसलिये उस संबंध द्वारा किया ऐसा दुःख उत्तम वैष्णव को नहीं मानना है और प्रतिबंध की निवृत्ति के लिये हरि की शरण लेना है।

व्याख्या – हरि के चरणारविंद में मन कब लगे ? जब अपने शरीर को प्राकृत जाने, इस देह के पोषण में मन नहीं हो तब तनुजा, वित्तजा सेवा मन लगाकर करे। इसलिये शरीर को प्राकृत जाने और जीव को सदा नित्य प्रभु का दास जाने या इस देह का एक दिन नाश होगा ऐसे जाने। जीव और देह का संबंध किसी काल में नहीं है। जीव तो अनादिकाल से कोटानकोटि वार चौरासी लाख योनि भुगतान है वहां किसी शरीर से संबंध नहीं है। क्योंकि जो यह देह प्राकृत पंचतत्व से बना है और पंचतत्व भी प्राकृत है तो कारण प्राकृत हो उसको कार्य भी प्राकृत हो और जीव सदा एकरस अखण्ड है उसको अग्नि नहीं जलाती है। शस्त्र नहीं छेद करता है। ऐसा नित्य है। परन्तु अविद्या जो लगी है उससे अपना शरीर जानता है। वह जीव को अहंता, ममता लगी है। इस भांति सारा संसार अहंता ममता से बंधा है। यह लौकिक संबंध सारा झूठा है। परन्तु अज्ञान से अहंता ममतात्मक अविद्या के वश होकर अपना माना है। इसलिये यह लौकिक संबंध मिथ्या है। इनमें मन नहीं लगावे। उत्तम भगवदीय है वह यह लौकिक संबंध को उत्तम नहीं जानता है। अहंता ममतारूप

प्रतिबंध की निवृत्यर्थ हरि की शरण जाता है। जहां जहां अहंता ममता है वह सब प्रभु को समर्पण कर हरि को शरण कर लेता है। तब यह प्रतिबंध दूर होता है। नवम स्कंध में भगवान् ने दुर्वासा के प्रति कहा है – **"ये दारागार पुत्राप्तान् प्राणान् वित्त मिमं परमं । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे।।"** (जो भक्त, स्त्री, गृह, पुत्र, स्नेही वर्ग, प्राण, द्रव्य, इस लोक को छोड़कर मेरे शरण आये हैं इनको छोड़ने का मैं कैसे उत्साह करूं) और एकादश स्कंध में कहा है – **"कायेन वाचा मनसेंद्रियैवा बुद्धयात्मना वानुसृत स्वाभावात्। करोमियद्यत्सकलं परस्मैनारायणायेतिसमर्पयेत्तत्"** (काया से, वाणी से, मन से, इंद्रियों से, अथवा बुद्धि से, आत्मा से अथवा इनको लग रहे ऐसे स्वभाव से जो–जो मैं करता हूं वह सर्व पर ऐसे नारायण के लिये अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम के लिये करता हू) ऐसे प्रभु को सर्व अर्पण करे एकादश स्कंध में कहा है – **"इष्टं दत्तं जपस्तप्तं व्रतं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान् गृहान् सुतान् प्राणान् यत्परस्मैनिवेदनम्"** (जो इष्ट किया, दान दिया, जप किया, तप किया, व्रत किया और अपने को प्रिय है, स्त्री, गृह, पुत्र प्राण जो है वे पर (प्रभ) को निवेदन करना) इत्यादिक वचन के अनुसार पुष्टिमार्ग में श्री आचार्यजी द्वारा प्रभु को समर्पण करे, एक प्रभु ही का आश्रय करे

मूलं – भक्तदुःखासहिष्णुस्तं तदैव हि निवर्त्तयेत् ।
अशक्ये हरिरेवास्तीत्येवमेव प्रभोर्वचः ।।१३।।

श्लोकार्थ – (जब प्रभु का आश्रय करे तब) भक्त के दुःख को सहन नहीं कर सकते हैं ऐसे प्रभु उसी समय उस प्रतिबंध को निश्चय निवृत्त करते हैं। क्योंकि जो अपने से कुछ नहीं बने वहां हरि ही रक्षक हैं। ऐसा ही श्री महाप्रभुजी का वचनामृत हैं।

व्याख्या – उपर कहा कि जो प्रतिबंध की निवृत्ति के अर्थ सर्व पदार्थ स्त्री, पुत्रादि प्रभु में निवेदन करे हरि के शरण जाय, परन्तु उसमें सारे कुटुम्बी दुःख देते है। ज्ञाति का दुःख होता है तथा अकेला हो, रोगादि दुःख हो, द्रव्यादिक की हानि हो, नेत्रादिक अंग का भंग हो तथा राजादि दंड दे, तथा खान पानादिक का संकोच हो और अकेला हो तो सहायता कौन करे ? इस भांति संदेह हो वहां श्रीहरिरायजी कहते हैं कि यह भगवद् भक्त सब

छोड़कर हरि के शरण जाय वहां कोई दुःख आवे उसको सहन करे तब श्री ठाकुरजी भक्त के दुःख को नहीं सह सकते हैं। इसलिये भक्त को दुःख पाता देखकर तब तत्काल ही दुःख निवृत्त करेगे। विवेक धैर्याश्रय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्"** तथा **"अशक्वे वा सुशक्वेवा सर्वथा शरणं हरिः"** (अपने से नहीं हो सके उसमें हरि ही (रक्षक) हैं। क्योंकि आश्रय से सर्वसिद्ध होता है वैसे (अशक्य में तथा सुशक्य में सर्वथा हरि शरण है) इस भांति हरि की शरण भावना दृढ़ रखे तो प्रभु सर्व ओर से रक्षा ही करते हैं। प्रह्लादजी ने हरि की शरण भावना रखी और दुःख को सहन किया तो भगवान् ने प्रतिबंध दूर किया। भक्त की रक्षा की। इसलिये सर्व छोड़कर हरिशरण की भावना दृढ़ रखे। श्री गीताजी में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है – **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि मा शुचः"** (सर्वधर्म को छोड़कर एक मेरे शरण जा मैं तेरे को सर्वपाप से छुड़ाऊंगा, शोक मत कर) इस भांति भगवान् के शरण जाकर प्रभु का आश्रय करे उसकी प्रभु रक्षा करते हैं। भक्तिवर्द्धिनी में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"बाघ संभावनायां तु नैकांतेवास इष्यते। हरिस्तुसर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः"** बाघ की संभावना हो, एकांत में रहने में कुछ बाधा आवे ऐसी शंका हो, तो एकांत में वास योग्य नहीं है। गृह के रहने में बाधा आने की शंका हो वहां कहते हैं, हरि सर्व ओर से रक्षा करेंगे इसमें संशय नहीं है। इसलिये सर्वप्रकार हरि का ही आश्रय करे

मूलं – **यावच्छक्ति प्रकर्त्तव्यो ह्युपायस्तन्निवर्त्तने ।**
प्रतिकूले चतत्त्यागपर्यंतं विहितं पुनः ।।१४।।

श्लोकार्थ – प्रतिबंध की निवृत्ति निमित्त अपनी शक्ति प्रमाण उपाय करना और (स्त्री पुत्रादिक) प्रतिकूल हो तो इनका त्याग करना। ऐसे श्री आचार्यजी ने बिबंध में कहा है – **"उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।"** स्त्री पुत्रादिक उदासीन रहते हों तो आप सेवादिक सब करे और प्रतिकूल हो (अर्थात् सेवा में विरुद्ध पड़े तो गृह को छोड़ दे)

व्याख्या – इस भांति वैष्णव प्रतिबंध की निवृत्तिपूर्वक हरिशरण के उपाय में रहे। प्रतिबंध के त्याग में मन रखे। जो कोई कुसंगी, स्त्री पुत्र, माता, पितादि प्रतिकूल हो तो उनका

त्याग करे। जो अनुकूल नहीं हो तो अकेला सेवा करे पीछे उनको महाप्रसाद और प्रसादी वस्त्र दे, पोषण करे जो केवल प्रतिबंध रूप हो, भगवद् धर्म में द्वेष रखे तो उनका त्याग करे। क्योंकि जो भगवान् आत्मसंबंधी जन्म–जन्म के प्रभु हैं और यह देह संबंधी स्त्री पुत्रादिक हैं उनको जहां तक देह है वहां तक संबंध है। देह संबंधी के लिये आत्म संबंध नहीं छोड़ना चाहिए।

मूलं – सर्वथा स्वस्य चाशक्तौ हरिरेव हि रक्षकः ।
स्वकीयचिंतां कुरुतं कर्त्ता स च करिष्यति ।।१५।।

श्लोकार्थ – अपनी सर्वथा अशक्ति में हरि ही रक्षक हैं वह अपने भक्तों की चिंता करते हैं, वे करेगे।

व्याख्या – जो सर्वथा जीव अशक्त हो उसके रक्षक हरि (सर्वदुःख हर्ता) ही हैं। वे अपने निजभक्तों की चिंता आगे से करते आये हैं। अब करते हैं और आगे भी करेगे। तीनों काल में कभी भक्तों को नहीं भूलते हैं। संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषः क्वचित्"** माता अपने बालक पुत्र को स्तन अतिप्रीति से नहीं पिलावे ऐसा माता कभी नहीं करती है। क्षण–क्षण में बालक की रक्षा ही करती है। वैसे ही भगवान् भक्तों की चिंता कभी नहीं करे ऐसा नहीं होता है। जिस भांति भक्तों का हित हो वही सर्व करते हैं। यह निश्चय जानना।

मूलं – स्वयं किमर्थं कर्त्तव्या पितरीव शिरः स्थिते ।
न त्यक्षति कृपा पूर्णः सेवकं सर्वदा श्रितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ – पिता की तरह श्री ठाकुरजी अपने उपर बिराजते हैं। इसलिये अपने को क्यों चिंता करना ? क्योंकि जो कृपा से पूर्ण ऐसे प्रभु आश्रित सेवकों को नहीं छोड़ेंगे।

व्याख्या – पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को चिंता क्यों करनी, क्योंकि जो श्री आचार्यजी तथा श्रीकृष्ण धनी (पति) मस्तक पर बिराजते हैं। उनको किस बात की चिंता है। जैसे इस लौकिक में बालक के मस्तक पर पिता बैठा हो उस बालक को क्या चिंता है ? यह लौकिक है और श्रीकृष्ण तो ईश्वर के ईश्वर हैं, सर्व सामर्थ्ययुक्त हैं, ऐसे प्रभु (पुष्टिमार्ग में) वैष्णवों

के मस्तक पर बिराजते हैं। जिनकी कृपा दृष्टि सदा एकरस भक्तों पर हैं। ऐसा वैष्णव किसी अर्थ की चिंता नहीं करे एक प्रभु का ही दृढ़ आश्रय करे

मूलं – आचार्यशरणं तस्य चिंतालेशोऽपि नैव हि ।
तस्माच्छ्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जद्वयाश्रितैः ।।१७।।
न कापि चिंता कर्त्तव्या कृष्णसेवां विना पुनः ।
निवेदनानुसंधानचिंतामात्रं विधीयताम् ।।१८।।

श्लोकार्थ – जिनको दृढ़ श्री आचार्यजी की शरण सिद्ध हुई है उनको चिंता लेश ही नहीं है। इसलिये श्री आचार्यजी के दोनों चरणारविंद का आश्रय है। उनको श्रीकृष्ण की सेवा बिना किसी की चिंता नहीं करनी है, केवल निवेदन के अनुसंधान की मात्र चिंता करनी है।

व्याख्या – जो श्री आचार्यजी महाप्रभु के शरण है। नाम मंत्र (अष्टाक्षर महामंत्र) पाया है उनको चिंता लेश मात्र नहीं करना है। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा **"यदुक्तं तात चरणैः" "श्रीकृष्णः शरणं मम" तत एवास्ति नैश्चिंणंमैहिके" जो तात चरण** (श्री आचार्यजी महाप्रभु ने) **"श्रीकृष्णः शरणंमम"** कहा है। उससे ही इस लोक में तथा परलोक में फलादिक की निश्चिंतता है। इत्यादि वचन से पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को चिंता नहीं कर्त्तव्य है। उपर कहा है कि चिंता किसी प्रकार की नहीं कर्त्तव्य है। वहां कोई कहे कि चिंता कुछ नहीं करना ऐसा कहा तब जीव भगवद् धर्म की चिंता भी नहीं करेगा और भगवद् धर्म भी नहीं करेगा। क्योंकि प्रथम जीव का भगवद् धर्म में मन ही नहीं है और तुमने तो चिंता नहीं करने को कहा इसलिये भगवद् धर्म नहीं करे उनकी क्या गति ? इस भांति संदेह हो वहां कहते हैं कि श्रीकृष्ण की सेवा की चिंता तो अवश्य कर्त्तव्य है और लौकिक वैदिक फल की तथा अपने उद्धार की चिंता नहीं कर्त्तव्य है। श्रीकृष्ण की सेवा बिना तो यह पुष्टिमार्ग सर्वोपरि है उसके फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये चिंता अवश्य कर्त्तव्य है। इसलिये श्रीकृष्ण की सेवा करे निवेदन का अनुसंधान अहर्निश रखे कि मैं जो कितने काल से प्रभु को भूला हुआ था। अब श्री आचार्यजी महाप्रभु की कृपा से संबंध हुआ है। मैं दास हूं, मेरा अब क्या कर्त्तव्य है। मैंने सर्व समर्पण किया है। इसमें अपनी सत्ता सर्वथा नहीं है।

सर्व प्रभु का है। इस भांति निवेदन का अनुसंधान रखे।

मूलं – लोके स्वास्थ्यं तथा वेद इति श्रीमत्प्रभोर्वचः ।
स्मृत्वा शीघ्रं हृदिस्था सा निवर्त्त्या सेवनार्थिभिः ।।१६।।

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है कि **"हरि लोक में तथा वेद में स्वस्थता नहीं करेगे"** इस वाक्य को स्मरण करके, प्रभु की सेवा के अर्थ वाले वैष्णवों को हृदय में रही जो ऐसी चिंता से शीघ्र निवृत्त करना।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि हमारे प्रभु श्री वल्लभाचार्यजी ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"लोके स्वास्थं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति"** (श्रीकृष्ण) अपने जन को लौकिक वैदिक में स्थित नहीं करत है। जो अज्ञान से कोई लौकिक वैदिक में स्थित हो तो प्रभु वह कार्य सिद्ध नहीं करते हैं। तब वैष्णव तत्काल इस विषय की चिंता छोड़कर प्रभु का गुण माने कि इसमें मेरा जो अनिष्ट होगा। इस कारण प्रभु ने सिद्ध नहीं किया है। परन्तु मन में चिंता नहीं करे यह मेरा बिगड़ गया अब मैं क्या करूं। ऐसे चिंता नहीं करे प्रभु का गुण ही माने। शीघ्र ही प्रभु का चिंतन करे कि प्रभु मेरे उपर प्रसन्न ही है। जैसे संतदासजी श्री वल्लभाचार्यजी के सेवक थे वे प्रथम बहुत सम्पन्न थे। वह सब द्रव्य गया फिर बीस टका की पूंजी से अढ़ाई पैसे में निर्वाह कर प्रसन्न रहते। पीछे नारायणदास ने सौ मोहर भेजी उसको नहीं रखा। प्रभु की इच्छा के अनुसार चले इस भांति वैष्णव प्रभु का गुण ही माने।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३६।।

बड़े शिक्षापत्र ३७

अब ३७वें शिक्षापत्र में बताया है कि अहर्निश अपनी निःसाधनता की भावना करनी, यह निरूपण है। उपर कहा उस प्रमाण चिंता नहीं करना और जब निःसाधन हो तब फल प्राप्ति हो, वह निःसाधनता की भावना के प्रकार का निरूपण करते हैं।

बड़े शिक्षापत्र ३७

मूलं – न शुद्धभावो नैवास्ति सर्वभावो न दीनता ।
नाज्ञापरत्वं विश्वासो न चास्ति परमादरः ।।१।।

श्लोकार्थ – शुद्ध भाव नहीं है, सर्वात्मभाव नहीं हैं, दीनता है, श्री आचार्यजी में तत्परता नहीं है, इस पुष्टिमार्ग में विश्वास नहीं है और प्रभु में आदर नहीं है। (ऐसे साधन रहित में प्रभु क्या करेगे, ऐसी भावना करना)

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि इस भांति निःसाधन जीव हो तो प्रभु निश्चय फल प्रदान करेगे। वह मेरे में निःसाधनता नहीं है। प्रथम तो शुद्ध भाव हो तब प्रभु कृपा करे व शुद्ध भाव भी नहीं है। मन में छल, कपट, ईर्ष्या इत्यादिक भरा हुआ है इसलिये श्रीकृष्ण में शुद्ध भाव नहीं है और सर्वभाव भी प्रभु में नहीं है। जो महाप्रभुजी ने चतुःश्लोकी में कहा है – **"सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः"** (सर्वदा सर्वभाव कर व्रज के अधिप (श्रीकृष्ण) भजन करने योग्य हैं।) ऐसे व्रज के अधिपति (श्रीकृष्ण) हैं, उनका भजन (सेवा) सदाही सर्वभाव कर्त्तव्य है। वह मेरे से नहीं बनता है। देह से करता हूं तो इंद्रिय मन, नहीं लगते हैं। मन में विचार होता है परन्तु देह से नहीं बनता है। मन, वचन, कर्म सर्वभाव से नहीं होता है। भला और कुछ नहीं बने तो दीनता करे उसमें प्रभु प्रसन्न होते हैं। उसके विषय में श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है – **"आचार्य चरणैरुक्तं दैन्यं त्वत्तोष साधनम्"** (हमारे श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्री सुबोधिनीजी आदि ग्रंथ में कहा है कि प्रभु को प्रसन्न करने का साधन एक दैन्य ही है) वह दैन्य मेरे से नहीं है और जिस प्रकार श्री आचार्यजी महाप्रभु की आज्ञाशास्त्र में है वह बने तब प्रभु प्रसन्न हो। वह पुष्टिमार्ग की रीति है उसके अनुसार आज्ञा पालन भी मेरे में नहीं है और इस पुष्टिमार्ग में चातक पक्षी की तरह विश्वास रखे, वह सर्वोपरि है। विश्वास बिना कुछ सिद्धि नहीं है। मेरे में विश्वास नहीं है और आदर नहीं है। आदर (परम प्रीति) हो तो प्रभु बिना अन्यत्र मन नहीं लगे वैसा प्रभु में आदर भी नहीं है।

मूलं – न सत्संगो नैव सेवा न निवेदनसंस्मृतिः ।
नाश्रयो न विवेको हि धैर्यं न शरणस्थितिः ।।२।।

बड़े शिक्षापत्र

श्लोकार्थ – सत्संग नहीं है, सेवा नहीं है, निवेदन की सुन्दर स्मृति नहीं है। आश्रय नहीं है। विवेक नहीं है, धैर्य तथा शरण में स्थिति (दृढ़ आश्रय) नहीं है।

व्याख्या – और साधन नहीं हो परन्तु सत्संग हो तो उसके करने से पुष्टिमार्ग के फल का अनुभव हो। उस पुष्टिमार्ग के सत्संग का मेरे को अभाव है। सत्संग से अष्टप्रहर भगवत्सेवा में मन लगे तो फलरूप मानसी सेवा सिद्ध हो। वह मेरे से तनुजा, वित्तजा भी नहीं बनती है। वहां मानसी तो परम दुर्लभ है। इस मार्ग में तो सेवा ही मुख्य है। जैसे ब्राह्मण गायत्री नहीं पढ़े तो ब्रह्मत्व चला जाता है वैसे ही वैष्णव सेवा नहीं करे तो वैष्णवता जाती है। मेरे से सेवा भी नहीं होती है। निवेदन का अनुसंधान इस पुष्टिमार्ग में सर्वथा चाहिए। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (निवेदन तो तादृशीय भगवदीय जन के संग निश्चय स्मरण करने योग्य है।) मेरे को तादृशीय का संग नहीं है और न निवेदन की स्मृति है। एक प्रभु का आश्रय मन में रखे यह परम साधन है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्"** (अशक्य में हरि ही सर्व है इसलिये सर्व आश्रय से सिद्ध हो) इस भांति एक श्रीकृष्ण का आश्रय नहीं है। विवेक चाहिए। श्रीआचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में कहा है – **"विवेकस्तु हरिः सर्व निजेच्छातः करिष्यति"**। हरि (भगवान्) अपनी तथा अपने भक्तों की इच्छा से सर्व करेगे यह समझना उसका (विवेक) मन में विचार हो। प्रभु ही सर्व करते हैं। जीव का किया कुछ नहीं होता है। यह विवेक वैष्णव को चाहिए वह नहीं है। वैष्णव को दुःख सुख में धैर्य चाहिए। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"त्रिदुःखसहनं धैर्यमावृतेः सर्वतः सदा। तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत्"**। मृत्यु समान संकट आ जाय अथवा मृत्यु हो जाय वहां तक सर्व ओर से सदा आध्यात्मिकतादिक त्रिविध (तीन प्रकार के) दुःख को सहन करना, वह धैर्य, तक्र (छाछ) की तरह, जड़ भरत की तरह, और व्रजभक्तों की तरह अथवा गोप की स्त्री की वार्त्ता श्री गोकुलोत्सव जी कृत टीका में है उस गोप स्त्री की तरह देह वाले की भावना कर्त्तव्य है अथवा देह की तरह भावना कर्त्तव्य है। इस भांति आध्यात्मिकतादि तीनों प्रकार के दुःख को वैष्णव सहन करे तब धैर्य देखकर प्रभु

प्रसन्न होते हैं। प्रह्लाद जी की तरह टेक चाहिए वह मेरे में धैर्य नहीं है और हरि के शरण में स्थिति हो। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है **"एहिके पारलोके च सर्वथाशरणं हरिः । दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।। भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तश्चाति क्रमे कृते । अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वार्थे शरणं हरिः।"** इस लोक में परलोक में सर्वथा हरि शरण है। दुःख की हानि में तथा पाप में, भय में, कामादिक पूर्ण नहीं हो उसमें भक्त द्रोह करे अथवा भक्त का द्रोह हो जाय उसमें भक्ति के अभाव में भक्त अतिक्रम करे अथवा भक्तों का अतिक्रम हो जाय उसमें अशक्य में तथा सुशक्य में सर्वअर्थ में शरण है। इस भांति शरण भावना रखे। श्रीकृष्णाश्रय में कहा है **"शरणस्थ समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्"** (शरण में रहने वाले जीवों के उद्धार निमित्त अथवा उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण को मैं विज्ञप्ति करता हूं) इसलिये श्रीकृष्ण के शरण जाकर रहे तो प्रभु उद्धार करते हैं। श्री गीताजी में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है **"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"** (सर्वधर्म को छोड़कर मेरे को मुख्य जान शरण ले, मैं तेरे को सर्व पापों से छुड़ाऊंगा, शोक मत कर) इस भांति प्रभु के शरण हो तो प्रभु कृपा करे मैं शरण में भी स्थित नहीं हूं।

मूलं – न माहात्म्यपरिस्फूर्तिः स्नेहस्तु न हि कुत्रचित् ।
आसक्तिव्यसनादीना कथाऽपि खलु दुर्लभा ।।३।।

श्लोकार्थ – माहात्म्य की चारों ओर से स्फूर्ति नहीं है। किसी स्थल में स्नेह नहीं है। आसक्ति और व्यसनादिक की कथा तो निश्चय दुर्लभ है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के माहात्म्य की स्फूर्ति हृदय में हो तभी प्रीति होती है। प्रभु के प्रमेय बल से गाय, गोपी, ऐसे निःसाधन को फल सिद्धि हुई है। अजामिल को पुत्र भाव के नाम से तिराया है। अविद्या रूप पूतना को एक क्षण में मारकर भक्तों की अविद्या को दूर किया है। इस पुष्टिमार्ग में स्त्री शूद्रादिकों का उद्धार श्री महाप्रभुजी ने किया है। रंचक कृपादृष्टि से भक्तों के सर्वकार्य सिद्ध होते हैं। इसलिये मेरे को क्या डर है ? इस भांति माहात्म्य की स्फूर्ति नहीं है। चित्त में जब स्नेह हो तब प्रभु प्रसन्न करने का बड़ा साधन है क्योंकि प्रथम

प्रभु में स्नेह हो, पीछे आसक्ति हो, व्यसन हो तब अनुभव हो। श्रीकृष्ण के चरणकमल में प्रेम भी नहीं है तो आसक्ति व्यसनादिक की तो कथा कहना दुर्लभ है। इसलिये प्रेम, आसक्ति और व्यसन कब हो उसको त्रिविध नामावली में कहा है **"बाललीलानाम पाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः प्रौढ़लीलाया नामपाठाद् भविष्यति ।। व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः । तस्मान्नाभत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीच्छुभिः सदा"** ।। (बाल लीला के नाम के पाठ से श्रीकृष्ण में प्रेम होता है। प्रौढ़ लीला के नाम के पाठ से आसक्ति होती है। राजलीला के नाम से श्रीकृष्ण के चरणारविंद में व्यसन होता है। इसलिये भक्ति की प्राप्ति की इच्छा वालों को सदा तीनों नाम जप करने योग्य हैं) इस कारण नाम के पाठ मन लगाकर करे तब निश्चय पुष्टिभक्ति सिद्ध हो और भक्तिवर्द्धिनी में कहा है **"ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदाभवेत्"** इसलिये प्रेम तथा आसक्ति और व्यसन जब हो उसको शास्त्र में बीज कहा है। मेरे तो स्नेह ही नहीं है। इस कारण श्रीकृष्ण के चरण में आसक्ति नहीं है और व्यसनादिक की कथा दुर्लभ है।

मूलं – भक्तिमार्गेप्रवेशो न धर्ममार्गे न च स्थितिः ।
देशादिशुद्धभावो न कालदोषान्न वैदिकम् ।।४।।

श्लोकार्थ – भक्तिमार्ग में प्रवेश नहीं है और धर्ममार्ग में स्थिति नहीं है। देशादि शुद्धभाव नहीं है, कालदोष से वैदिक नहीं है।

व्याख्या – यह पुष्टिमार्ग सर्वोपरि है, उसमें मेरा प्रवेश ही नहीं है। क्योंकि श्री वल्लभाचार्य जी के भक्तिमार्ग में ब्रह्मादिक शिवादिक का प्रवेश नहीं है। गोपालदास ने वल्लभाख्यान में गाया है – **"एवो मार्ग श्रीवल्लभवरनो ज्यां नहि प्रवेश विधि हरनो"**। ऐसा शुद्ध मार्ग जिसमें प्रवेश हो ऐसा एक भी साधन मेरे में नहीं है। इसलिये यह में मन में जानता हूं। इस सर्वोपरि भक्तिमार्ग में दोष रूप का प्रवेश नहीं है और लोकधर्म में भी स्थिति नहीं है। इसलिये यह अपने मन में जानता हूं। यह अलौकिक भक्तिमार्ग है। उसमें स्थिति नहीं हुई तो लौकिक में तो स्थिति हो, मैं लौकिक गृहादिक में स्थित नहीं हूं। देशादि शुद्धता का आश्रय नहीं है कितने ही जीव शुद्ध देश (तीर्थ) का सेवन करते हैं। काशी, प्रयाग, व्रजदेश

का आश्रय करते हैं। ऐसे देश का आश्रय भी नहीं है। वैदिक धर्म कालदोष से सिद्ध नहीं है। कर्ममार्ग में भी स्वर्गादिक फलशास्त्र में कहे हैं वे कालदोष से वैदिक धर्म सिद्ध नहीं है। संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है **"सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वात्"** (अब कलिदोष की प्रबलता से ऐसी स्थिति है) और कृष्णाश्रय में कहा है – **"नानावाद विनष्टेषु सर्व कर्म व्रतादिषु । पाषडैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।"** (सर्वकर्म और व्रतादिक नाना प्रकार के वाद कर नष्ट हुए और पाखंड का ही मुख्य प्रयत्न जिसमें है उसमें श्रीकृष्ण ही मेरी गति है) इस भांति कलिकाल को पाकर मर्यादामार्ग के साधन सब नष्ट हुए जिससे मैं वैदिक कार्य में भी नहीं हूं।

मूलं – न च व्यावृत्तिराहित्यं व्यावृत्तौ न हरौ मनः ।
न त्यागश्चापि सेवार्थं स्वतंत्रस्य तु का कथा ।।५।।

श्लोकार्थ – व्यावृत्ति रहितपना नहीं है। व्यावृत्ति में भी हरि में मन नहीं है और सेवा के लिये त्याग भी नहीं है तो मन को अपने वश करके स्वतंत्र होने की तो वार्त्ता ही क्या?

व्याख्या – मैं अव्यावृत्त भी नहीं हूं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है **"अव्यावृत्तो भजेतकृष्णं पूजा श्रवणादिभिः।"** (अव्यावृत्त होकर पूजा (सेवा) और श्रवणादिक कर श्रीकृष्ण को भजे) इस भांति अव्यावृत्त होकर भगवद् धर्म (सेवा) करे, कथा सुने वह अव्यावृत्त नहीं है। व्यावृत्त करते हुए भी हरि में चित्त चाहिए। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है **"व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा"** (व्यावृत्तियुक्त स्थापित करे और सदा हरि में चित्त का श्रवणादिक में यत्न करे) इस प्रकार व्यावृत्ति करने में भी भगवान् में मन नहीं है जैसे संतदासजी कोडी बेचते किसी से बोलते नहीं थे। भगवत्सेवार्थ देह, इंद्रिय मन से लौकिक वैदिक का त्याग नहीं है। जो त्यागा नहीं हो तो सेवा नहीं बनती है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सेवाफल में कहा है **"उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगो वा स्यातु बाधकः"** (उद्वेग, प्रतिबंध और भोग यह बाधक है) जो बाधक है उसका त्याग करना। उसके विषय में सेवाफल में कहा है – **"बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथा परम्"** (बाधकों का परित्याग करना भोग में भी लौकिक का त्याग करना) उद्वेग,

प्रतिबंध, भोग (विषयार्थ अच्छा खानपान) उसका त्याग भी सेवार्थ नहीं है। स्वतंत्र नहीं है। देह इंद्रियों के वश हो क्योंकि जो विषयादिक भोग का त्याग नहीं है। उसको स्वतंत्रता की कथा क्या ? इस भांति मन सब स्थान पर (लौकिक वैदिक से) स्वतंत्र होकर के प्रभु शरण नहीं हैं।

मूलं – न कृष्णविरहस्फूर्तिः संयमो न च वाग्दृशोः ।
नौदासीन्यमभक्तेषु नानासक्तिर्गृहादिषु ।।६।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्ति नहीं, वाणी और मन का संयम (निरोध) नहीं, अभक्तों में उदासीनता नहीं, गृहादिकों में अनासक्ति नहीं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्ति भी नहीं है क्योंकि जो श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्ति सर्व वैदिक लौकिक कार्य की विस्मारक है। विरह में दैन्य हो जैसे रासपंचाध्यायी में प्रभु अंतर्धान हुए तब मुख्य भक्त का विरह हुआ तब दैन्य कहा **"हा नाथ! रणम! प्रेष्ठ! क्वासि क्वासि महाभुज! दास्यास्ते कृपणायामे सरवे दर्शय सन्निधिम्"** (हा नाथ! रमण! प्रिय! कहां हो ? कहां हो ? हे बड़े भुजा वाले! हे सखे! आपकी दासी मैं हूं उनको सन्निधि बताओ अर्थात् दर्शन देओ) तथा सब व्रजभक्त रुदन करने लगे ऐसा दैन्य हुआ तब प्रभु प्रकट हुए। इसलिये यह पुष्टिमार्ग केवल विप्रयोग फलरूप है। ऐसे फलरूप विप्रयोग की स्फूर्ति नहीं है और वाणी का तथा नेत्रों का संयम भी नहीं है। श्री भागवत में कहा है – **"बर्हायिते ते नयने नाराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत! न चोपगायत्युरु गायगाथाः ।।"** (जो नेत्र भगवान् के चिह्न का दर्शन नहीं करते हैं। वे नेत्र मोर की चन्द्रिकावत् (अर्थात् कुछ अपने उपयोग का नहीं) और जो जिह्वा उरुगाय (बहुत ने गाये ऐसे भगवान्) की कथा का गान नहीं करते हैं वह जिह्वा दुष्ट दादुर (मेंढ़क) की तरह (व्यर्थ) रहने वाली है) ये दो महाबाधक हैं क्योंकि जो वाणी का निरोध नहीं हो तो मुखरता दोष होता है और नेत्रों से दोष देखना इसमें हृदय दोष रूप होता है। इसलिये वाणी और नेत्र का अवश्य निग्रह चाहिए। वह नहीं हैं और भगवान् के जो भक्त नहीं उनमें उदासीनता चाहिए तथा भगवदीय में स्नेह चाहिए क्योंकि जो इनके संग से इस पुष्टिमार्ग का फल सिद्ध होता है। यह निश्चय सिद्धान्त है। भगवदीय से स्नेह नहीं और

अभक्त में उदासीनता नहीं है। इसलिये इस मार्ग में आवेश कैसे होगा ? और गृहादिक कार्य में मन से आसक्त हो यह महा बाधक है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने स्थान–स्थान पर दूषण कहे हैं। श्री भागवत में भी सब स्थान पर प्रसिद्ध है कि जो गृहादिक लौकिक कार्य में आसक्त है उनको भगवान् के धर्म दुर्लभ है। इसलिये गृहादिक में अनासक्ति चाहिए। (अर्थात् आसक्ति नहीं चाहिए) वह नहीं हैं। मैं गृहादिक में आसक्त हूं।

मूलं – **नाहंकारादिराहित्यं न स्वधर्मपरिग्रहः ।**
नान्यधर्मनिवृत्तिश्च किं करिष्यति मत्प्रभुः ।।७।।

मयि दोष निधाने तु सर्वसद्‌गुणवर्जिते ।
निःसाधनत्वमेवं हि स्वस्य नित्यं विभावयेत् ।।८।।

श्लोकार्थ – अहंकारादिकों से रहितपना नहीं, अपने धर्म जो भक्तिमार्ग है उसका सब ओर से ग्रहण नहीं और अन्य धर्म की निवृत्ति नहीं उपर के कहे सारे दोष का निधान (भंडार) रूप और सर्व सद्‌गुण से वर्जित मैं हूं। मेरे प्रभु (स्वामी श्रीकृष्ण) क्या करेगे। ऐसे नित्य अपनी निःसाधनता की भावना करना।

व्याख्या – अहंकार भक्तिमार्ग में बाधक है। विवेक धैर्याश्रय में श्री आचार्य महाप्रभुजी ने कहा है – **"अभिमानश्चसंत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात्"** (स्वामी की आधीनता की भावना से अहंकार अच्छी रीति से छोड़ना) स्वतंत्र हो वह अहंकार करे यह दास का धर्म नहीं है। इसलिये दास होकर के अहंकार करे तो दासधर्म जाता रहे, इसलिये दास का तो अपने स्वामी श्रीकृष्ण के अधीनत्व की भावना कर्त्तव्य है। मैं अहंकार रहित नहीं हूं और पुष्टिमार्गीय वैष्णव को अपने धर्म का परिग्रह चाहिए, दृढ़ता चाहिए। जैसे छीतस्वामी से बीरबल ने कहा कि तुम पद में श्री गुसांईजी को श्री ठाकुरजी का रूप करके गाते हो, यदि देशाधिपति पूछेगा तो क्या जवाब देओगे। इतना सुनते ही छीतस्वामी ने कहा कि मेरे अनुसार तो तुम ही म्लेच्छ हो। जा आज पीछे तेरा मुख नहीं देखूंगा। ऐसे कहकर वरसों दीभी (वार्षिक कर) छोड़ कर चले आये। इस भांति अपने स्वधर्म की रक्षा करे काम, क्रोध, मद, मत्सर इनसे रक्षा करे मैं तो किसी प्रकार स्वधर्म का परिग्रह नहीं करता हूं और इस पुष्टि मार्ग से अन्य जितने धर्म हैं वे सारे पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के बाधक हैं। मैं अन्य धर्म

से निवृत्त नहीं हूं। ऐसे बत्तीस दोष संयुक्त मैं हूं। मेरे स्वामी श्रीकृष्ण ! तुम मेरे स्वामी हो क्या करोगे ? त्याग करोगे या अंगीकार करोगे ? यह मेरे को नहीं जान पड़ता है। अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि जो उपर दोष कहे हैं वे बत्तीस हैं। ऐसे मत जानना, मैं दोष का निधान हूं। अपार दोष हैं। गिनते गिनते जिनका पार नहीं हैं, इतने दोष हैं और सुंदर गुण से रहित हूं। एक भी गुण मेरे में नहीं है। वे प्रभु क्या करेगे ? इस भांति निःसाधनता की भावना नित्य ही कर्त्तव्य है। क्योंकि जो निःसाधनता हो उस पर दया कर उनके हृदय में प्रभु पधार कर अनुभव कराते हैं।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३७।।

बड़े शिक्षापत्र ३८

अब ३८वें शिक्षापत्र में बताया है कि व्यापि वैकुंठ में भगवान् पूर्णानंद है और रमा वैकुंठ में विभूतिरूप है। जैसे व्यूहरचना में स्थित पुरुष किसी को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे व्यूहमध्य में स्थित पुरुषोत्तम अभक्तों को गम्य नहीं है। भावात्मक प्रभु तो सदा ही रसात्मक लीला करते हैं अन्य कार्य नहीं करते हैं और भूभार हरणादिक तो अंश का कार्य है। धर्मीमात्र अपनी मर्यादा रहित व्रज में है और सर्वधर्म विशिष्ट मर्यादा सहित मथुरा जी में है। परमानंद रूप बाललीलादि भेद से उच्छ्रंखल लीला व्रज में की है वह सर्व लीला में रसरूपपना गूढ़ भाव से वर्णित हैं। ऐसे मूल लीलायुक्त मूलरूप श्रीकृष्ण में निरंतर चित्त स्थापन करना वही अपने मार्ग की सेवा है। इनकी सिद्धि के लिये तनुजा, वित्तजा सेवा करनी और तादृशीय भक्तों के संग निवेदन का अनुसंधान करना, यह पुष्टिमार्ग प्रवर्त्तक श्री आचार्यजी में सुदृढ़ स्नेह रखना और इनके मार्ग में दृढ़ विश्वास रखना, उससे सर्व सिद्ध होगा। उपर कहा है कि उपर अपने दोष की भावना कर निःसाधन होकर रहे तथा दैन्य करे तो आगे उन वैष्णवों का क्या कर्त्तव्य है ? उसका वर्णन उसमें इस व्रज में भावात्मक रसात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सदा भक्तों के साथ लीला करते हैं। ऐसे श्रीकृष्ण सर्वोपरि है। उनका अनुभव हो तब सर्वफल सिद्ध हुआ, यह निरूपण है।

बड़े शिक्षापत्र ३८

मूलं – कृष्णे रसात्मके नित्यं गोपिकामंडलस्थिते ।
यमुनापुलिनांतस्थवृंदावनविराजिते ।।१।।

नित्यगानरसाविष्टे विशिष्टेऽक्षरतः क्षरात् ।
भावैकगम्ये सर्वत्र प्रसिद्धे पुरुषोत्तमे ।।२।।
यस्यावतारः पुरुषः आद्यो ब्रह्मांडविग्रहः ।
तस्यांशा एव ये भूमौ मत्स्याद्या इति बुध्यताम् ।।३।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण कैसे हैं ? रसात्मक, नित्य गोपिकाओं के मंडल में विराजित, श्री यमुनाजी के पुलिन के समीप में श्री वृंदावन में विराजित, नित्य गान रस में आविष्ट, क्षर और अक्षर से श्रेष्ठ (भक्तों को) भावगम्य, सर्वत्र प्रसिद्ध, पुरुषोत्तम रूप है। जिनका आद्य अवतार ब्रह्माण्ड स्वरूप पुरुष है (जिनको विराट पुरुष कहते हैं) भूमि पर मत्स्यादिक अवतार है वह उस पुरुष के ही अंश है। ऐसे ''उपर दो श्लोकों से निरुपण किया है ऐसे'' श्रीकृष्ण में बुद्धि रखनी।

व्याख्या – यह श्री वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्ग में रसात्मक श्रीकृष्ण सेव्य हैं। वे किस प्रकार व्रज में विराजते हैं वह कहते हैं कि जो गोपीजन (व्रजभक्त) के मण्डल में स्थित हैं। श्रीकृष्ण रसात्मक हैं। वे इस भांति नित्य श्री स्वामिनीजी के संग रासलीलादि करते हैं। वे लीला कौनसे स्थान पर करते हैं, वह कहते हैं श्री यमुनाजी के पुलिन के मध्य श्रीवृंदावन में विराजते हैं। ''**कृष्णोरसात्मको नित्यं गोपीकामंडले स्थितः । यमुनापुलिनांतस्थ वृंदावनविराजितः ।। नित्यगानरसाविष्टो विशिष्टोऽक्षरतः क्षरात् । भावैकगम्यैः सर्वत्र प्रसिद्धः पुरुषोत्तमः ।।**'' ऐसे दो श्लोक में पाठभेद हैं, उसके अनुसार अर्थ – श्रीकृष्ण रसात्मक हैं, नित्य गोपिकाओं के मंडल में विराजित हैं। श्री यमुनाजी के पुलिन (तट) के समीप श्री वृंदावन में शोभित हैं, नित्य गानरस से आविष्ट हैं। क्षर तथा अक्षर से श्रेष्ठ हैं (भक्तों के) भाव से ही गम्य है और सर्वत्र प्रसिद्ध श्री पुरुषोत्तम हैं जैसे श्रीकृष्ण रसात्मक हैं वैसे श्री यमुनाजी रसात्मक हैं वैसे ही श्री यमुनाजी के पुलिन रसात्मक हैं। पुलिन मध्य श्री वृंदावन भी रसात्मक है। वहां भक्ति सहित श्रीकृष्ण विराजते हैं। श्री

बड़े शिक्षापत्र

आचार्यजी महाप्रभु ने श्री यमुनाष्टक में कहा है – **"तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पां बुना सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम्"** (तट में रहे ऐसे नवीन वन के प्रकट सुगंधयुक्त पुष्प के मकरंद से सुर और असुर से पूजित ऐसे स्मरपिता (श्रीकृष्ण) के शोभा को धारण करने वाली (श्री यमुनाजी को) नमन करता हू) इस भांति श्री यमुनाजी के तट मध्य श्री वृंदावन में प्रभु विराजकर दो प्रकार की लीला करते हैं। प्रथम स्थल क्रीड़ा करते हैं उसमें श्रम होने से जलक्रीड़ा करते हैं। इस भांति सदा सर्वदा विराजते हैं। यह स्मरण कर्त्तव्य है। **"स्मर्त्तव्यो गोपिका वृंदे क्रीडन् वृंदावने स्थितः"** श्री वृंदावन में स्थित, श्री गोपीजन के वृंद में क्रीड़ा करने वाले श्रीकृष्ण स्मरण करने योग्य हैं। श्री वृंदावन में श्री यमुनाजी के तीर नित्य गान रासादि लीला के दो प्रकार हैं। एक अवतार लीला और एक मूल लीला, उसमें अवतार लीला में प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल यह क्रम है। उसका श्री भागवत दशम स्कंध में निरूपण किया है। प्रथम श्री ठाकुरजी के प्राकट्य पहले शास्त्र में कहे हैं वैसी तपस्या प्रमाण रीति से कर तब प्रभु प्रकट होकर प्रमेय बल जताकर वरदान दिया। वह सब बात श्री वसुदेवजी देवकीजी के यहां व्यूह रूप प्रकट होकर जताया है। वह श्री नंदरायजी श्री यशोदाजी के वहां विप्रयोगात्मक भाव रूप प्रकटे वहां जन्म महोत्सव से प्रमाण लीला के क्रम से माखन चोरी, रींगणलीला इत्यादिक अनेक लीला कर सुख दिया। वहां प्रमेयबल प्रकट कर अनेक लीला वेणुगीत पर्यंत कर पीछे प्रभु मिलने की कामना से कुमारिका ने कात्यायनी अर्चन किया। वहां से लेकर श्री गोवर्धनोत्सव तथा व्यापिवैकुंठ अक्षरधाम के दर्शन कराये वहां तक साधन जताये पीछे रासपंचाध्यायी से युगलगीत पर्यंत फल जताया। यह अवतार दशा में क्रम कहा है और मूल लीला में सदा नित्य लीला है। वह क्षर जो देहादि तत्व और अक्षर जो सर्वत्र व्यापक ब्रह्म इन दोनों से श्री पुरूषोत्तम श्रेष्ठ हैं। उसको गीताजी में कहा है – **"यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।"** (जिसमें क्षर से अतीत हो और अक्षर से भी उत्तम हो उसको लोक में तथा वेद में पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हो) ऐसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा है कि जो भाव से जाने जाते हैं साधन बल से नहीं जाने जाते हैं। ऐसे रसात्मक पुरुष का एक अवतार विराट् स्वरूप है। जिसको श्री भागवत गीता में यह ब्रह्मांड इनका विग्रह

(श्री अंग) है। अपार मस्तक, अपार भुजा, अपार चरण तथा आकाश मस्तक, पाताल चरण, वृक्षादिक रोमावलि यह समस्त ब्रह्माण्ड का मूल प्रभु का आद्य अवतार है वह अर्जुन को दिखाया है, तब युद्ध किया। ऐसे विराट स्वरूप के अंशावतार मत्स्यकूर्मादि हैं वे जितने कार्य हो उतना करके माहात्म्य जताते हैं। उतने कार्य करणार्थ यह अवतार है। जैसे समुद्र मंथन समय मंदराचल डूबने लगा तब कच्छप रूप होकर धारण किया और श्री वामनजी श्री नृसिंहजी, श्री रामचन्द्रजी और चतुर्व्यूह संयुक्त वसुदेव देवकी जी के यहां प्रकट हुए, ये चारों अवतार भक्तोद्धारक हैं। इसलिये इनकी चारों जयंती को भक्तजन मानते हैं और अवतारों को नहीं। धर्मशास्त्र मर्यादा में भी ये चारों जयंती की आवश्यकता है। इस प्रकार पृथ्वी पर अनेक अवतार ले लीला कर प्रभु भक्तों के अर्थ अपना माहात्म्य प्रकट करते हैं।

मूलं – **अक्षर धाम वैकुठं व्यापि वैकुठंसंज्ञकम् ।**
ब्रह्मानंदस्तत्र लक्ष्मीः' पूर्णानंदो हरिः स्वयम् ।।४।।

रमा वैकुंठवासी तु विभूतिर्यस्य वैष्णवी ।
रमा तु पालिका तत्र शक्तिरित्यवगम्यताम् ।।५।।

श्लोकार्थ – व्यापि वैकुंठ नाम है जिनका ऐसे अक्षरधाम वैकुंठ है वहां ब्रह्मानंद है वह लक्ष्मी है और पूर्णानंद आप हरि हैं और वैकुंठवासी विष्णु हैं वे (पूर्णानंद हरि की) विभूति है। जिनकी वैष्णवी रमा (लक्ष्मी) शक्ति है। वह वैकुंठ में पालन करने वाली है। ऐसे जानना।

व्याख्या – अक्षरधाम है वह व्यापि वैकुंठ है भीतर प्रभु बिराजते हैं। वह लोकालोक पर्वत से परे जहां अर्जुन को ले जाकर दर्शन कराये वह सभी का मूल है। इनकी व्यापि वैकुंठ संज्ञा (नाम) है। वह व्यापि वैकुंठ सब में व्यापक है, उसके भीतर प्रभु बिराजते हैं। जैसे भूमि पर पुष्टिमार्ग की रीति से प्रभु बिराजते हैं लीला का अनुभव होता है वह व्यापि वैकुंठ सबमें है। फिर भी पृथक् अनुभव होता है। उसमें प्रभु के दर्शन (भीतर) होते हैं। वैसे ही अक्षर सब में व्यापक है और सबसे पृथक् है। उसके भीतर भक्तों को प्रभु का अनुभव होता है। जैसे ॐकार सबसे अलग है और सब वेद का मूल है तथा सब में रहा है वैसे व्यापि वैकुंठ है।

उसी से ज्ञानी की दृष्टि व्यापि वैकुंठता की पहुंच है वह सब स्थान पर व्यापक मानते हैं। इसलिये इनका दास भाव छूट जाता है और भक्तों का सब ठोर व्यापक है। उनका तथा व्यापक है। उनका ही अनुभव है इसलिये व्यापक को जानकर अलग अनुभव हो वहां मानते हैं। अपने को दास जानते हैं। ऐसे अक्षरधाम वैकुंठ में ब्रह्मानंद रूप लक्ष्मी है। इसलिये अक्षर ब्रह्म के उपासना वाले ब्रह्मानंद रूप लक्ष्मी जी में युक्त होता है। इनको पूर्णानंद हरि का पृथक् अनुभव नहीं होता है। इनका ब्रह्मानंद ही मोक्ष है और एक रमा वैकुंठ है जहां सनकादिक ने जयविजय को शाप दिया। यह वैकुंठ अक्षरधाम की विभूति है। वहां के वासी विष्णु हैं। वह पूर्णानंद हरि की विभूति है। वहां की लक्ष्मी पालिका शक्ति है। पुरुषोत्तम की द्वादश शक्ति है। उसमें यह पालिका शक्ति है। इस प्रकार जहां जैसे प्रभु बिराजते हैं वहां वैसे ही लक्ष्मी बिराजती है। श्रीकृष्णावतार सबका मूल भूत है उसका प्रकार आगे कहते हैं–

मूलं – मूलभूतस्यावतारे मूर्तिव्यूहोमिधीयते ।
प्रद्युम्नो वासुदेवश्चनिरुद्धोऽनंत एव च ।।६।।

व्यूहं विरच्य यस्तत्र स्थाप्यते प्राप्यते न सः ।
तथैतैरावृतः कृष्णो नावतारेऽवगम्यते ।।७।।

श्लोकार्थ – मूलभूत (श्रीकृष्ण) के अवतार में अथवा अवतार रूप मूर्ति व्यूह कहते हैं। प्रद्युम्न, वासुदेव, अनिरुद्ध और संकर्षण इस व्यूह को रचकर जो इनमें स्थापन किया जाता है वह प्राप्त नहीं होता है। इस व्यूह से आवृत्त श्रीकृष्ण अवतार में गम्य नहीं होता है।

व्याख्या – अब वसुदेवजी के यहां प्रकट है, उसे कहते हैं। सर्व अवतारों का मूलभूत यह है। मूर्त्ति तो एक है और चतुर्व्यूह प्रकट हुए हैं उन व्यूह के नाम कहते हैं। प्रद्युम्न, वासुदेव, अनिरुद्ध और संकर्षण उसके श्लोक में चकार हैं इसलिये यह जानना। श्वेत केश और श्याम केश इन्हीं सहित षट् प्रकार का स्वरूप प्रकट हुआ। वह दुष्टों के नाशकरणार्थ, मोक्षदानार्थ वंश वृद्धयर्थ और भक्तों की रक्षा करणार्थ इत्यादिक अनेक कारण हैं। इन चारों व्यूहों के भीतर पुरुषोत्तम हैं। उनका जन्म (अवतार) नहीं है। उस विषय में श्री भागवत में कहा है – **"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् । स्थिरचरवृजिनघ्नः सस्मितश्रीमुखेनव्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ।।"** (जिनके

निवासरूप तथा जन हैं निवास का स्थानक जिनका, देवकी जी के यहां हैं जन्म की वाद (नाम कथन) मात्र जिनका, यदुकुल के सब बड़े यादव हैं सभा जिनकी अपने श्रीहस्त से अधर्म का नाश करने वाले, स्थावर जंगम के दुःख को मिटाने वाले, व्रज तथा पुर की स्त्रियों को हास्ययुक्त मुखारविंद से कामदेव को बढ़ाने वाले श्रीकृष्ण सब से अधिक बिराजे हैं) इत्यादिक वचन से देवकीजी के उदर से जन्म कथन मात्र है। जैसे पूर्व दिशा से चन्द्र, सूर्य प्रकट होते हैं, इस प्रकार जानना। इस प्रकार चतुर्व्यूह को रचकर आप श्रीकृष्ण भीतर स्थापित विराजते हैं। वहां कोई कहे कि ऐसे श्रीकृष्ण सहित चतुर्व्यूह है। तब चतुर्व्यूह का पूजन करिये इतने में श्रीकृष्ण का हुआ इस प्रकार कोई संदेह करे वहां कहते हैं कि यद्यपि व्यूह से आवृत्त श्रीकृष्ण है तब भी इन चारों व्यूह अवतारों की उपासना पूजन से श्रीकृष्ण अवगाहे नहीं जाते हैं क्योंकि जो पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सर्व में हैं और सबसे पृथक् हैं। इसलिये व्यूह है वह पुरुषोत्तम के आज्ञाकारी हैं। जितनी प्रभु की आज्ञा है उतना कार्य करके फिर अपने धाम में पधारेंगे और श्रीकृष्ण तो नित्य लीला विनोद करते हैं। इसलिये व्यूह की उपासना कर स्वर्गलोक तथा सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य, सालोक्य इस चार प्रकार की मुक्ति मिले, मुख्य फल भक्ति रस की प्राप्ति नहीं है। इस कारण सर्वोपरि श्रीकृष्ण ही है। उन्हीं की पृथक् भक्ति करे मिलिभक्ति में फल की न्यूनता प्राप्त होती है। इस प्रकार जीव सत्संग विना श्रीकृष्ण के माहात्म्य को नहीं जानता है वह कहते हैं।

मूलं – अत एव जना भ्रांताः प्राकृतं तं वदंति हि ।
अंशकार्यं मूलरूपे कल्पयंत्यज्ञतांगताः ।।८।।

श्लोकार्थ – इसी कारण मनुष्य भ्रांत हो गये हैं, वे श्रीकृष्ण को प्राकृत कहते हैं। अज्ञता को प्राप्त हुए ऐसे जीव अंश का कार्य फलरूप में कल्पना करते हैं।

व्याख्या – अंश तो चतुर्व्यूह है वह अनेक लीला जगत में करता है। मथुरा से भागकर फिर कहीं सोच करते हैं। किसी की टहल करते हैं। मिलकर अनेक प्रकार के विचार करते हैं। यह लीला देखकर कितने ही जीव जो अज्ञानी हैं वे मूढ़ मोह के वश से प्राकृत की तरह श्रीकृष्ण को जानते हैं। अवतार दशा में कोई एक भगवदीय प्रभु को जानते थे और कोई नहीं जानते। अब कलि के जीव की क्या है ? क्योंकि जो अंशावतार के लीला का कार्य

को देखकर सब कोई यह कहता कि श्रीकृष्ण ने यह कार्य किया। ऐसे अज्ञान से मिथ्या कल्पना कर मूल रूप श्रीकृष्ण का नाम कहते हैं। उसी से सभी का नाश हुआ। एक उद्धव जी भक्त थे वे शाप से छूटे इसलिये श्रीकृष्ण की भक्ति होनी अति दुर्लभ है। श्रीकृष्ण को केवल आनंदमय रसात्मक लीलाकर्त्ता जाने और स्थान जैसा कार्य वैसी व्यूह की लीला जाने, यह भाव दृढ़ रहे तब श्रीकृष्ण में भाव उत्पन्न हो, वह श्रीकृष्ण कैसे हैं वह आगे वर्णन करते हैं।

मूलं – कृष्णस्तु केवलं लीलां करोति रसरुपिणीम् ।
भूभारहरणं चक्रे कलाभ्यामेव सर्वथा ।।९।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण तो केवल रसरूप लीला ही करते हैं और भूभार हरण सर्वथा कला कर के किया है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण तो सदा सर्वदा व्रजभक्तों के संग रसरूप लीला करते हैं। वह कहने में नहीं आती है। जो निजजन श्री आचार्यजी महाप्रभु के अंतरंग भक्त हैं उनको मन में अनुभव करने योग्य हैं। इसलिये (मानादि विहारादि) रसरूप लीला कहा। इस भांति श्रीकृष्ण तो सदा सर्वदा श्री वृंदावन में विराजते हैं और पृथ्वी पर दैत्य, राक्षस के पाप होते हैं वे भूभार हरणार्थ श्रीकृष्ण कलावतार धर के दुष्टों को मारकर देवताओं की रक्षा करते हैं। इस भांति व्रज में नित्य एकरस लीला है। कला से सृष्टि का कार्य करते हैं।

मूलं – परमानंददानं तु स्वरुपेणेति निश्चयः ।
व्रजस्थ एव सततं पुरस्थो वा कृपापरः ।।१०।।

तत्रापि रुपभेदेन क्रीडति स्म तथा रसः ।
धर्मिमात्रं स्वमर्यादारहितं केवलं व्रजे ।।११।।

श्लोकार्थ – व्रज में विराजते हैं वे निरंतर परमानंद का दान करते हैं और मथुराजी में विराजते हैं वे कृपायुक्त होकर फलस्वरूप से परमानंद का दान करते हैं, यह निश्चय है। उसमें भी रसरूप प्रभु रूप भेद से क्रीड़ा करते हैं, अपनी मर्यादा रहित केवल धर्मिमात्र रूप व्रज में हैं।

व्याख्या – परमानंद का दान तो सदा व्रज में लीला कर्त्ता श्रीकृष्ण ही से होता है। मधुपुरी तथा द्वारिका में स्थित स्वरूपों की कृपा बहुत हो तब कहीं परमानंद का दान होता है। नहीं तो उन स्वरूप से मोक्ष का फल होता है क्योंकि जो व्रज में स्थित हैं, वे निरंतर आनंद रूप लीला करते हैं और पुरी में स्थित हैं वे व्यूह सहित हैं। इसलिये जो जीव मथुरास्थ श्रीकृष्ण का आश्रय करता हैं उनको सदा आनंद नहीं है। उन पुरी के स्वरूप द्वारा वैसा ही फल है। यह स्वरूप मर्यादा सहित है इसलिये मर्यादामार्गीय रसदान करते हैं। श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन के प्रति कहा है – **"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्"** (जीव जिस भाव से जिस स्वरूप का आश्रय करे उनको वैसा फल सिद्ध होता है। प्रभु उसी भाव से उस जीव को भजते हैं) वैसे ही फल प्राप्त होता है। इस भांति श्रीकृष्ण अनेक स्वरूप धर जगत में स्थान–स्थान पर क्रीड़ा करते हैं जहां जैसा स्थल है वहां वैसा ही स्वरूप है। वहां वैसा ही रस है। व्रज में केवल मर्यादा रहित धर्मिरूप लोकवेदातीत रसात्मक स्वरूप सदा विहार करता है।

मूलं – **सर्वधर्मविशिष्टं तु समर्यादं पुरे मतम् ।**
उच्छ्रंखला तु या लीला केवलेन व्रजे कृता ।।१२।।

परमानंदरुपा सा बाललीलादिभेदतः ।
सर्वत्र रसलीलात्वं गूढभावेन वर्णितम् ।।१३।।

श्लोकार्थ – सर्वधर्मयुक्त मर्यादा रहित स्वरूप तो मधुपुरी तथा श्री द्वारिका में माना है और जो उच्छ्रूंखल (मयार्दा रहित) लीला है वह केवल (रसात्मक) स्वरूप से व्रज में की है। वह बाल लीलादिक के भेद से परम आनंद रूप सर्वत्र गूढ़ भाव कर रसलीलापन का वर्णन किया है।

व्याख्या – सर्वधर्म सहित मर्यादायुक्त स्वरूप श्री मथुराजी तथा द्वारिका में विराजते हैं और उच्छलित रसरूप पुष्टि पुरुषोत्तम व्रज में (उच्छ्रंखल लीलायुक्त) हैं इसलिये मधुपुरी द्वारिका के स्वरूप में तथा व्रज के स्वरूप में भेद हैं, वैसा फल में भी भेद है। इसलिये व्रजस्थस्वरूप की भावना कर्त्तव्य है। व्रज में श्री यशोदोत्संग लालित श्रीकृष्ण परमानंद रूप

है, बाललीला पौगंडलीला, किशोर लीला ये सारी लीला सब स्थान पर रस रूप ही है। श्री गुसांईजी ने गूढ़ भाव से ग्रंथ में वर्णन किया है, उस भाव से समग्र लीला जाननी चाहिए। यह गूढ़ भाव वर्णन में नहीं आवे, अंतरंग भक्तों को मन में अनुभव करने योग्य है। ऐसा रसात्मक स्वरूप व्रज में बिराजता है।

मूलं – **कामरूपतया कृष्णे वयो न हि नियामकं ।**
एतादृशे मूलरूपे मूललीलासमन्विते ।।१४।।
चित्तं निरन्तरं स्थाप्यं सैव सेवा स्वमार्गगा ।
तत्सिद्धयर्थंशरीरेण वित्तेनापि विधीयताम् ।।१५।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण में कामरूपपन से अवस्था नियामक नहीं है। ऐसे मूल लीलायुक्त मूलरूप में चित्त निरंतर स्थापित करना, वही अपने मार्ग की सेवा है। उसकी सिद्धि के अर्थ शरीर से और धन से भी (सेवा) करना।

व्याख्या – व्रज में श्रीकृष्ण कोटि कामरूप व्रजभक्तों को सुखदानार्थ प्रकट हुए, इसलिये **"साक्षान्मन्मथमन्मथः"** (ऐसे रासपंचाध्यायी में कामदेव को कामदेव कहा है वहां अवस्था का नियम नहीं है) जन्म से ही रसदान किया है। श्रीभागवत में कहा है **"जयति जन निवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् । स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्।।"** मनुष्यों के निवास रूप श्री देवकीजी से जन्म का है वाद मात्र जिनका, (अर्थात् श्री देवकीजी से जन्म लिया है यह कथन मात्र है) उत्तम यादव जिनके सभारूप है, अपने हाथों से अधर्म को मिटाने वाले स्थावर जंगम के दुःख को निवृत्त करने वाले, हास्ययुक्त मुखारविंद से व्रज के तथा मधुपुरी द्वारिका के स्त्रियों को कामदेव की वृद्धि करने वाले प्रभु सर्व से अधिकता से विराजते हैं। इस भांति व्रज की वनिता के काम की वृद्धि करते हैं और श्री गुसांईजी पलना में कहते हैं – **"मानिनी मानहरणं"** श्री यशोदाजी के आगे पलना में झूलते हैं और स्वामिनीजी का मान भी मनाते हैं (मान हरते हैं)। इस भांति बाल लीला में एक कालावच्छिन्न समस्त लीला करते हैं। यह विरुद्ध धर्माश्रय स्वरूप व्रज में है ऐसे मूलरूप श्रीकृष्ण मूल लीला सहित व्रज

में है। जैसे मूल रूप श्रीकृष्ण सदा एकरस व्रज में लीला करते हैं वैसे ही मूलरूप लीला ही सदा एक रस है। यह कहकर यह जताया है कि जो श्रीकृष्ण नित्य है वैसे श्रीकृष्ण की लीला भी नित्य है। उपर कहा कि ऐसे श्रीकृष्ण सर्व के मूल रूप रसात्मक हैं। इनका निरंतर चित्त में स्थापन करना वही रसात्मक सेवा अपने मार्ग में है। इसलिये चित्त में निरन्तर ऐसे प्रभु का लीला सहित अनुभव करे वह मानसी सेवा जानना। उसकी सिद्धि के अर्थ शरीर से तथा वित्त से सेवा नित्य नियमपूर्वक कर्त्तव्य है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने सिद्धान्त मुक्तावलि में कहा है – **"कृष्णसेवा सदाकार्या मानसी सा परामता। चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा।।"** (श्रीकृष्ण की सेवा सदा करना, उसमें मानसी उत्तम मानी गयी है, चित्त प्रभु में लीन करना वह सेवा जानना, उसकी सिद्धि के अर्थ तनुजा, वित्तजा करना) इस वचन से श्रीकृष्ण की तनुजा, वित्तजा सेवा नित्य नियमपूर्वक करे तब मानसी सिद्ध होती है। यह पुष्टिमार्ग की रीति है।

मूलं – निवेदनानुसंधानं विधेयं तादृशैः सह ।
सत्संग एव कर्त्तव्यो विश्वासः स्थाप्यतां दृढ़ ।।१६।।

श्लोकार्थ – निवेदन का अनुसंधान तादृशीय भगवदियों के संग करना सत्संग ही करना, दृढ़ विश्वास स्थापित करना।

व्याख्या – ऐसे श्रीकृष्ण में भाव प्रकट हो उसके लिये पुष्टिमार्गीय तादृशीय वैष्णव से मिलकर निवेदन का अनुसंधान करे जिससे सत्संग भी नित्य नियम से करे और भगवदीय के वचन को अपने मन में चातक पक्षिवत् दृढ़ विश्वास से रखे तब ऐसे श्री (श्रीकृष्ण के स्वरूपानंद का) अनुभव हो।

मूलं – कृष्णः कृपापराधीनो दीनानामनुपेक्षकः ।
स्वकीयानामन्यभावात्करिष्यत्यवनंस्वतः ।।१७।।

श्लोकार्थ – श्रीकृष्ण की कृपा से पराधीन है, वे दीनजन की उपेक्षा नहीं करते हैं। वे अपने जनों की अनन्य भाव से स्वतः रक्षा करेगे।

व्याख्या – श्रीकृष्ण कैसे हैं जो कृपा करके अपने दास के आधीन हैं। भगवदीय ने गाया है – **"भक्तविरहकातर करुणामय डोलत पाछें लागे"** ऐसे श्रीकृष्ण प्रसिद्ध हैं। अर्जुन का रथ हांका, पांडवों के आज्ञाकारी हुए और व्रजभक्तों से एक क्षण अलग नहीं रहते हैं।

इस भांति श्रीकृष्ण कृपा कर अपने भक्त के आधीन हैं। इसलिये पुष्टिमार्ग में श्री आचार्यजी द्वारा शरण होकर निःसाधन हो दैन्य कर रहे, ऐसे भक्तों की उपेक्षा श्रीकृष्ण कभी नहीं करते हैं। जैसे संसारासक्त जीव लौकिक वैदिक में महादुःख पाते हैं उनकी उपेक्षा प्रभु ने की है। (क्योंकि जो संसार में सुख और दुःख दो फल हैं, वह पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख है। लोक में उनकी उपेक्षा रखते हैं। इस कारण इनको लौकिक फल देते हैं।) वैसे अपने स्वकीय (निजभक्तों) को अन्यथा भाव किसी काल में कभी श्रीकृष्ण नहीं करते हैं। सदाभाव की रक्षा ही करते आये हैं। रक्षा करते हैं और रक्षा करेगे। दूसरे के द्वारा कभी रक्षा नहीं करायेंगे। स्वतः (आप) भक्तों की रक्षा करते हैं ऐसे कृपालु श्रीकृष्ण हैं।

मूलं – धर्ममार्गप्रवृत्तिस्तु चित्तशुद्धया यथा हरौ ।
मतिः स्यान्नैव पाषंडे तदर्थं सर्वथेष्यते ।।१८।।

श्लोकार्थ – धर्ममार्ग की प्रवृत्ति तो चित्त शुद्धि से जैसे हरि में मति हो और पाखंड में (मति) नहीं हो उसके अर्थ सर्वथा हैं।

व्याख्या – धर्ममार्ग में प्रवृत्त होने से चित्त शुद्धि होती है। इसलिये हरि से शुद्ध मति (भाव) होता है। पाखंड में मति नहीं होती है। उसके अर्थ सर्वथा धर्ममार्ग में प्रवृत्ति हैं।

मूलं – मार्गप्रवर्त्तकाचार्यचरणेषु निरंतरम् ।
विश्वासः सुदृढः कार्यस्ततः सर्वं फलिष्यति ।।१९।।
विशेषोगोवर्द्धनदासपत्राज्ज्ञेयः किमधिकम् ।

श्लोकार्थ – इस पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री आचार्यजी के चरणकमल में अतिदृढ़ विश्वास करना। जिससे सब फल रूप होगा। विशेष गोवर्द्धनदास के पत्र में जानना, अधिक क्या लिखें।

व्याख्या – पुष्टिमार्ग में प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्यजी हैं। उनके दोनों चरण कमल का दृढ़ आश्रय करना। जिस वैष्णव के मन में दृढ़ आश्रय होगा उनको समग्र फल निश्चय सिद्ध होगा। इसमें संदेह नहीं है। इसलिये यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। श्री आचार्यजी के चरण कमल का दृढ़ आश्रय करना। विशेष समाचार गोवर्द्धनदास के पत्र से जान लेना।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३८।।

बड़े शिक्षापत्र ३६

अब ३६वें शिक्षापत्र में बताया है कि सत्संग कर निरंतर प्रभु में चित्त स्थापित करना। प्रथम जो नाम निवेदन के मंत्र सुने हैं उनके अर्थ का अनुसंधान करना। बुद्धि निश्चल कर भगवत्सेवा करना। वैष्णवों का समाधान है वही भगवत्सेवा है। प्रभु में प्रवृत्ति बढ़े वही करना। प्रभु दुराराध्य हैं इसलिये सेवा से ही वश होते हैं। भगवत्सेवा करने वाले जन भाग्यवान हैं यह निरुपण है। उपर पुष्टिमार्ग में सेव्य श्रीकृष्ण रसात्मक स्वरूप का वर्णन किया है। उनकी सेवा करनी, भगवदीय का संग करना। उसका वर्णन आगे करते हैं।

मूलं – सत्संगेन प्रभौ चित्तं स्थापनीयं निरंतरम् ।
पूर्वं श्रुतानामर्थानामनुसंधानमादरात् ।।१।।

श्लोकार्थ – सत्संग करके निरंतर प्रभु में चित्त स्थापित करना, और जो नाम निवेदन मंत्र है उनके अर्थ का अनुसंधान आदरपूर्वक करना।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि सत्संग कर प्रभु जो श्रीकृष्ण हैं उनमें चित्त निरंतर स्थापन करे नवरत्न ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभुजी ने कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** इस भांति निवेदन का स्मरण तादृशीय भगवदीय के संग मिलकर करे तब चित्त में भगवान् निरंतर निश्चय ही स्थित हो। एकादश स्कंध में श्रीकृष्ण ने आप श्रीमुख से उद्धव जी को कहा है –

न रोधपति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ।।

व्रतानि यज्ञश्छंदांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुंधे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ।।

इस वचन से भगवान् कहते हैं जो मैं इतने साधन से वश में नहीं होता हूं। योग तथा सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, तप, त्याग, न इष्टापूर्त्त, न दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छंद, तीर्थ, नियम, यम

इत्यादि अनेक साधन मेरा निरोध नहीं करते हैं। जैसे सत्संग मेरा निरोध करता है। इसलिये सत्संग बड़ा पदार्थ है। इसलिये पुष्टिमार्गीय वैष्णव को सत्संग निरंतर करना चाहिए। पूर्व में जो श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा अष्टाक्षर नाम मंत्र सुना है उसका अर्थ सहित अनुसंधान आदरपूर्वक करता रहे। जो श्रीकृष्ण का नाम है वह सारे वेदशास्त्रों का सार परम रसात्मक है। ऐसे श्रीकृष्ण के मैं शरण हूं। यह नाम श्री आचार्यजी द्वारा प्राप्त हुआ है। इस भांति भावना कर नाम में परम आदर रखे तथा अष्टप्रहर लिया करे।

मूलं – **भगवत्सेवनं सम्यग्विधेयमिति निश्चयः ।**
वैष्णवादिसमाधानं कृष्णसेवैव सर्वथा ।।२।।

यतः प्रभो प्रपत्तिर्हि वर्द्धते कार्यकारणात् ।
सेवयैवहि संतुष्टः सुखसेव्यः प्रभुर्भवेत् ।।३।।

श्लोकार्थ – भगवान् की सेवा भली भांति से करना, यह निश्चय रखना। वैष्णवादिकों का समाधान है, वह सर्वथा श्रीकृष्ण की सेवा ही है। जिससे (ऐसे श्रीकृष्ण की सेवा है, वह कारण है और प्रपत्ति की वृद्धि है यह कार्य इस भांति है) कार्य कारण भाव से निश्चय ही प्रभु में प्रपत्ति बढ़ती है। इसलिये सेवा से संतुष्ट प्रभु सुख सेव्य है।

व्याख्या – सम्यक् प्रकार अत्यन्त प्रीतिपूर्वक तथा जिस प्रकार पुष्टिमार्ग की रीति है उस प्रकार भगवत्सेवा करे पुष्टिमार्गीय वैष्णव का निश्चय ही सेवा स्वधर्म है। नवम स्कंध में भगवान् ने कहा है –

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छंति सेवया पूर्णाः कुतोन्यत्कालविप्लुतम् ।।

मेरी सेवा से साक्षात्कार हुआ ऐसा भक्त सालोक्यादिक चार प्रकार की मुक्ति को नहीं चाहता है, क्योंकि जो सेवा से पूर्ण है वह काल में डूबे ऐसे स्वर्गादिक के राज्यादिक की इच्छा कैसे करे ? तृतीय स्कंध में कहा है –

बड़े शिक्षापत्र ३६

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापापयद्प्यसाध्वी ।
लभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्य कं वा दयालु शरणं व्रजेम ।।

दुष्ट पूतना ने जिनको मारने के लिये कालकूट (स्तन में) पिलाया वह भी धात्री योग्य गति को प्राप्त हुई। इन प्रभु से अन्य ऐसा कौन दयालु है जिनके शरण जाये। अष्टम स्कंध में ब्रह्माजी ने कहा है –

यथा ही स्कंधशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् ।
एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ।।

जैसे वृक्ष के मूल में जल का सेचन है वह छोटी–बड़ी सब डालियों के तृप्त करता है। वैसे विष्णु का आराधन है। वह सब देवताओं को तथा आत्मा को भी संतोषकारक है। इत्यादि वचन का भाव विचार कर भगवत्सेवा सर्वोपरि मुख्य धर्म जानकर प्रीतिपूर्वक नित्य नियम से करे और महाप्रसाद तथा प्रसादी वस्त्र से बने उतना वैष्णवों का समाधान करे जैसे प्रीतिपूर्वक भगवत्सेवा करे वैसे ही प्रीतिपूर्वक महाप्रसादी वस्तुओं से तादृशीय वैष्णवों का समाधान करे इस प्रकार पुष्टिमार्ग में वैष्णव रहे तो प्रभु कृपा करे प्रभु की प्राप्ति के लिये दीनता से प्रार्थना करे तो प्रभु को दया आवे तब कृपा करे भक्ति की वृद्धि हो। श्री गुसांईजी ने विज्ञप्ति में कहा है –

यद्दैन्यं त्वत्कृपाहेतुर्न तदस्तिममाण्वपि ।
तां कृपां कुरू राधेश! यया तद्दैन्य माप्नुयाम् ।।

प्रियसंगमराहित्याद्व्यर्थाः सर्वे मनोरथाः ।
निरपत्रपता सिद्धयै जीवामि सखि सांप्रतम् ।।

चित्तेन दुष्टो वचसापि दुष्टः कायेन दुष्टः क्रियया च दुष्टः ।
ज्ञानेन दुष्टो भजनेन दुष्टो ममापराधः कतिधा विचार्यः ।।

विज्ञप्तौ वापराधे वा पाषंडे वा मदुक्तयः ।
पर्यवस्यंति कुत्रेति न जानेऽहं विमूढधीः ।।

बड़े शिक्षापत्र

बलिष्ठा अपि मद्दोषास्त्वत्कृपाग्रेतिदुर्बलाः ।
तस्या ईश्वरधर्मत्वात् दोषाणां जीवधर्मतः ।।

त्वद्दर्शन विहिनस्य त्वदीयस्य तु जीवितम् ।
व्यर्थमेव यथा नाथ! दुर्भगाया नवं वयः ।।

जिस दैन्य से आपकी कृपा होती है वह दैन्य मेरे में अणु मात्र भी नहीं है। इसलिये हे श्रीराधेश ! ऐसी कृपा करो जिस कृपा के करने से दैन्य प्राप्त हो। पति के संगम बिना सर्वमनोरथ व्यर्थ है। इससे हे सखि ! निर्जल्जपने की सिद्धि के लिये अब मैं जीवित हूं। मैं चित्त से दुष्ट हूं, वचन से दुष्ट हूं, शरीर से दुष्ट हूं, क्रिया से दुष्ट हूं, ज्ञान से दुष्ट हूं, भजन से दुष्ट हूं (ऐसे सर्व प्रकार से दुष्ट हूं जिससे) मेरे अपराधों को कहां तक गिनोगे। मैं जो विज्ञप्ति कर रहा हूं वह विज्ञप्ति पाखंड से है या विज्ञप्ति कर अपराध कर रहा हूं। अथवा वास्तव में विज्ञप्ति है वा इसको मैं विमूढ़ बुद्धि नहीं जान सका हूं।

मेरे दोष बहुत बलवान है, तब भी आपकी कृपा के आगे अति दुर्बल है क्योंकि दोष जीव धर्म है और कृपा ईश्वर का धर्म है जो तदीय आपके होते भी आपके दर्शनादि से वंचित है। उनका जीवन इसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार नवयौवना दुर्भगा हो जाय तो उसका जीना व्यर्थ हो जाता है। पुष्टिमार्गीय वैष्णव को इसी तरह अनेक भावों से प्रभु प्राप्त्यर्थ दैन्यपूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। हे प्रभो ! मैं महादुष्ट हूं तो भी आपका दीनदास हूं और आचार्यश्री द्वारा आपसे संबंध हुआ है।

अतः मुझ दीनदास पर कृपा दृष्टि की वृष्टि कीजिये, इस प्रकार दीनतापूर्वक विनय से प्रभु प्रसन्न होकर अवश्य कृपा करेगे। जिसंसे भाव की वृद्धि के साथ–साथ सर्व प्रकार के अनुभव करायेंगे।

मूलं – दुराराध्यस्य सेवैव वशीकरणसाधनम् ।
कृष्णसेवां प्रकुर्वंतो भाग्यवंतो जना मताः ।।४।।

श्लोकार्थ – दुराराध्य प्रभु हैं इनको वश करने का साधन सेवा ही है। इसलिये श्रीकृष्ण की सेवा जो करते हैं वे जन भाग्यवान् हैं।

बड़े शिक्षापत्र ३६

व्याख्या – श्रीकृष्ण अत्यंत दुराराध्य हैं, ब्रह्मादिक, शिवादिक कोटानकोटि वर्षों तक अनेक साधन करते हैं, तब समाधि में कभी झांकी (दर्शन) होते हैं जीव तो अनेक दोषों से भरा है। इस कारण दुष्ट हो रहा है। उनको तो दुराराध्य ही है। बड़े–बड़े योगी अपने हृदय में कल्पना करते हैं, मुनिजन जन्म जन्म में यत्न करते हैं, उनको प्रभु दुराराध्य है। जीव की क्या बात है ? तब भी जो देवी जीव श्री आचार्यजी द्वारा शरण आये हैं और पुष्टिमार्ग की रीति के अनुसार भगवत्सेवा करते हैं वे भक्तों के वश होते हैं। इसलिये जो वैष्णव इस पुष्टिमार्ग में श्री आचार्यजी द्वारा शरण आकर मार्ग की नीति अनुसार सेवा करते हैं वे परम भाग्यवंत है। (बड़े भागी हैं) उन्हीं का जन्म सफल है। सप्तम स्कंध में प्रह्लादजी ने कहा है – **"देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गंधर्व एव वा। भजन्मुकुंदचरणं स्वस्तिमान्स्याद्यथा वयम्।।"** (प्रह्लादजी असुरों के बालकों को कहते हैं कि देव, असुर वा मनुष्य, यक्ष अथवा गंधर्व जो मोक्ष देने वाले भगवान् के चरणारविंद को भजते हैं। वे जैसे अपने असुर हैं वैसे हों, तब भी कल्याणयुक्त होते हैं) और षष्ठ स्कंध में पार्वती जी ने कहा है – **"नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिम्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपितुल्यार्थदर्शिनः।।"** (नारायण परायण सर्व किसी से नहीं डरते हैं। स्वर्ग, मोक्ष और नरक में भी तुल्य अर्थ देखने वाले हैं) ऐसे अन्य भगवद् भक्त समान और कोई नहीं है।

मूलं – **तस्माद्दृढं मनः कृत्वा कृष्ण एव हि सेव्यताम् ।**
अत्रत्यं वृत्तमखिलं वदिष्यति विशेषतः ।
श्रीविट्ठलप्रभोर्दासः श्यामदाससहस्थितः ।।५।।
तत्रत्य वृत्तांतोऽखिलो विविच्य लेख्यः किमधिकम् ।।

श्लोकार्थ – इसलिये मन को दृढ़ कर श्रीकृष्ण की सेवा करे, यहां का सब वृत्तांत श्यामदास के संग रहा, ऐसा श्री विट्ठरायजी का दास विशेष वह कहेगा। वहां का सब वृत्तांत विस्तार कर लिखना, विशेष क्या लिखें।

व्याख्या – सर्वोपरि श्रीकृष्ण की सेवा दृढ़ मन करके प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्य है। श्री भागवत् के सप्तम स्कंध में प्रह्लादजी ने कहा है – **"न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि**

च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्य विडंबनम् ।।" (न दान, न तप, न यज्ञ, न पवित्रता, न व्रत, प्रभु को प्रसन्न करते हैं। शुद्ध भक्ति करने से ही हरि प्रसन्न होते हैं। दूसरा तो सब विडंबन है) और दशम स्कंध में उद्धवजी ने कहा है – **"दान व्रत तपो होम जप स्वाध्याय संयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यै कृष्णे भक्तिर्हिसाध्यते।।"** (दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, नियम और दूसरे अलग–अलग प्रकार के कल्याण मार्गों से श्रीकृष्ण में भक्ति सिद्ध होती है) एकादश स्कंध में श्रीकृष्ण ने कहा है – **"तत्सर्वं भक्तियोगेन मद्‌भक्तो लभतेंजसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथं चिद्यदि वांच्छति।।"** (जो योगादि साधन से प्राप्त होता है वह सर्व मेरा भक्त स्वर्ग और मोक्ष रूप मेरा धाम (व्यापि वैकुंठ) है उनका जो किसी रीति से चाहे वे बिना ही श्रम मेरे भक्ति योग से पाते हैं) इस भांति श्रीकृष्ण ही की भक्ति सर्वोपरि है। इसलिये निष्काम होकर श्रीकृष्ण की सेवा मन लगाकर कर्त्तव्य है और यहां के सब वृत्तांत विशेषकर श्री गोकुलनाथजी के पुत्र श्री विट्‌ठलरायजी का दास तथा श्यामदास कहेगा यह जानकर वहां के जो समाचार हो, वे अखिल विस्तारपूर्वक प्रति उत्तर लिखोगे। किमधिकम्।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।३६।।

बड़े शिक्षापत्र ४०

अब ४०वें शिक्षापत्र में यह बताया है कि सर्व साधन रहित मैं हुआ हूं। ऐसे जताने के लिये बहुत दीनता के वाक्य कहे हैं हमारे अधिकारी ने निंदित एक कार्य किया उससे मन में बहुत खेद हुआ परन्तु फिर शांति हुई है। (यह वृत्तांत, संग करना वह विचार कर करना जताने के लिये लिखा है) अब इनके उपर मेरी कृपा भी पूर्ववत् है। इसलिये प्रेमजी उदास हुए हैं। तुम्हारे ही वहां से इनके लिए प्रशंसा के अलग–अलग पत्र लिखने का निरूपण है। उपर कहा कि इस पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण की सेवा सर्वोपरि है। साधन फल यही कर्त्तव्य है। वह मेरे से कुछ भी नहीं बन सकता है। इसका निरूपण है।

बड़े शिक्षापत्र ४०

मूलं – पत्रद्वारा प्रकरवै स्वदुःखविनिवेदनम् ।
महत्तराख्ये चलिते दूरगेषु भवस्सु च ।।१।।
जानामि निजमार्गस्य धर्मं किंचित्कृपाबलात् ।
तद्सिद्धिजहृत्क्लेशं को मे दूरी करिष्यति ।।२।।

श्लोकार्थ – महत्तर नाम का भगवदीय चला और तुम दूर रहे जिससे (जो मेरे को दुःख हुआ) अपने दुःख को विशेष बताना पत्र द्वारा करता हूं। कुछ (बड़ों की) कृपा के बल से अपने मार्ग के धर्म को जानता हूं। मेरे यह धर्म की असिद्धि से हृदय का क्लेश हुआ उसको कौन दूर करेगा।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मैं अपना दुःख पत्र द्वारा निवेदन करता हूं क्योंकि जो तुम सर्वलायक (योग्य) हो मेरे प्रिय भ्राता हो इसलिये दुःख सुख तुम बिना और दूसरे किससे कहूं ? और तुम दूर हो जो पास होते तो दुःख में सहायता ही करते। वैसे मेरे को तुम्हारे संग से दुःख ही नहीं होता, इसलिये इस पत्र द्वारा मेरे दुःख को जानोगे। महत्तर आख्या (नाम) जिनका ऐसे भगवदीय मेरे पास से अपने कार्यार्थ चले, वह भी मेरे को छोड़कर दूर गये और तुम भी यहां से दूर हो। अब मिलने की आशा मेरे को नहीं है। इसलिये पत्र द्वारा अपना दुःख लिखता हूं उसको पढ़कर समाचार जानोगे। श्री आचार्यजी तथा श्री गुसांईजी की कृपा के बल से निजमार्ग (यह पुष्टिमार्ग) का धर्म कुछ जानता हूं। वह (भगवदीय दूर गये और दुःसंग बहुत है इसलिये) सिद्ध नहीं हुआ। उस कारण मेरे हृदय में अत्यन्त दुःख (क्लेश) हुआ है वह कौन दूर करेगा। वह मेरे को जान नहीं पड़ता है। क्योंकि जो मैं सकल साधन से रहित हूं और अनेक दोष से भरा हूं। इस कारण ऐसा मेरा दुःख कौन दूर करेगा।

मूलं – प्रायः पाषंडिमुख्योऽहं हरिणा हृदि चिंतितः ।
कृपालुरप्युपेक्षां मे कुरुते दीनवत्सलः ।।३।।

श्लोकार्थ – बहुत से पाखंडियों में मैं मुख्य हूं। ऐसे हरि ने हृदय में विचारा है क्योंकि (हरि) कृपालु और दीनवत्सल है तब भी मेरी उपेक्षा करते हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी दीनता होने के लक्षण अपने सेवक (पुष्टिमार्गीय वैष्णव) को जताने के लिये आपने निःसाधनपना कहा है कि मैं सारे पाषंडी में मुख्य हूं। वे कहते हैं कि मैं अपने मुख से क्या कहूं ? हरि ही मेरे को पाषंडी जानते हैं क्योंकि हरि तो सर्वदुःख हर्त्ता परम दयालु दीनवत्सल हैं तब भी मेरी उपेक्षा की है। इसलिये मैं जानता हूं कि मेरे को महापाषंडी जानकर मेरी उपेक्षा की है। अब मैं क्या करूं ? इस भांति दैन्य कर्त्तव्य है, उसको विज्ञप्ति में कहते हैं – **"चित्तेन दुष्टो वचसापि दुष्टः कायेन दुष्टः क्रिया च दुष्टः। ज्ञानेन दुष्टो भजनेन् दुष्टो ममापराधः कतिधा विचार्यः।। जानामि मंदभाग्योऽहं यदर्थे गोकुलेश्वरः । भक्त क्लेशासहिष्णुत्वस्वभावं कुरुतेऽन्यथा।।"** श्री गुसांईजी गोवर्द्धननाथ जी से कहते हैं कि मैं चित्त से दुष्ट हूं, वाणी से दुष्ट हूं, काया से दुष्ट हूं, क्रिया से दुष्ट हूं, ज्ञान से दुष्ट हूं, भजन से दुष्ट हूं, ऐसे मेरे अपराध कहां तक विचार करोगे। मैं जानता हूं कि मैं मंदभाग्य वाला हूं, क्योंकि जो गोकुलेश्वर तुम्हारे नाम हैं आपने पहले गोप, गोपी सारे व्रज की तुमने रक्षा की है। भक्त के क्लेश को आप नहीं सह सकते हो ऐसे परम दयालु स्वभाव तुम्हारा है। उसको अब आपने अन्यथा किया (कठोर हुए, भक्त के क्लेश हो वह अब सहन करने लगे) तुम ईश्वर हो कर्त्तुं, अकर्त्तुं, अन्यथा कर्त्तुं सर्वसामर्थ्य युक्त हो। इसलिये चाहो वह करो तुमको क्या कहें ? मैं ही मंदभाग्य वाला हूं जो मेरे लिये आपको यह अपना दयालु स्वभाव से फिर कठोर होना पड़ा, इतना श्रम हुआ, अब भक्तों के क्लेश सहन करने लगे। इस भांति दैन्य ही पुष्टिमार्ग में साधन है उसको भगवदीय ने दैन्यकर गाया है। **"हों पतितन को राजा, हों पतितन को ईश, हों पतितन को टीको, हों पतितन को नायक"** इत्यादिक दैन्य के वचन से जीव का स्वरूप प्रकट किया। वे जीव भगवान् से अलग पड़े, तब दुष्ट हुए, उसी से श्री आचार्यजी महाप्रभु ने बाल बोध में कहा है, **"जीवाः स्वभावतो दुष्टाः"** इस भांति श्रीहरिरायजी श्री गुसांईजी के भाव अनुसार कहते हैं कि मैं पाषंडी में मुख्य हूं, ऐसे मेरे को प्रभु अपने चित्त में चिंतन कर (यद्यपि श्रीकृष्ण दयालु हैं, दीनवत्सल हैं तब भी) मेरी उपेक्षा की है। वहां कोई कहे कि प्रभु (श्रीकृष्ण) भक्त की उपेक्षा नहीं करते हैं। इस बात को शास्त्र, पुराण, श्री भागवत, गीता इत्यादिक में प्रसिद्ध है। इसलिये तुमने कैसे जाना कि जो मेरी उपेक्षा की है ? इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं।

मूलं – उपेक्षितश्चेद्हरिणा स्वजनैरप्युपेक्ष्यते ।
अतः क यामि शरणं वनस्य इव विस्मृतः ।।४।।

श्लोकार्थ – हरि ने उपेक्षा की तब स्वजन (वैष्णव) ने भी उपेक्षा की जिससे जन में (ओर अपनेजन ने) विस्मृत किया और आप मार्ग को भूल गया। ऐसा मैं किसके शरण जाऊं।

व्याख्या – श्रीकृष्ण ने उपेक्षा की ऐसे में इससे जाना कि मेरे को पुष्टिमार्गीय तदीयों ने छोड़ दिया। मैंने पहले बड़ों के श्रीमुख द्वारा शास्त्रवार्त्ता सुनी है कि भगवान् प्रसन्न हुए कब जानना ? जब भगवदीय का मिलाप हो और भगवान् उदासीन हुए कब जानना ? जब भगवदीय छोड़ जाय। वे भगवदीय छोड़ गये। इसलिये मैं जानता हूं कि मेरी भगवान् ने उपेक्षा की है। अब मैं क्या करूं ? किसकी शरण जाऊं ? यह मेरे को हृदय में बड़ी चिंता हुई कि भगवान् और भगवदीय दोनों ने मेरी उपेक्षा की है अब मैं किनकी शरण जाऊं ? जैसे कोई गंभीर वन में भटक जाय तब किस ओर जाय ? कहीं रास्ता सूझता नहीं तब बड़ी चिंता हो। वैसे ही मेरे को बहुत चिंता हुई है। वहां कोई कहे कि प्रभु ने उपेक्षा कर छोड़ दिया तो यह दोष प्रभु ही का, तुम जानते हो। यह भक्तिमार्ग की रीति कहां है ? प्रभु तो निर्दोष हैं तुम प्रभु का दोष क्यों ठहराते हो ? इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं।

मूलं – प्रभोरपि न वै दोषो गुणलेशापि नो मयि ।
विस्मृत्य दोषनिचयं यं गृह्णीयाद्गुणग्रहः ।।५।।

श्लोकार्थ – निश्चय ही प्रभु का कोई दोष नहीं है क्योंकि जो (प्रभु ग्रहण करे ऐसा) मेरे में गुण का लेश ही नहीं है। परन्तु प्रभु जिनको ग्रहण करते हैं उनके दोष के समूह को भुलाकर गुणों का ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि आप गुणग्राही हैं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि प्रभु का दोष तो रंचक भी नहीं है। यह सारा दोष मेरा है। मुझमें गुण का लेश भी नहीं हैं और दोष नख से शिखा पर्यन्त भरे हैं। अपने दोष से भूल गया हूं। मेरे को महागुणवंत जानता हूं। यह अज्ञानता मेरे में ही है। मेरा ही दोष है। प्रभु तो सदा गुण युक्त हैं इसलिये दोष को नहीं देखते हैं। जिनका अंगीकार करते हैं उनके गुण ही देखते हैं। मेरे को ही अज्ञान से भ्रम होता है।

बड़े शिक्षापत्र

मूलं – यथा निःश्वासरहितं किं करोति सुभेषजम् ।
तथा विगतभावं मां कथासेवादिकं पुनः ।।६।।

श्लोकार्थ – जैसे श्वास रहित मनुष्य को सुंदर औषधी क्या कर सकती है? वैसे गया है भाव जिनका ऐसे मेरे को फिर कथा सेवादिक क्या करे?

व्याख्या – जैसे सुन्दर भेषज (औषध) पुरुष को दे और उस पुरुष के श्वास तो है नहीं, तब वह सुंदर भेषज वृथा है। कुछ अपना पराक्रम नहीं करती है। वैसे ही मेरे में भावना नहीं है इसलिये मेरे को सेवाकथादिक भगवद् धर्म क्या करे? जैसे पुरुष को प्राण (श्वास) बिना सुन्दर भेषज (औषधी) वृथा है वैसे ही भाव बिना सेवाकथादिक क्रियावत् है, इस कारण क्या फल सिद्ध होता है अर्थात् कुछ नहीं, इसलिये मेरे को दुःख है।

मूलं – प्रायः कथैव नैषास्ति यतस्तिष्ठति नो हृदि ।
न वानुभावं कुरुते निजं त्यागाभिदं मयि ।।७।।

श्लोकार्थ – कथादि का श्रवण ही जब नहीं तब हृदय में भाव भी नहीं ठहरता है। त्याग रूप अनुभव जिसका वर्णन संन्यास निर्णय में किया गया है। वह अनुभव भी नहीं होता है।

व्याख्या – श्रीकृष्ण की कथा सेवादिक में यह जीव स्थित नहीं है तब भाव हृदय में कहां से स्थिर हो? भगवदीय द्वारा श्रवण करे तब हृदय में भाव सिद्ध हो। श्री भागवत के द्वितीय स्कंध में कहा है – **"प्रविष्टः कर्णरंध्रेण स्वानां भाव सरोरुहम्। धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्"** (अपने भक्तों के कर्ण के छिद्र से भाव रूप कमलप्रति प्रविष्ट श्रीकृष्ण **शरद ऋतु जल का मल मिटावे वैसे हृदय का मल मिटा देते हैं**) और शुकदेव जी कहते हैं – **"तस्माद्गोविंदमाहात्म्यमानंदरससुंदरम् । शृणुयात्कीर्त्तयेन्नित्यं स कृतार्थो न संशयः"** (इसलिये आनंद रस से सुंदर श्री गोविन्द का माहात्म्य है उनका जो नित्य श्रवण करे कीर्त्तन करे वह कृतार्थ है इसमें संशय नहीं है) इत्यादिक वचन से कथा कीर्त्तनादिक का माहात्म्य लिखा है। ऐसी कथा के श्रवण बिना हृदय में भाव कैसे स्थिर रहे? और जहां तक देह संबंधी कार्य में से मन का त्याग नहीं हो वहां तक श्रीकृष्ण के स्वरूप का अनुभव कहां से हो? क्योंकि मन से भाव सिद्ध होता है वह मन तो लौकिक

संसारादिक के विषय में आविष्ट हुआ तब अनुभव कहां से हो ? उसको संन्यास निर्णय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** जिसका देह विषयादिक की कामना से भरा है उसके हृदय में भगवदावेश सर्वथा नहीं होता है। मेरे मन में लौकिक वैदिक का कुछ त्याग नहीं है इस कारण अनुभव नहीं है।

मूलं – सेवा तु प्रतिबद्धा मे भोगोद्वेगादिबाधकैः ।
गेहवित्तादिकासक्त्या कथं सा मानसी भवेत् ।।८।।

श्लोकार्थ – भोग और उद्वेगादिक प्रतिबंध से सेवा तो बंद हो गई है तब गृह धनादिक की आसक्ति से मानसी सेवा कैसे सिद्ध हो।

व्याख्या – तनुजा, वित्तजा, भगवत्सेवा में अनेक प्रतिबंध है। शरीर इंद्रियों में विषय की कामना उठे तब सेवा करने में उद्वेग होता है। कब सेवा कर चुकूं पीछे खानपान करूं इस भांति प्रथम विषयादिक के भोग की कामना हो तब मन में उद्वेग हो सेवा में मन नहीं लगे वह प्रभु को बुरा लगता है तब प्रतिबंध होता है। जिसमें सेवा ही नहीं बनती है तब गृहादिक कार्य वित्त (द्रव्यादिक) में आसक्त हो तब मानसी सेवा कहां से सिद्ध होगी। सेवाफल में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः।"** (उद्वेग, प्रतिबंध अथवा भोग बाधक होता है) इस वचन से सेवा में उद्वेग तथा देह संबंधी खानपान (विषय भोग संसारासक्ति) और प्रतिबंध यह सेवा में बाधक है। जब उद्वेग हुआ तब तनुजा वित्तजा सेवा नहीं हुई और लौकिक संसारासक्ति हुई तब मानसी सेवा उसको कैसे सिद्ध होगी ? तनुजा वित्तजा सेवा ही सिद्ध नहीं है तो मानसी तो परम दुर्लभ है।

मूलं – तातपादेषु यातेषु दुर्भगस्य परोक्षताम् ।
सत्सु सर्वेषु यातेषु दृशोर्दूरमहं स्थितः ।।९।।

श्लोकार्थ – तातपाद (श्री कल्याणराय जी) दुर्भाग्य वाले को परोक्षता को प्राप्त हुए और सब सत् पुरुष दूर गये दृष्टि से ऐसे मैं रहा हूं अथवा मैं दृष्टि से दूर रहा हूं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मेरी यह अवस्था है इसलिये श्री आचार्यजी, श्री गुसांईजी, श्री गोकुलनाथजी तथा श्री कल्याणरायजी ये हमारे पिता के ही समान है,

बड़े शिक्षापत्र

श्री आचार्यजी मार्ग प्रकटकर्त्ता हैं, श्री गुसांईजी इस मार्ग के प्रकाशकर्त्ता हैं, श्री गोकुलनाथजी द्वारा नाम निवेदन हुआ है। वे मेरे गुरु चरण पिता ही हैं और श्री कल्याणराय हमारे तात चरण जगत्प्रसिद्ध हैं। ये तातचरण मेरे परोक्ष हैं, मैं इनसे अलग पड़ा हूं। इस समय में इस दुःख में मेरी कौन सहायता करेगा ? इसलिये मैं दुर्भागी हूं और सत्पुरुष जो सर्वगुण युक्त पुष्टिमार्गीय वैष्णव उनसे भी दूर पड़ा हूं। इसलिये यह जानता हूं कि दुर्भागी हूं, इस दुःख में मेरे पास सत्पुरुष कोई नहीं है। जो मेरा रंचक भी समाधान करे इसलिये मैं क्या करूं, दुःख पाता हूं।

मूलं – **श्रीभागवतचिंता तु न विना संगतेः सताम् ।**
मनसोऽत्यंतविक्षेपान्न वा शरण भावनम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – सत्पुरुष की संगति बिना श्री भागवत का विचार नहीं होता है। मन के अत्यन्त विक्षेप से शरण की भावना नहीं होती है।

व्याख्या – कोई कहे कि तुम जो बड़े ज्ञानवान हो, वह सत्संग नहीं है तो क्या हुआ। श्री भागवत का अवलोकन करो उसके करने से सकल चिंता क्लेश दूर होंगे। इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं कि एकाग्रचित्त हो, सत्पुरुष का संग हो, तब श्री भागवत की खबर पड़े वह सत्संग नहीं है और चिंता से हृदय दुःखी हो रहा है। इसलिये श्री भागवत का भाव मेरे को कहां से दिखाई देगा ? क्योंकि जो तादृशीय भगवदीय सत्पुरुष हो, वे श्री भागवत का भाव कृपा कर कहे, बतावें तब जाना जाता है और मैं तो अकेला हूं, ऐसे व्यग्र चित्त से श्री भागवत से कैसे संतोष होगा ? वहां कोई कहे कि हरि के शरण की भावना करो। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने विवेक धैर्याश्रय में कहा है – **"अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः"** (अशक्य में तथा सुशक्य में सर्वथा हरि शरण है) तथा गीताजी में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है – **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"** (सर्वधर्म को छोड़कर एक मेरे शरण हो मैं तेरे को सर्व पापों से छुड़ाऊंगा शोक मत कर) इस भांति शरण की भावना से सारा कार्य सिद्ध होता है। इस भांति कोई कहे वहां श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मेरे मन में अत्यन्त विक्षेप हो रहा है। उस कारण शरण की भावना कहां से हो।

बड़े शिक्षापत्र ४०

मूलं – **वार्त्तांतरकृतिप्रेम्णा नाष्टाक्षरमनोजपः ।**

महत्वमत्या लोकानां प्रपत्त्या दैन्यनाशनम् ।।११।।

श्लोकार्थ – (भगवद् वार्त्ता के अलावा) ओर वार्त्ता करने में प्रेम है, उससे अष्टाक्षर महामंत्र का मन से जप नहीं होता है और महत्व बुद्धि से लोक की प्रपत्ति से दैन्य का नाश होता है।

व्याख्या – कोई कहे कि ओर नहीं बने तो अष्टाक्षर महामंत्र का जप करो उसी से समग्र कार्य सिद्ध होगा। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम। वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः"** (इसलिये **"श्रीकृष्णः शरणं मम"** ऐसा निरंतर बोलते ही रहना इतनी ही मेरी मति है) इसलिये अष्टाक्षर का जप ही करो इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं कि लौकिक वार्त्तान्तर में जहां तहां प्रेम होता है इसलिये अष्टाक्षर जप कहां से हो ? मेरा तो लौकिक वार्त्ता में अत्यन्त प्रेम है इस कारण अष्टाक्षर का जप भी नहीं बन सकता है। वहां कोई कहे कि अष्टाक्षर का जप नहीं हो तो प्रभु से दैन्य भाव करो उसके करने से प्रभु प्रसन्न होंगे। श्री आचार्यजी ने कहा है – **"दैन्यं त्वत्तोषसाधनम्"** दैन्य हो तो भगवान् संतोष पाते हैं। इस भांति कोई कहे वहां कहते हैं कि लौकक में सब लोगों में अपनी बड़ाई है, उसमें यह अहंता ममता भी है, मैं बड़ा हूं, बहुत समझता हूं, मैं बहुत धार्मिक हूं, उससे दैन्य का नाश है क्योंकि जो लोगों में बड़ाई है, इस महत्ता में फूला फिरता है उसके करने से दैन्य का नाश है। इसलिये मैं क्या करूं ?

मूलं – **निवेदनानुसंधानं सद्भित्यक्तस्य मे कथम् ? ।**

केवलं शरणं सर्वत्यागाभावाच्च दुर्लभम् ।।१२।।

श्लोकार्थ – सत्पुरुषों ने जिनका त्याग किया है। ऐसा जो मैं उनको निवेदन का अनुसंधान कहां से हो ? और सर्वत्याग नहीं है इस कारण केवल शरण भी दुर्लभ है।

व्याख्या – कोई कहे निवेदन का अनुसंधान रखो, उसके करने से सर्व सिद्ध होगा। इस भांति कोई कहे वहां श्रीहरिरायजी कहते हैं कि सत्पुरुष जो पुष्टिमार्गीय भगवदीय हैं, उनने

तो मेरा त्याग कर दिया है। अब निवेदन का अनुसंधान कैसे करूं ? क्योंकि निवेदन का अनुसंधान भगवदीय से मिलकर कर्त्तव्य है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः"** (निवेदन का स्मरण सर्वथा तादृशीय जनों से मिलकर करे) इत्यादि वचन से निवेदन का अनुसंधान भगवदीय बिना अकेले कैसे हो ? वहां कोई कहे कि केवल प्रभु शरण करो। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने श्रीकृष्णाश्रय में शरण मार्ग प्रकट कर शरण सिद्ध किया है। वही करो ऐसे वहां कहते हैं कि केवल शरण तो सब लौकिक वैदिक मन में त्याग हो तब सिद्ध हो वह मेरे मन में तो लौकिक वैदिक कार्य लग रहा है, सर्व त्याग का अभाव है, शरण कहां से हो ? इसलिये मैं क्या करूं, शरण परम दुर्लभ है।

मूलं – चांचल्याच्चेतसः कुत्र दृढः कृष्णपदाश्रयः ।
विवेकधैर्ये तद्धेतू मूर्खाधीशस्य मे कथम् ।।१३।।

श्लोकार्थ – चित्त की चंचलता से दृढ़ श्रीकृष्ण के चरणारविंद का आश्रय कहां ? और आश्रय के कारण रूप विवेक तथा धैर्य है। वह मूर्खाधीश जो मैं हूं उनको कैसे हो।

व्याख्या – अब श्री हरिराय जी कहते हैं, मेरा चित्त लौकिक वैदिक देह संबंधी कार्य में अति चंचल हो रहा है, उसके कारण श्रीकृष्ण के पद कमल में दृढ़ आश्रय नहीं है। आश्रय के लिये क्या कहूं, विवेक और धैर्य आश्रय के साधन हैं। मैं मूर्खों का राजा हूं, उनको कहां से हो ? विवेक, धैर्य और आश्रय तीनों चाहिए। विवेक धैर्याश्रय ग्रंथ में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"विवेक धैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः"** (विवेक, धैर्य ही निरन्तर रखना तथा आश्रय रखना) इस वचन से विवेक धैर्य भी अष्टप्रहर रक्षा करे तब श्रीकृष्ण का दृढ़ आश्रय हो। अज्ञानी को विवेक धैर्य कहां से सिद्ध हो ? उसके लिये आश्रय नहीं है।

मूलं – भावो यदनुभावेन भवेन्निष्कासितस्ततः ।
क्व ता व्रजभुवः कृष्णचरणाम्बुरुहांकिताः ।।१४।।

श्लोकार्थ – जिनके अनुभाव से भाव हो उस (व्रजदेश) से मैं निष्कासित हूं, अब श्रीकृष्ण के चरणारविंद के चिहन (ध्वज, वज्र, अंकुश, पद्म इत्यादिक) युक्त वह व्रजभूमि कहां !

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं जो कुछ नहीं बने तो व्रजलीला की भावना करे, उस करने से अनुभव हो वह भाव का अनुभव तो व्रज संबंधी लीला सामग्री देखने से भाव उत्पन्न हो। इस भांति अपने में निःसाधन की भावना करते करते दैन्य हुआ उस दैन्य से तीव्र विरह (विप्रयोग) प्रकट हुए वह देहानुसंधान भूल गये। व्रज की लीला तन्मय होकर कहते हैं कि वह व्रज की भूमि कहां है। जहां श्रीकृष्ण सारी लीला व्रज भक्तों के संग की है ऐसी व्रज भूमि कहां हैं। जहां स्थान–स्थान श्रीकृष्ण के चरणारविंद हैं जिसमें ध्वज, वज्र, अंकुश, स्वस्तिक, पद्म, अष्टकोण, यव, उर्ध्व रेखा, कलश, यह नव चिह्न दक्षिण चरण के तथा गोपद, जंबु, मत्स्य, धनुष, त्रिकोण, अर्धचंद्र, आकाश ये सातों वाम चरण के मिलकर षोडश चिह्न हैं ऐसे चिह्न युक्त व्रज भूमि कहां हैं ?

मूलं – क्व शैलः कृष्णदासाख्यः पुलिंदीभावपोषकः ।
क्व तेश्रीयमुनोद्देशा लीलारसवितारकाः ।।१५।।

श्लोकार्थ – पुलिंदी का भाव पोषक कृष्णदास (हरिदास) है नाम जिनका ऐसा शैल (श्री गिरिराज) कहां ? लीलारस का विस्तार करने वाले श्री यमुनाजी से उत्कृष्ट हुए ऐसा वह देश कहां ?

व्याख्या – कृष्णदास इनका नाम है, ऐसे शैल (गिरिराज) परम दयालु कहां है ? जिसने पुलिंदी के समान भाव को उत्पन्न किया। श्री गिरिराज के संग से पुलिंदी का भाव उत्पन्न हुआ, ऐसे श्री गिरिराजजी सर्वांग से प्रभु की सेवा करते हैं। सर्वत्रऋतु में प्रभु को सुख देते हैं। गाय सुख पाती हैं। ऐसे भाव के पोषक श्री गिरिराजजी कहां हैं ? और श्री यमुनाजी कहां है ? कुमारिकाओं के आश्रय से मनोरथ पूर्णकर्त्ता श्री यमुनाजी जहां बिराजे हैं, ऐसा देश कहां है ? इनके आश्रय से श्रीकृष्ण की लीला का अनुभव हो वह कहां ?

मूलं – क्व ते वेणुरवा यैर्वा समाकृष्टा व्रजस्थिताः ।
व्रजनाथकरांभोज प्रोंच्छिताः क्व गवां गणः ।।१६।।

श्लोकार्थ – जिनने व्रज में रहे ऐसे व्रज भक्तों का आकर्षण किया वह वेणुरव कहां ? और श्रीकृष्ण ने हस्तकमल से पोंछा ऐसे गायों के समूह कहां ?

बड़े शिक्षापत्र

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने वेणुनाद कर समस्त स्थावर जंगम को सुधादान किया वह वेणु का रव कहां ? और व्रज के नाथ (श्रीकृष्ण) अपने करांबुज से पोंछते हैं, सारी गायों को सुख देकर पालन करते हैं, ऐसी अनेक गायों के समूह कहां ?

मूलं – अनंत लीलाधारास्ते द्रुमाः विपिनस्थिताः ।
वेणुनादपरा वृक्षभुजारुढः क्व पक्षिणः ।।१७।।

श्लोकार्थ – अनंत लीला के आधार रूप तथा अनंत लीलारूप मधुधारा स्रवित है ऐसे श्री वृंदावन में रहे वृक्ष कहां ? और यह वृक्षों की शाखा पर बैठे वेणुनाद सुनने में तत्पर (मुनि रुप) पक्षी कहां ?

व्याख्या – श्रीकृष्ण जहां भक्तों के संग अनंतलीला करते हैं ऐसे श्री वृंदावन के सुन्दर द्रुम हैं जिसमें से वेणुनाद सुनकर मधु की धारा स्रवित है ऐसे वृक्ष कहां हैं ? और वेणुनाद के रस के पास करने में परायण पक्षी वृक्षादिक की शाखा भुजा रुप है उस पर आरूढ़ होकर बैठे हैं। अपना चंचल स्वभाव त्याग कर मुनि की तरह बैठे हैं। वे वेणुगीत में व्रजभक्तों से कहा है – **"प्रायो बतांब! विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षणास्तदुदितंकल वेणुगीतम्। आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वंति मीलितदृशौविगतान्यवाचः"** (श्री यशोदाजी को व्रजभक्त कहते हैं कि हे अंब ! इस वृंदावन में पक्षी हैं, वह बहुत करके मुनि हैं जो पक्षी रुचिर हैं प्रवाल जिनके ऐसे वृक्ष की भुजा रुप शाखाओं के उपर बैठकर श्रीकृष्ण में दृष्टि जिनकी ओर इनने कहा ऐसा अव्यक्त मधुर जो वेणुगीत है उसको नेत्रमूंद रखे हैं और छोड़ दी है अन्य वार्त्ता जिनने ऐसे होकर सुनते हैं) इस भांति व्रजभक्त गाते हैं। उसी भाव में श्रीहरिरायजी मग्न होकर भावना करते हैं।

मूलं – व्रजस्त्रीचरणांभोजरेवणः क्व व्रजस्थिताः ।
दधि निर्मंथनोन्नादाः क्वते श्रवणमंगलाः ।।१८।।

श्लोकार्थ – व्रज में रहे ऐसे व्रजस्त्री के चरणारविंद की रेणु कहां ? और श्रवण में मंगलरुप ऐसे वह दधिमंथन के अधिकनाद कहां ?

व्याख्या – अब श्री हरिराय जी कहते हैं कि व्रजस्त्री के चरणांभोज की रेणु व्रज में स्थित है वह मेरे को कहां ? जैसे उद्धवजी ने भ्रमर गीत में कहा है **"आसामहो चरणरेणु**

जुषामहं स्यां वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् । या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकंदपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।" (व्रजभक्तों की चरणरज का सेवन करने वाले वृंदावन में जो गुल्म लता और औषधी उसमें कुछ ही में हो कहां से जो व्रजभक्त दुस्त्यज ऐसे अपने संबंधीजन और वेदमार्ग को छोड़कर श्रुतियों के ढूंढ़ने योग्य जो मोक्षदाता प्रभु उनको भजती है) इस भाव से मग्न होकर श्रीहरिरायजी व्रजभक्तों की चरण रज की विरह भावना करते हैं और प्रातःकाल में दधिमंथन का शब्द सुने वह परम मंगल रूप है। दशम स्कंध में कहा है – **"गोप्यः समुत्थाय निरुप्य दीपान् वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थयन्। प्रदीप्त दीपैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूविकर्षद् भुजकंकण स्रजः ।। चलन्नितं बस्तनहारकुंडलत्विष्यत्कपोलारूण कुंकुमाननाः ।। उद्गायतीनामरविंदलोचनं व्रजांगनानां दिवमस्पृशध्ध्वनिः। दध्नश्च निर्मंथनशब्दमिश्रितोनिरस्यते येन दिशाममंगलम्।।** (गोपीजन प्रातःकाल में उठकर, दीप करके, वास्तु का अर्चन करके, दधि मंथन करने लगे और रज्जु (नेत) से खींचती है, भुजा में कंकण की माला जिनकी और चलायमान जो नितंब स्तन, हार तथा कुंडल उनकी कांतियुक्त कपोल में अरुण कुंकुमयुक्त हैं मुख जिनका ऐसे व्रजभक्त अत्यन्त प्रकाशमान हैं दीप जिसमें मणियों से बहुत शोभायुक्त हुए, कमलनेत्र (श्रीकृष्ण) का उच्च स्वर से आते ऐसे व्रजांगना के शब्दादधि के निर्मंथन के शब्द से मिश्रित (होकर) आकाश को स्पर्श करने लगा उससे सब दिशा का अमंगल मिट जाता है) इस भाव में मग्न होकर श्रीहरिरायजी दधिमंथन के शब्द की विरह भावना करते हैं।

मूलं – यमुनावालुकादेहसंबंधः क्व जलस्पृशिः ।
बहिर्मुखत्वसातत्ये तदीयत्वं च मे कुतः ।।१६।।

श्लोकार्थ – श्री यमुनाजी की बालुका से देह का संबंध कहां? श्री यमुनाजी के जल का स्पर्श कहां? और मेरे को बहिर्मुखता का भाव है, तब तदीयपना कहां से हो।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि श्री यमुनाजी की बालुका कहां हैं? तथा श्रम जल के संबंध वाला परम लीला रस अमृतमय श्री यमुनाजी का जल कहां? उस जल और बालुका का संबंध कहां? श्री गुसांईजी ने श्री यमुनाष्टपदी में कहा है – **"तव तटगत**

बालुकाः कदाहं सकलनिजांग गता मुदा करिष्ये'' (आपके तट में गई ऐसी बालुका आनंद से सर्व अपने अंग में प्राप्त कब करूंगा ?) इस श्लोक के अनुसार श्रीहरिरायजी भावाविष्ट हुए हैं। इस भांति विप्रयोग भाव से व्रज की लीला का अनुभव कर फिर दैन्य करते हैं, मैं निरंतर बहिर्मुखी हूं, उसी से मेरे को तदीयत्व कहां ? तदीयत्व हो तो तदीय का संग हो तब भाव की वृद्धि हो, वह तदीयत्व नहीं है।

मूलं – परमानंददूरस्थे चित्रं किं दुःखसंततौ ।
पोषकाभावतो नैव दृढः स्वाचार्यसंश्रयः ।।२०।।

श्लोकार्थ – परमानंद (श्री ठाकुरजी) से दूर रहने वाले में दुःख की परंपरा चले उसमें आश्चर्य क्या ? भाव के पोषण करने वाले के अभाव से अपने श्री आचार्यजी का यथार्थ आश्रय दृढ़ नहीं है।

व्याख्या – परमानंद श्री गोवर्द्धननाथ जी, सातों स्वरूप, श्री विट्ठलनाथजी अपने उपर बिराजे हों वह स्वरूप इस पुष्टिमार्ग में परमानंद रूप रसात्मक श्रीकृष्ण सेव्य है। ऐसे श्रीकृष्ण मेरे से दूर हैं। इस कारण मेरे चित्त में निरन्तर दुःख रहता है। एक तो मेरे में भाव नहीं है और दूसरा इस भाव का पोषणकर्त्ता कोई नहीं है, उसी से श्री वल्लभाचार्यजी के चरण कमल का दृढ़ आश्रय मेरे में नहीं है, उस कारण मैं निरंतर दुःख पाता हूं।

मूलं – विषयाभिनिवेशेन प्रेक्षा न विशति प्रभौ ।
जातोऽस्मि सांप्रतं सर्वसाधनाऽभाववाहनम् ।।२१।।

श्लोकार्थ – विषय के अभिनिवेश से ज्ञानदृष्टि प्रभु में प्रवेश नहीं करती हैं। अब सर्वसाधन के अभाव वाला मैं हुआ हूं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मैं विषयावेश से भरा हूं। इस कारण मेरे हृदय में प्रभु वास नहीं करते हैं श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय ग्रंथ में कहा है – **''विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वथा हरे''** (विषय से आक्रांत देह वाले के हृदय में सर्वथा हरि का आवेश नहीं होता है) इस भांति विषय का आवेश देखकर प्रभु हृदय में नहीं

स्थित होते हैं और मेरे को विषय के आवेश से हरि के दर्शन की इच्छा नहीं होती है तब प्रभु हृदय में कैसे आयेंगे ? इस भांति सर्व साधन के अभाव वाला हूं, इसलिये भाव कहां से सिद्ध हो ?

मूलं – **निःसाधनत्वं भावे तु विद्यमाने प्रयोजकम् ।**
तदभावे केवलं मे दोषायैव न चान्यथा ।।२२।।

श्लोकार्थ – भाव विद्यमान हो तब तो निःसाधनपना प्रयोजक है परन्तु भाव का अभाव हो तब केवल दोष के लिये ही मेरा निःसाधनपना है अन्यथा नहीं।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि मैं भाव बिना निःसाधन होकर बैठा हूं। सारे सत्कार्य भगवद् धर्म भी छोड़ दिये हैं। वह निःसाधनपना अप्रोयजक है। इसलिये कुछ कार्य सिद्ध नहीं है। जगत में प्रसिद्धि है वह संसारी भगवद्धर्म नहीं करते हैं, वे क्या निःसाधन हैं ? वैसे ही संसारी की तरह से लौकिका सक्ति से जो जगत में कोई प्रभु की सेवा स्मरण सत्कर्म नहीं करते हैं इसलिये क्या निःसाधन है ? इसलिये भगवान् में तद्रूप भाव हुए बिना सत्कार्य छोड़ निःसाधन हो वह केवल दोष रूप ही है अन्यथा नहीं है।

मूलं – **शरीरेणाप्यशक्तस्य क्रिया का वात्र सेत्स्यति ।**
यथांधो बधिरो मूको विहस्तः पंगुरुन्मनाः ।।२३।।

श्लोकार्थ – जैसे अंधा हो, बधिर हो, मूक (गूंगा) हो, हाथ बिना का हो, पंगु हो, बावरा हो, वैसे शरीर की अशक्ति ही से यहां कौनसी क्रिया सिद्ध होगी।

व्याख्या – शरीर में सामर्थ्य नहीं हो तो लौकिक अलौकिक कुछ क्रिया नहीं बनती है। वैसे भाव बिना सकल साधन झूठा है। उसका दृष्टांत कहते हैं – जैसे अंधा है वह किस प्रकार देखे, बहरा क्या सुने, गूंगा क्या बोले, हस्त बिना क्या क्रिया करे, पांव बिना कैसे चले और बावरा हो वह क्या कार्य करे, वैसे जो भावरहित हैं, लौकिक में आसक्त है। वह किस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ भाव को प्राप्त करे भाव बिना पुष्टिमार्गीय फल की सिद्धि नहीं है। उसको भगवदीय ने गाया है – **"भज सखि भावभाविक देव । कोटि साधन करो**

कोऊ तउ न माने सेव ।। धूमकेतुकुमार मांग्यो कोन मार गप्रीति । पुरुष तेत्रिय को भाव उपज्यो सबे उलटी रीति ।। वसन भूषण पलटि पहरे भाव सो संजोय । उलटि मुद्रा दई अंकन बरन सूधे होय ।। वेद विधि को नेम नांही प्रेम की पहचान । व्रजवधू वश किये मोहन सूर चतुर सुजान।।" इस प्रकार भाव ही से सब सिद्ध हैं। मेरे में भाव का लेश ही नहीं है। इसलिये कुछ सिद्ध नहीं है।

मूलं – अकामः कामविक्षिप्तो हरिणोपेक्षितोऽधुना ।
विमृशामि सदा स्वांते का गतिर्मे भविष्यति ।।२४।।

श्लोकार्थ – भगवद् धर्म की कामना से रहित हूं, और लौकिक कामना से विक्षिप्त हूं, अब हरि ने उपेक्षा की है, उसका सदा मन में विचार करता हूं कि मेरी क्या गति होगी।

व्याख्या – भगवत्कामना जो नाना प्रकार के सेवा संबंधी मनोरथ से रहित हूं। मेरा मन प्रभु सेवा में एक क्षण भी नहीं लगता है और लौकिक कामना विषयादिक तथा देह के भरण पोषण संबंधी कामना से ग्रसित हूं, उस कारण हरि जो श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा की है। मेरी सुधी नहीं लेते हैं। मैं महादोष का समुद्र हूं। इस कारण मेरा त्याग किया है **और एक दोष मेरे में सर्वोपरि भारी है।** इसलिये प्रभु ने मेरे को छोड़ा है। संतजन जो भगवदीय हैं वे सदा ईर्ष्याभाव से रहित हैं। जैसे विभीषण को रावण ने पाद से प्रहार किया तब भी विभीषण ने विनती की और भली बात कही और कृष्णदास ने श्री गुसांईजी के दर्शन बंद किये परन्तु श्री गुसांईजी ने कृष्णदास का भला ही किया। इस रीति से भगवदीय रहे, तब प्रभु प्रसन्न होते हैं। मैं भगवदीय की ईर्ष्या में अष्ट प्रहर तत्पर हूं, इसलिये मेरा त्याग प्रभु ने किया है। अब मैं कहां जाऊ ? और क्या करूं ? अब मेरी कौनसी गति होने वाली है ? यह बड़ा दुःख है।

मूलं – विरक्तवेषिणास्माकमधिकारकृता पुनः ।
कृतं युवतिवश्येन कार्यमेकमनीदृशम् ।।२५।।

कस्याश्चित्सूरतिग्रामे विधवायाश्च संगमात् ।
दुष्टेन स्थापितो गर्भ पातितश्च तथौषधात् ।।२६।।

श्लोकार्थ – अपने अधिकारी विरक्त ने फिर स्त्री के वश होकर इनके योग्य नहीं ऐसा एक कार्य किया, सूरत गांव में कोई विधवा के संगम से दुष्ट ने गर्भस्थापन किया, फिर औषधी से गिराया।

व्याख्या – भगवद् धर्म संबंधी दुःख तो मेरे हृदय में बहुत है और एक लौकिक दुःख आकर प्राप्त हुआ है। कहते हैं विरक्तवेषी हमारा अधिकारी जिसकी जगत में बहुत बड़ाई है और मैंने भी उसको कृपापात्र जानकर संग किया अपने पास रखा। अधिकारी स्त्री के वश हो गया। इस कलियुग में स्त्री मोहिनी है। किसी किसी को धीरज, ज्ञान विवेक रहता नहीं है इसलिये युवतीवश अधिकारी हो गया और अयोग्य कार्य किया। अथवा विरक्त होकर अधिकार लिया। वह अयोग्य कार्य किया। उस कारण वह युवती के वश हो गया। हृदय में काम बढ़ता गया। इस प्रकार युवती के वश हो किसी काल में समय पाकर सूरत गांव में विधवा के संग संबंध किया। कोई इस बात को जानता नहीं उस विधवा स्त्री के गर्भ रह गया। उससे वह स्त्री और अधिकारी मन में महादुःखी हुए। अब क्या होगा ? पीछे दोनों ने मिलकर अनेक औषधी का प्रयोग करके गर्भ गिराया। यह बात सब जगह जानने में आई।

मूलं – मरणं चोमयोर्मध्ये कस्यचित्स्यान्न संशयः ।
यत्नेन प्रेमजिन्नाम्ना मदापत्तिर्निवारिता ।।२७।।

श्लोकार्थ – दोनों के मध्य में से एक का मरण होता इस में संशय नहीं है। यत्न करके प्रेमजी नाम के वैष्णव ने मेरी आपत्ति को निवृत्त किया।

व्याख्या – औषधी देकर गर्भ गिराया वह मृतक होकर गिरा। उससे राज्य के हाकिम को खबर पड़ गई। वह मृत्यु के समान दुःख हुआ इसमें संशय नहीं है और कहां तक लिखें। वह प्रेमजी वैष्णव मेरे संग था। अनेक यत्न करके आपत्ति (दुःख) निवृत्त किया। राजद्वार वाले ने समाधान किया यह जानोगे।

मूलं – विश्वासः कस्य कर्त्तव्य इति खिन्नं मनो मम ।
गृहकार्यं न चलति मनुष्याणामभावतः ।।२८।।

श्लोकार्थ – विश्वास किसका करना, ऐसे मेरे चित्त में खेद होता है और मनुष्य के अभाव से गृहकार्य नहीं चलता है।

व्याख्या – ऐसी वार्त्ता देखकर अब विश्वास किसका करे, लौकिक दुःख संबंध के लिये गृहस्थ को छोड़कर विरक्त प्रमाणिक वैष्णव को संग लिया। उसकी तो यह गति हुई अब किसको अपने पास रखें, किसका विश्वास करे, मनुष्य मिलता नहीं यह बड़ा दुःख है। परदेश में जाना मनुष्य चाहिये वह मिलता नहीं और विश्वास किसी के उपर होता नहीं। विश्वास बिना सुख नहीं होता है।

मूलं – अंतः स्निग्धोऽपि कार्ये तु मद्दोषानुस्मृतेः सदा ।
प्रायशः प्रेमजिन्नामा वर्त्ततेऽसौविरक्तवत् ।।२६।।

श्लोकार्थ – प्रेमजी नाम वाला एक वैष्णव मेरे पास अब है, जिसके अंतःकरण में मेरे लिये दृढ़ भाव है, किन्तु मैंने अधिकारी का अपराध सहन कर लिया यह मेरी भूल समझ इस दोष के कारण विरक्त की तरह अब रहता है।

व्याख्या – परम स्नेही मेरे एक यहां प्रेमजी है जिसका लौकिक कार्य में अथवा अलौकिक कार्य में किसी प्रकार इनके हमारी लौकिक वैदिक अनेक क्रिया देखकर मन हमारे दोष की रंचक भी विस्मृति नहीं होती है। सर्व ओर से हमारे में दृढ़ भाव रखता है। ऐसा भगवदीय मेरे संग में एक प्रेमजी ही है। वह केवल विरक्त की तरह रहता है। जितना कर सकता है उतनी हमारी टहल कर लौकिक से अलग रहता है। हे गृहस्थ परन्तु शास्त्र में जैसे विरक्त के धर्म कहे हैं, तद्वत विरक्त रहता है। इनके संग से कुछ मन में ठीक रहता है।

मूलं – चलितुं यतते तस्माल्लेख्या बहु समाहितिः ।
क्षांतोऽपराधः सर्वोपि मृषा क्रोधवशस्ततः ।।३०।।

श्लोकार्थ – सर्व अपराध सहन किया उससे मिथ्या क्रोध से वश हुआ ऐसा प्रेमजी चलने का यत्न करता है। इसलिये बहुत समाधान लिखना।

व्याख्या – वह प्रेमजी अब मेरे पास से चलने का विचार करता है। अब मैं किस प्रकार निर्वाह करूंगा। इसलिये कुछ समाधान लिखोगे। मैं अपना दुःख तुमको लिखता हूं। उसको बहुत करके जानना। अपराध सहन किया है इस कारण मृषा क्रोध के वश हुआ है। तादृशीय को ऐसा क्रोध नहीं चाहिए क्योंकि जो क्रोध है वह भगवद् धर्म में बड़ा बाधक है। क्रोध से भगवदावेश दूर हो जाता है।

मूलं – इदानीं तु कृपापूर्ववदस्तीति भयोझ्झितैः ।
भवद्भिः सर्वथा लेख्यं पत्रं सर्वै पृथक् पृथक् ।।
(इदानीं तु कृता (कृपा) पूर्वमनोवृत्तिस्तु सर्वथा ।
तस्माद्भयोझ्झितैः सर्वैः पत्रं लेख्यं पृथक् पृथक) ।।३१।।

श्लोकार्थ – अब तो पूर्व की तरह कृपा है इसलिये भय रहित (होकर) तुम्हारे सर्व ने सर्वथा अलग–अलग पत्र लिखना अथवा अब तो पूर्व की मनोवृत्ति तथा कृपापूर्वक मनोवृत्ति सर्वथा की है इसलिये भय रहित होकर अलग–अलग पत्र लिखना।

व्याख्या – अब तो पूर्व जैसी कृपा रखता है वैसे ही हमारे ऊपर स्नेह रख भय छोड़कर पत्र लिखना क्योंकि हम परदेश में हैं इसलिये पास में मनुष्य चाहिए। जाना मनुष्य चला जाय फिर दूसरा रखना पड़े, इस कारण इसके चित्त का समाधान हो उसी प्रकार सब अलग–अलग पत्र लिखना।

मूलं – अतिप्रशंसया चित्तं यथा तस्य स्थिरं भवेत् ।
मुखरोऽपि समीचीनो मुख्यदोष विवर्जितः ।।३२।।

श्लोकार्थ – जैसे इनका चित्त स्थिर हो वैसे अति प्रशंसा कर पत्र लिखना क्योंकि यह मुखर (बहुत बोलने वाला) है तब भी मुख्यदोष (अविश्वास तथा अन्याश्रय) से विशेष करके वर्जित है, इससे अच्छा है।

व्याख्या – अति प्रशंसा करके इनका समाधान हो वैसा पत्र लिखना जिससे इनका चित्त स्थिर हो। यह मुखरता दोष वाला है तब भी मुख्य दोष नहीं है। इससे अच्छा है।

मूलं – वैद्यकेन गहेऽस्माकं विशेषपरितोषणात् ।
भवत्सगात्कंदकवत्पतितः पुनरूत्थितः ।।३३।।
विशेषः प्रमजित्पत्राद्बोध्यः ।।

श्लोकार्थ – आपके संग से यह वैद्य के घर में रहता है जिससे अपने को विशेष संतोष है। इसके कारण ही यह गेंद की तरह गिरकर पुनः उठकर सावधान हो गया है। विशेष प्रेमजी के पत्र से जान लेना।

व्याख्या – यह अपने घर में वैद्य है, सभी रोगों की औषधी जानता है। इसलिये अपने घर में काम का है। इस वैद्य ने संतोष किया कंदुक जैसे गिरती है फिर ऊँची जाती है वैसे

यह विरक्त गिरा फिर वैद्य से उठा। वह तुम्हारे सत्संग का फल है। विशेष समाचार प्रेमजी के पत्र से जानना।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।४०।।

बड़े शिक्षापत्र ४१

अब ४१वें शिक्षापत्र में बताया है कि भगवदियों के प्रभु की सेवा में उपयोगीपने से लौकिक कार्य करना, भगवान् में शुद्ध भाव स्थापित करना। लौकिक में आवश्यक हो उतना ही द्रव्य (धन) का विनियोग करना। इस मार्ग में सेवा ही साधन है और सेवा ही फल है। इस जन्म में जो तनुजा वित्तजा सेवा है उसका ऐहिक फल है और अलौकिक देह से जो सेवादिक करना वह पारलौकिक फल है। उसके लिये सत्संग करना, प्रभु के दर्शनादिक के विषय में आरती रखना, तदीयों की चिंता हरि ही करते हैं फिर भी जो चिंता करे वह मूर्ख है। इसलिये श्री आचार्यजी के दासों को मैंने जो शिक्षा लिखी है उस पर रहकर प्रभु की सेवा करना। उस सेवा से निश्चय ही सर्वसिद्ध होता है। यह इस शिक्षा पत्र में निरूपण है। इस पत्र में श्रीहरिरायजी ने समग्र पुष्टिमार्गीय सिद्धांत का वर्णन किया है। वह समस्त पुष्टिमार्गीय भगवदियों को धारण करने योग्य है, यह निरूपण है।

मूलं – **लौकिकं सकलं कार्यं प्रभुसेवोपयोजनात् ।**
परं सर्वत्र पूर्वं हि प्रभुश्चिंत्यो न लौकिकम् ।।१।।

न रोचते हरेः स्वानां लौकिकासक्तियुङ्मनः ।
तदोपेक्षावशात्तस्य न सिद्धयत्यपि लौकिकम् ।।२।।

श्लोकार्थ – सब लौकिक प्रभु की सेवा में उपयोग सा करना परन्तु सब जगह सब कार्य में प्रथम प्रभु ही चिंतन करने योग्य हैं, लौकिक चिंतन करने योग्य नहीं है क्योंकि हरि को अपने जनों को लौकिक आसक्तियुक्त मन रूचता नहीं है। तब इनकी उपेक्षा के रहते लौकिक भी सिद्ध नहीं होता है।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी पुष्टिमार्गीय धर्म कहते हैं जो भगवदीय हैं वह जितना लौकिक कार्य है वह सब प्रभु की सेवा में विनियोग करे यह सर्वोपरि मुख्य धर्म है। घर भी भगवत्सेवार्थ, देह संबंधी, कुटुम्ब, इंद्रिय, सबका व्यवहार भगवत्सेवार्थ किसी में स्नेह वह केवल भगवत्सेवार्थ इस भांति सब भगवत्सेवा के उपयोग से कार्य करे स्त्री संग भी कृष्णभक्त पुत्र हो इस भाव से करे जैसे निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है **"पुत्रे कृष्ण प्रियेरतिः"** भगवद् भक्त पुत्र में प्रीति रखे। भगवद् धर्म में प्रतिबंधक हो उसका त्याग करे अनुकूल हो उसका संग्रह करे जहां–जहां मन की वृत्ति दौड़े जो–जो सुने, देखे, वह सब प्रभु की लीला ही जाने, क्रीड़ाभांड जाने, अपने प्रभु का ही चिंतन करे मन में लौकिक नहीं विचारे तब प्रभु प्रसन्न हो। वहां कोई संदेह करे कि लौकिक तो अत्यन्त प्रबल और लौकिक किये बिना चलता भी नहीं है। इसलिये लौकिक समय लौकिक करे और भगवत्सेवा के समय सेवा करे तो निर्वाह हो, प्रभु तो कृपालु है, वे थोड़ा–सा बनने पर भी बहुत मानेंगे, इसलिये सकल लौकिक छोड़ने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार कोई संदेह करे वहां कहते हैं, अपने स्वकीय भक्त हैं वे लौकिक कार्य करे तो प्रभु को नहीं सुहाता है। तब प्रभु उपेक्षा कर उदासीन हो जाते हैं। तब सेवा में मन का उद्वेग होता है, अनेक कार्य में मन छोड़े तब प्रभु प्रतिबंध करे सेवाफल में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"उद्वेगः प्रतिबंधो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः । बाधकानां परित्यागो भोगेऽप्येकं तथाऽपरम् ।।"** यह सबके मूल देह संबंधी भोग है। इसलिये खान, पान, विषय, इंद्रियों का सुख नहीं चाहे तभी भगवत्सेवा भली भांति से बने वह करे, वह सेवार्थ करे भोग में मन नहीं रखे। देह संबंधी सुख–दुःख में मन को रखे तो सेवा में उद्वेग हो, पीछे प्रभु अप्रसन्न हो प्रतिबंध करे वह सेवा ही नहीं बने और प्रभु को छोड़कर लौकिक में आसक्त होकर कार्य करे वह कार्य सिद्ध नहीं होता है। नाना प्रकार के दुःखों को पावे जिससे लौकिकासक्त सर्वथा नहीं करे प्रभु की सेवा में ही निरंतर मन रखे।

मूलं – शुद्धभावः प्रभोस्थाप्यो न चातुर्यं प्रयोजकम् ।
अंतर्यामी समस्तानां भावं जानाति मानसम् ।।३।।

श्लोकार्थ – शुद्ध भाव प्रभु में स्थापित करना चाहिए। प्रभु के साथ चतुराई नहीं करनी चाहिए। वहां चतुराई काम नहीं करती है। कारण की प्रभु अंतर्यामी हैं। अतः सबके मनोभाव को जानते हैं।

व्याख्या – प्रभु संबंधी कार्य में शुद्ध भाव को स्थापित करना चाहिए। सदा एकरस प्रीतिपूर्वक करे किसी को दिखाने के लिये नहीं करे जब कोई वैष्णव आवे उस दिन अनेक चतुराई से सुंदर श्रृंगार करे, जप, पाठ, अच्छी अच्छी वार्त्ता करे, जिस दिन कोई नहीं हो उस दिन साधारण करे यह सब चतुराई जाननी। वैसे नहीं करे जैसे श्री गुसांईजी आगरा पधारे तब एक वैष्णव को भेजा। अपने घर सेवा चतुराई से की, वहां श्री गुसांईजी ने चित्रामनवत् कहा इसलिये चतुराई है वह सब अप्रयोजक (मिथ्या) हैं। उसमें कुछ फल सिद्धि नहीं है। केवल प्रतिष्ठा मात्र है। वह लोक प्रतिष्ठा भगवद् भाव की नाशक है। प्रभु सर्व के हृदय की जानते हैं। अंतर्यामी हैं, वहां मन का कपट कुछ चलता नहीं है। विवेक धैर्याश्रय में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्व सामर्थ्यमेव च"**। इस वचन से प्रभु सर्वठोर सर्वसामर्थ्ययुक्त हैं, इस भाव से जानकर करे वैसा ही फल दे, लोभार्थ, प्रतिष्ठार्थ कपट संयुक्त कभी नहीं करे जितनी रीति बंधी है उतनी पुष्टिमार्ग की मर्यादा रीति से करना। लौकिक वैदिक कुछ कामना मन में नहीं रखना।

मूलं – शुद्धभावे तदीयं तु लौकिकं साधयेत्स्वयम् ।
तत्साधितमविघ्नेन सर्वं सिद्धयतिनान्यथा ।।४।।

श्लोकार्थ – शुद्ध भाव हो तो उसका लौकिक तो आप (प्रभु) स्वयं सिद्ध करते हैं। प्रभु ने सिद्ध किया है। वह विघ्न बिना सर्व सिद्ध होता है। अन्यथा नहीं होता है।

व्याख्या – कोई कहे कि शुद्ध भाव प्रभु में रखकर सर्व प्रभु को निवेदन करे पीछे लौकिक द्रव्यादिक बिना सेवा किस प्रकार करे? यह संदेह हो वहां कहते हैं कि जो वैष्णव शुद्ध भाव से प्रभु में मन लगाकर तत्पर हो उसका शुद्ध भाव देखकर प्रभु लौकिक, वैदिक सकल कार्य सिद्ध करते हैं। वह संतदास की वार्त्ता में भी प्रसिद्ध है। बीस टका की पूंजी में प्रभु सर्वकार्य सिद्ध करते। पद्मनाभदास के छोला में सकल पदार्थ सिद्ध करते। इसलिये शुद्ध

भाव से करे वहां कोई कहे कि जो लौकिक वैदिक वाले लोक विघ्न करे वहां कैसे करे ? ऐसा संदेह हो वहां कहते हैं प्रभु अविघ्न से सर्वकार्य सिद्ध करते हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने भक्तिवर्द्धिनी में कहा है – **"सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् । यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीतिमतिर्मम।। बाघ संभावनायां तु नैकांतेवास इष्यते। हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।"** (सेवा में अथवा कथा में जिसकी दृढ़ आसक्ति हो उसको यावज्जीवं (जीवे वहां तक) कहीं नाश नहीं है। ऐसी मेरी गति है। एकांत में रहने में बाध होने की संभावना हो तो एकांत में वास नहीं इच्छित होता है और घर में रहने में बाध आने की शंका हो वहां कहते हैं कि हरि (भक्तों के दुःख को हरने वाले) सर्व ओर से रक्षा करेगे इसमें संशय नहीं है) प्रभु के कार्य सेवादि में दृढ़ भाव हो, सब स्थान से अपना मन खींचकर सेवा में अथवा कथा में लगावे। ऐसे भक्त की सर्व ओर से प्रभु निश्चय रक्षा करते हैं। जैसे अंबरीष की दुर्वासा के शाप से रक्षा की इसलिये प्रभु के धर्म में मन लगाकर तत्पर हो तो प्रभु निर्विध्नता से सर्व सिद्ध करते हैं। अन्यथा नहीं करते हैं और अन्यथा निर्विध्नता से कार्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिये इस लोक तथा परलोक में एक प्रभु ही साक्षी है यह ज्ञान रखे।

मूलं – आवश्यको हि कर्त्तव्यस्तदीयैलौकिकव्ययः ।
अनासक्तौ लौकिकं तु वर्द्धते न च बाधते ।।५।।

श्लोकार्थ – तदीयन को जितना आवश्यक हो उतना ही लौकिक में व्यय करना, आसक्ति नहीं हो तो लौकिकता तो बढ़ती है, बाध नहीं करती है।

व्याख्या – अब श्रीहरिरायजी कहते हैं कि जो मुख्य तो यह ही है कि जो लौकिक नहीं करे परन्तु यदि लौकिक नहीं छूटे तो आवश्यक हो उतना ही लौकिक करे उसमें आसक्त नहीं हो। मन की आसक्ति ही बाधक है। आसक्ति बिना कितना ही लौकिक बढ़े वह सर्वथा बाधक नहीं होता है। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने निबंध में कहा है – **"गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः।।"** (सर्वात्म से गृह छोड़ने योग्य है वह छोड़ने को समर्थ नहीं हो तो वह गृह श्रीकृष्ण के अर्थ लगावे। क्योंकि श्रीकृष्ण अनर्थ से छुड़ाने वाले हैं) और भक्तिवर्द्धिनी में कहा है –

बड़े शिक्षापत्र

"अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः । व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।।" (अव्यावृत्त होकर पूजा कर श्रवणादिक से श्रीकृष्ण को भजे और व्यावृत्त भी हरि में श्रवणादिक में चित्त का सदा यत्न करें) इस वचन से जो तीव्र वैराग्य हो तो सर्व त्यागपूर्वक प्रभु का भजन करे और त्याग नहीं हो सके तो सारा घर श्रीकृष्ण की सेवा में विनियोग करे व्यावृत्ति रहित रहे तो वह उत्तम है। परन्तु ऐसे नहीं बने तो ऐसी व्यावृत्ति करे जिसमें निरंतर हरि में चित्त रहे। इस प्रकार रहे तो बाधक नहीं हो, नहीं तो बाध करे

मूलं – अन्यथा वृद्धमप्येतद्बाधते तदुपेक्षया ।
कृष्णसेवैक विषये मुख्यं चेतो निधीयताम् ।।
अन्यत्तदुपयोगित्वात्क्रियतां न तु मुख्यतः ।।६।।

श्लोकार्थ – प्रभु की उपेक्षा से ही लौकिक बाधा करते हैं। जब वैष्णव उपर कहे हुए प्रकार से सेवादि में मन नहीं लगाता है तब ही प्रभु उपेक्षा करते हैं। अतः वैष्णव को अपना चित्त मुख्य रूप से श्रीकृष्ण की सेवा में ही लगाना चाहिए और दूसरा सेवा के उपयोगीपन से करना मुख्यता से नहीं करना।

व्याख्या – लौकिक वैदिक में चित्त बहुत ही बढ़े, प्रभु तो अंतःकरण में बिराजते हैं। वह जब लौकिक में आसक्ति देखते हैं तब उपेक्षा करते हैं तथा उदासीन हो जाते हैं। श्री आचार्यजी महाप्रभु ने संन्यास निर्णय में कहा है – **"विषयाक्रांत देहानां नावेशः सर्वथा हरेः"** जब देही का मन इंद्रियादि विषय में आसक्त देखें तब अपना भगवद् भाव रूप रस का आवेश उसमे से खींच लेते हैं। उसको केवल लौकिकासक्ति हो तब प्रभु उपेक्षा करते हैं तथा कर देते हैं। इसलिये सर्वथा लौकिक विषय में मन आसक्त नहीं करे प्रभु की सेवा संबंधी कार्य जान प्रभु संबंधी विषय धारण करे, अमुक उत्सव पर यह चाहिए उसके लिये यत्न करे अमुक सामग्री प्रभु अरोगे तो अच्छा, अमुक बागा, वस्त्र, आभूषण प्रभु में विनियोग हो तो भला, जिस प्रकार हरि विषयक राग हो, रसोई, वार्त्ता मन में रखे और कथा भी ऐसी सुने जिसके सुनने से लौकिक में वैराग्य दृढ़ हो और प्रभु के धर्म में अनुराग दृढ़ हो। जिसके कृष्ण सेवार्थ चित्त में विषय का आवेश हो यही सर्वोपरि मुख्य फल है। सकल पदार्थ प्रभु का ही जाने, अपनी सत्ता कुछ नहीं जाने सेवार्थ प्रभु का प्रसादी दास धर्म जान

ले अपने शरीर का भोग नहीं जाने यह उत्तम भगवदीय का लक्षण है।

मूलं – सेवैव साधनं सेवा फलमैहिकमत्र सा ।
सैवालौकिकदेहेन संभवेत् पारलौकिकम् ।।७।।

श्लोकार्थ – सेवा ही साधन है और यहां सेवा हो वह ऐहिक फल है तथा यही अलौकिक देह से हो वह पारलौकिक फल है।

व्याख्या – प्रभु की सेवा ही साधन और सेवा ही फल है। यही पुष्टिमार्गीय का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। मर्यादामार्ग में साधन अलग तथा फल अलग है और पुष्टिमार्ग में साधन तथा फल एक ही है। इसलिये श्रीहरिरायजी कहते हैं कि जो प्रभु की सेवा फलरूप सर्वोपरि जानकर करे साधन का विचार नहीं करे क्योंकि जो साधन रूप विचार करे तो ज्ञानमार्गीय हो जाता है। जैसे श्री कपिलदेवजी माता के प्रति ज्ञान की भावना की, नख शिख से प्रभु में मन लगाकर पीछे मन निकाल निर्गुण की भावना की, वह न्यून फल है। इसलिये सेवा साधन रूप जाने तो मोक्ष फल हो। इससे सदा फलरूप जानकर सेवा करे उस सेवा फल की भावना अहर्निश चित्त में रखे। यही फल पुष्टिमार्ग में है। वह यहां लौकिक देह से सेवा हो वह ऐच्छिक फल जानना और अलौकिक देह से सेवा हो वह पारलौकिक फल जानना।

मूलं – तदर्थमेव कर्त्तव्यः सत्संगो भाववर्द्धकः ।
अनिंधनो वन्हिरिव भावः शाम्येत्तु लौकिकात् ।।८।।

श्लोकार्थ – उसके लिये भाव को बढ़ाने वाला सत्संग करना क्योंकि ईंधन बिना अग्नि जैसे शांत हो जाती है वैसे लौकिक से भाव शांत हो जाता है।

व्याख्या – भगवदीय का सत्संग नहीं हुआ तब सेवा का भाव हृदयारूढ़ नहीं हो, तब सेवा क्रियावत् हो जाय, उससे ब्रह्मसंबंध कर पुष्टिमार्गीय भगवदीय सेवा में तत्पर होकर सत्संग करे श्री आचार्यजी महाप्रभुजी ने नवरत्न ग्रंथ में कहा है – **"निवेदनं तु स्मर्त्तव्य सर्वथा तादृशैर्जनैः"** इस प्रकार ब्रह्म संबंध कर पुष्टिमार्गीय भगवदियों के संग निवेदन का स्मरण करे। अन्यमार्गीय अच्छा हो तब भी उसका संग नहीं करे उपर ३५वें शिक्षा पत्र के प्रारम्भ

में कहा है **"तदीयानां महद् दुखं विजातीयेन संगमः । संभाषणं सजातीयैरसंगो भाषणं च न"** विजातियों का संग तथा इन्हीं के साथ संभाषण और सजातियों का संग तथा इनके साथ भाषण ही नहीं, यही तदीयनों का बड़ा दुःख है। दोनों एक मिले तो रस उपजे। निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है **"महतां कृपया यद्वत्कीर्त्तनं सुखदं सदा । न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजन रुक्षवत् ।।"** (भगवदियों के संग कीर्त्तन में बड़ा सुख आता है जैसे घृत युक्त भोजन के स्वाद जैसा स्वाद लगता है और लौकिक की वार्ता में रुखे भोजन के स्वाद जैसा स्वाद लगता है) तदीय के मुख से सुने तो दिन–दिन भाव की वृद्धि हो, और लौकिक के मुख से सुने तो पेट तो भरे परन्तु रुखा भोजन जैसा होता है यह भाव विचारे। पुष्टिमार्गीय भगवदीय से मिलकर सेवा स्मरण करे तो भाव की वृद्धि हो, जैसे अग्नि में काष्ठादिक नहीं लगावे तो अग्नि शीतल हो जाय वैसे भगवद् भाव अग्नि रूप है उसमें सत्संग रूप ईंधन नहीं लगावे तो भाव रूप अग्नि शांत हो जाती है और जो भगवदीय का संग हो तो सारा भाव अग्नि की तरह बढ़ता है और लौकिक का संग हो तो जल अग्नि की तरह भाव का नाश करे इसलिये भगवदीय का संग कर्त्तव्य है।

मूलं – **आर्त्तिरेव सदा स्थाप्या हरिसंदर्शनादिषु ।**
स्वास्थ्यं तु लौकिकेनैव ददाति करुणानिधेः ।।६।।

श्लोकार्थ – हरि के सुंदर दर्शनादिक में आर्त्ति सदा स्थापित करना, करुणा के निधि रूप प्रभु लौकिक में स्वस्थता नहीं करेगे।

व्याख्या – इस पुष्टिमार्ग में आर्त्ति है वही सर्वोपरि फल है इसलिये प्रभु के दर्शन की आर्त्ति रखना। उससे प्रभु कृपा करते हैं। निरोध लक्षण में श्री आचार्यजी महाप्रभु ने कहा है – **"क्लिश्यमानान् जनान्दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत् । तदासर्वं सदानंद हृदिस्थं निर्गतं बहि ।। सर्वानंद मयस्यापि कृपानंदः सुदुर्लभः"** जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि है वह मंथन से बाहर निकले वैसे ही प्रभु के दर्शनार्थ क्लेश करे तो प्रभु बाहर प्रकट हो। सर्व के आनंददाता प्रभु सब स्थान पर है वह जीव की आर्त्ति देखकर बाहर प्रकट होते हैं। सर्व

आनंदमय प्रभु हैं। कृपानंद परम प्रभु दुर्लभ हैं। भक्तों ही पर कृपा करते हैं। इसलिये हरिदर्शन की आर्त्ति हृदय में स्थापित करना। लौकिक में आर्त्ति नहीं रखना क्योंकि जो प्रभु लौकिक में स्वस्थता करे तो जीव बहिर्मुख हो जाता है। इसलिये आप करुणानिधि हैं वे लौकिक में स्नेह छुड़ाकर अपने में लगाते हैं। जब अपने में चित्त लगा देखते हैं तब प्रभु स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं। इसलिये सर्व को छोड़कर एक प्रभु में ही स्नेह जोड़े। श्री भागवत् के एकादश स्कंध में उद्धव जी के प्रति श्री भगवान् ने कहा है – **"त्वंतुसर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबंधुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्।।"** (हे उद्धव ! तू तो सर्व स्वजन बंधु में स्नेह का त्याग कर मेरे में संपूर्ण रीति से मन को आवेशयुक्त कर सब स्थान पर समदृष्टि रखकर भूमि पर विचरण करे तो उसको कुछ भी भय नहीं होता है।)

मूलं – तदीयानां स्वतश्चिंतां कुरुतेपितृवद्हरिः ।
पुनश्चिंतां प्रकुर्वाणां मूर्खा एव न संशयः ।।१०।।

श्लोकार्थ – हरि सभी के दुःख हर्त्ता प्रभु तदीयों की चिंता पिता की तरह स्वयं ही करते हैं, फिर चिंता करने वाले मूर्ख ही हैं, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या – तदीयन को अपनी चिंता तथा देह संबंधी चिंता, इस लोक परलोक संबंधी कुछ भी चिंता नहीं कर्त्तव्य है। क्योंकि जो जैसे पिता पुत्र के पालन की चिंता रखता है तब पुत्र को कुछ भय नहीं, इस प्रकार प्रभु अपने भक्तों की चिंता करता है। तब भी कोई भक्त जो अज्ञान से चिंता करता है। वह सर्वथा मूर्ख है, इसमें संशय नहीं है।

मूलं – तस्मादाचार्यदासैस्तु मच्छिक्षा यां सदा स्थितैः ।
सेव्यः प्रभुस्ततो भद्रमखिलं भावि सर्वथा ।।११।।

श्लोकार्थ – श्री आचार्यजी के शरण आकर दास हुए और मैंने जो शिक्षा लिखी है उसमें सदा स्थित है। ऐसे वैष्णवों को तो प्रभु सेव्य हैं। इसलिये समग्र सर्वथा सिद्ध होगा ही।

व्याख्या – श्री आचार्यजी वल्लभाचार्यजी के जो दास हैं वे निरंतर यह मेरी शिक्षा अपने हृदय में धारण करे, उन्हीं के अर्थ इतना यत्न किया है जो अनेक धर्म हैं वे अधिकारी भेद

से पृथक् पृथक् बताएं हैं और भक्तिमार्ग में भी पाठ, गुणगान, वार्त्ता, श्रवण उन सभी में मुख्य प्रभु की सेवा है उसमें प्रभु का सन्मुखत्व है। सेवा बिना मुख्य फल का अधिकार नहीं होता है। इसलिये यह मन में जानना कि जो कोई प्रभु की सेवा करता है उनका सकल कल्याण होता है। कार्य तथा पुष्टिमार्ग का फल होने वाला है, उनके लिये यह सर्वोपरि निश्चय सिद्धान्त हुआ। (अब श्री गोपेश्वर जी कहते हैं जो) धन्य हरि जीवनदास ! तुम्हारे हृदय में श्रीहरिरायजी ने आकर मेरा दुःख दूर किया और यह शिक्षापत्र की टीका मेरी कृति मत जानना। मेरे हृदय में प्रविष्ट होकर श्रीहरिरायजी ने किया है। इसलिये श्रीहरिरायजी के हृदय में श्री आचार्यजी तथा श्री गुसांईजी निरंतर बिराजते हैं। इस कारण यह भाव प्रकट हुआ है। तुम परम चतुर हो इसलिये यह रत्न अत्यन्त गोप्य रखना क्योंकि यह जहां तहां दिखाने योग्य नहीं है।

इति श्रीहरिरायजी कृत शिक्षापत्र का श्रीगोपेश्वरजी कृत व्रजभाषा टीका का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।४१।।

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेवसमर्पये"

भाव स्वरूप निरूपणम्

मूल श्लोक के एक पुस्तक में अड़तीसमा शिक्षापत्र नवीन ही है, वह किसी पुस्तक में नहीं है। इसलिये शिक्षापत्र के भीतर का नहीं है तथापि श्रीहरिरायजी कृत हैं और इसका अभिप्राय पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के जानने योग्य है। इसलिये मूल श्लोक तथा उनके अर्थ लिखते हैं। भाव निरूपण पर श्रीगोपेश्वरजी की टीका नहीं है।

मूलं – रसात्मकतया सिद्धः परमात्मा श्रुताविति ।
संयोगविप्रयोगाभ्यां शृंगाररसरसो हरिः ।।१।।

श्लोकार्थ – श्रुति में रसात्मकता से परमात्मा (श्रीकृष्ण) सिद्ध है उससे संयोग और विप्रयोग भेद से शृंगार रस से सरस हरि हैं। क्योंकि जो वेद में कहा है कि आप रसरूप हैं और ग्रहण करने से आनंदयुक्त होते हैं। इसलिये आप आनंद घन हैं। सब रस में शृंगार रस मुख्य है वह शृंगार संयोग विप्रयोग भेद से दो प्रकार का है। वह दो प्रकार के शृंगार

से प्रभु सरस हैं।

मूलं – **धर्मधर्मिविभेदेन तावपि द्विविधौमतौ ।**
धर्मरूपस्तु संयोगो बहिः प्राकट्यपालितः ।
परोक्ष आंतरो यस्तु स धर्मित्वेन संमतः ।।२।।

वियोगोऽपि तथा यस्तु प्रभु प्राकट्य साधकः ।
स्वतंत्रफलरुपो यः स्वरूपावेशतो हरेः ।
धर्मिरूपः स विज्ञेयो नाविर्भावप्रयोजनम् ।।३।।

श्लोकार्थ – संयोग और विप्रयोग से धर्म और धर्मी इस भेद से दो प्रकार के हैं, उसमें बाहर प्रभु के प्राकट्य से सिद्ध जो संयोग है, वह धर्मरूप है और परोक्ष में (हृदय के भीतर प्रभु पधारे तब) भीतर का संयोग है वह धर्मीपने से मान्य है। वैसे विप्रयोग में भी जो प्रभु के प्राकट्य को साधने वाला है, वह धर्मरूप है। (जैसे रास पंचाध्यायी में व्रजभक्तों को विरह हुआ) तब प्रभु प्रकट हुए और हृदय में प्रभु का आवेश हो जाता है उससे जो विप्रयोग स्वतंत्र फल रूप जानना (जैसे) व्रजभक्तों को विरहदशा में है। श्री भागवत् एकादश स्कंध में भगवान् ने उद्धव के प्रति कहा है – **"ता नाविदन्मय्यनुषंगबद्धधियः स्वमात्मान मदस्तथदेम् । यथा समाधौमुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नाम रुपे"** (मेरे में स्नेह कर बांधी है बुद्धि जिनने ऐसे गोपीजन अपने देह को, परलोक को तथा इस जगत को नहीं जानते थे वहां दृष्टांत कहते हैं जैसे मुनि समाधी में कुछ और अपना नाम रूप नहीं जानते हैं और समुद्र के जल में नदी मिल गई। फिर वह अपना (पृथक) नाम, रूप नहीं जानती है। वैसे गोपीजन और कुछ नहीं जानते थे) इस प्रकार विप्रयोग में भगवद्आवेश हो जाय वह विप्रयोग धर्मीरूप है उसमें आविर्भाव का प्रयोजन नहीं है।

मूलं – **बहिः संवेदनं वापि तदसंवेदनं तथा ।**
तयोरवस्थाद्वितयं भावेनैव न चान्यथा ।।४।।

श्लोकार्थ – अथवा जिस विप्रयोग में बाहर का ज्ञान रहे (अर्थात् सर्व प्रपंच का ज्ञान रहे) वह धर्मरूप विप्रयोग है, और जिसमें यह ज्ञान नहीं रहे (अर्थात् भगवत्मय चित्त हो जाता

है और कुछ जाने नहीं) वह धर्मिरूप विप्रयोग है। यह दो प्रकार के विप्रयोग की दो अवस्था भाव से ही है अन्यथा (भाव बिना) नहीं हैं।

मूलं – वियोगात्मस्वरूपेण संयोगाभाववद्द्वयम् ।
बहिःसंवेदनाभावे तत्र साक्षात्तथा क्रिया ।।५।।

तदा संवेदने विप्रयोगानुभव एव हि ।
एवं सततं द्वावेव स्वतंत्रा भक्तिरूच्यते ।।६।।

श्लोकार्थ – विप्रयोगात्म स्वरूप से धर्म और धर्मीरूप दो अवस्था है। संयोग के अभाव वाली है। उसमें संयोग नहीं है (उसमें) जो बाहर के प्रपंच का ज्ञान रहे ऐसा भगवदावेश हो जाता है। यह विप्रयोगात्मक स्वरूप में साक्षात् वैसी क्रिया है। संयोग में जितना आनंद है तथा जैसी क्रिया है उस प्रमाण यह विप्रयोग में है। विप्रयोग हो तब बाहर के प्रपंच का ज्ञान रहता है तो केवल विप्रयोग का ही अनुभव होता है। भगवदादेश का अनुभव नहीं होता है ऐसे निरंतर दो प्रकार के विप्रयोग हैं वही स्वतंत्र भक्ति कही है।

मूलं – भावरुपः स्वरूपात्मा निरुद्धः पूर्ण एव सः ।
धर्मरुपवियोगेऽपि प्रविशंति गुणा हरेः ।।७।।
धर्मिरुपे तत्र कृष्णः कोशवत्प्रविशेत्पुनः ।
यथा (भगवदाविष्टा मूर्तिः) भगवदावेशो मूर्त्ति कोशे हरेस्तथा ।।८।।

श्लोकार्थ – विप्रयोगात्मक प्रभु भाव रूप है वह हृदय में निरुद्ध हुए, वह पूर्ण ही है और धर्मरूप विप्रयोग में भी हरि के गुण उसमें प्रवेश करते हैं और धर्मीरूप वह विप्रयोग में मूर्त्ति की तरह श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं। जैसे मूर्त्तिरूप भगवदावेश होता है अथवा भगवदावेश वाली मूर्त्ति रूप में है, वैसे उसमें हरि का आवेश होता है।

मूलं – तेषु भावद्वयं सिद्धं स्त्रीभावः सहजःपुरा ।
आविष्टभगवद्भावः पश्चाज्जातो विशेषतः ।।९।।

भाव स्वरूप निरूपणम्

तेषु धर्मा अपि तथा दृश्यंते द्विविधा अपि ।
एवमेवास्मदाचार्यस्वरूपमवबुद्धयताम् ।।१०।।

श्लोकार्थ – उपर धर्म धर्मी के भेद कहे हैं, उस भेद से दो भाव सिद्ध हैं। पहले तो सहज हुआ ऐसा स्त्री भाव है और पीछे आविष्ट हुए ऐसे भगवान् का भाव विशेष से हुआ है। उसमें ऐसे दो प्रकार के धर्म भी देखने में आते हैं। ऐसे ही अपने श्री आचार्यजी महाप्रभु का स्वरूप जानना चाहिए।

मूलं – स्वामिनीभगवद्भावयुतं चापि विलक्षणम् ।
अत एवोभयं तत्तद्ग्रंथेषु विनिरुप्यते ।
प्रभुभिः स्वामिनीभावभगवद्भाववत्त्वतः ।।११।।

श्लोकार्थ – श्रीस्वामिनी भाव तथा भगवद्भाव का उपर निरुपण किया है। उस भावयुक्त श्री आचार्यजी महाप्रभु का स्वरूप है। (अर्थात् धर्म और धर्मीरूप विप्रयोग भावयुक्त है) वह भी विलक्षण है, इसलिये ही तात ग्रंथ में श्री गुसांईजी ने श्री स्वामिनीजी का भाव तथा भगवद्भाव युक्तपने से दो भावात्मक निरूपण किया है।

मूलं – 'सर्वलक्षणसंपन्न' इति नाम विराजते ।
तथा तत्रैव 'रासस्त्रीभावपूरितविग्रहः' ।।१२।।

वस्तुतः कृष्ण एवेति चोक्तं श्रीवल्लभाष्टके ।
एवं विदित्वा तद्रूपं कर्त्तव्यः सर्वदाश्रयः ।।१३।।

श्लोकार्थ – सर्वोत्तमजी में "सर्वलक्षण संपन्नः" (सर्वलक्षण से युक्त) यह नाम बिराजता है। वैसे वहां ही **"रासस्त्रीभाव पूरितविग्रहः"** (रासस्त्री जो व्रजभक्त उनके भाव कर पूरित श्रीअंग है अर्थात् यह भावात्मक ही आपका श्रीअंग है) यह नाम विराजता है और श्री वल्लभाष्टक में कहा है – **"अज्ञानाद्यंधकार प्रशमन पटुताख्यापनाय त्रिलोक्या मग्नित्वं वर्णितं ते कभिरपिसदा वस्तुतः कृष्ण एव"** (त्रिलोकी में अज्ञानादिक जो अंधकार उसकी शांति में चातुर्य प्रसिद्ध करने के अर्थ आपका अग्नित्व कवियों ने वर्णित

किया है परन्तु सदा वस्तुतः आप श्रीकृष्ण ही हो) ऐसे श्री आचार्यजी महाप्रभु के स्वरूप को जानकर सर्वदा इनका आश्रय करना चाहिए।

इति श्रीहरिरायजी विरचित रसात्मक भावस्वरूप निरूपण का हिन्दी भाषानुवाद सम्पूर्ण ।।

श्रीनित्यलीला

प्रातः समै उठी ब्रजबाला, गावत मंगल गीत रसाला।।
कर शृंगार मथनियां बोवें, अपने २ दह्यो विलावें।।
मथन करें मोहन जस गावें सुमरि २ हरिगुण सुखपावें।।
माखन मिश्री दही मलाई, ओट्यो दूध कपूर मिलाई।।
कछुक मनोरथ के पकवाना, थार सजोवति सुन्दरिबाना।।
नये बसन भूषण हरि लायक, लेकर बाल चलीं सुखदायक।।
अतिही शुभग खिलौना लीने, विविध मनोरथ मनमें कीने।।
उठकर ग्वालखिरककों चले, अति आतुर गायन सों मिले।।
टेर करत सुर भी सुखदाई, कारी पीयरी दौरी आई।।
काजर घूमर और मजीठी, सब गुन पूरन सबे अनूठी।।
घन्टानाद करत सब डोलें, अपने २ बछरन बोले।।
शंखनाद खिरकन में सोहे, श्रवन सुनत सबको मन मोहे।।
मगल शब्द कान जब पर्यो, सकल साजकर मेले धर्यों।।
यह विधि सब घर २ ते चालीं, नंदनँदन कौ देखन आली।
सुख सिज्या पोढ़े हरिराई, लेइ बलय्यां जसुमति माइ।।
फिर झांखे फिर २ के आवे, कमलनयन कोनाहिंजगावे।।
ताही समैं आई ब्रजबाला, मनहु मत्त गयंद की चाल।।
सुपुरकी धुनि सुनि नन्दराय, चोकि उठे तबहो यदुराय।।
निकट गये जहाँ जसुमति माई, बदन देख कर लेत बलाइ।।
बोथरी अलक लटपटी पाग, पीक कपोल मुख अंजनलाग।।
चंदन भाल शोभित उरमाला, भूषण इत उत परम रसाला।।
यहशोभा निरखत ब्रजवाला, रसमसेनेंन देखे नंदलाला।।
जसुमति धाय उछगहिलीनो, चूमि बदन उरशीतल कीनो।।
मंगल भोग आंनकेराख्यो, गिरिधरलाल स्वादसु चाख्यो।।
माखन मिश्री मेल चटावे, धौरी को पय अति ही भावे।।
दधिकी छीटलगीतन शोभित, मानउडंगन अंबरलोपित।।
लपटानों मुख जसु मगिदेखे, अपनो जन्म सुफल लेखे।।
रचक जमुना जलसों धोवे, पोंछि बदन अंचल सो जोवे।।
पुनि अचवाय खवावे बीरो, सकल साज सजि लाइ अहीरी।।

मंगल की आरती उतारी, शोभा देख रहीं ब्रज नारी।।
कन कपाट बैठे मनमोहन, लाग रही जसुमति अति गोहन।।

स्नान समय

कोई हरिके तेल लगावे, परसत अंग परम सुख पावे।।
कोऊ अंग उबटनो करे विविध मनोरथ मन में धरे।।
कोऊ बेपी कर में धरै, ता ऊपर पुनि कंघी करे।।
कोऊ कनकघट जल लेरहे, कोउ पदअंबुज कर गहे।।
कोऊ हरिका स्नान करावे, अंग वस्त्र करि अति सुखवावे।।
कोऊ तनिया अंग पहिरावे, कोऊ सुंथन मरस बनावे।।

श्रृंगार समय

कोऊ बागा पटुका करे, कोऊ वहु विध भूषण धरे।।
कोऊ क्रीट मुकुट धरि शीषा, पाग बधाये गोकुल ईशा।।
तुम तो हो ब्रजराज लड़ेते, सब लरिकन में गुनन बड़ेते।।
मोर चद्रिका गुंजाहार, ब्रजजन के तुम प्राण आधार।।
कोऊ नेना अंजन अंजवावे, कोऊ मृगमद तिलक बनावे।।
पुहुपमाल ले कंठ धरावे, संकेत सदन की ठौर बतावे।।
रतन जटिल मुरली वरदाई, मोहन परम प्रीति सौं लई।।,
तब आई वृषभान कुमार, छवि पर वारों कोटि कुमार।।
हठकरिहरि श्रङ्गारकराया, बहुविधि भूखन वसनबनायो।।
अंजन दृग केसर शुभ भाल, त्यों युवतिन में लाड़ली लाल।।
नख शिखलों शृंगार करावे, देख गुपाल परमसुख पावे।।
मधुमेवा पकवान मिठाई, मुदित जसोमति गोद भराई।।
सन्मुख आय रही ब्रजनारी, हँसिहँसि देत परस्पर तारी।।
वे तो हरि मुखकमल निहारे, हरिराधा विधु वदन निहारे।।
मानहु मधुप कमलरस चाटय्यो' के जानूं प्रीति अमृत बाटय्यो।।
निरख-निरख फूलीब्रजनारी, दर्शन देत हैं कुंज विहारी।।
सोभा निरख रही ब्रजनारी, हँस हँस देत परस्पर तीरी।।

गोपीवल्लभ-ग्वाल

गोपीवल्लभ भोग ले धर्यो, सातों भुवन-भुवन प्रति कर्यों।।
पूरी दही संधानो शाक, मांखन मिश्रीं बहु विधि पाक।।
सबहिन के मन रंजन कारन, प्रेम सहित लीनो मन भावन।।
मनसा पूरन नंदकुमार, ठाड़े हैं जसुमति के द्वार।।
मैया मथि-मथि दही खवावे, बार-बार उर अन्तर लावे।।
बेनी बढ़े लाल पय पीजै, इतनो कह्यो हमारो कीजै।।
धोरी को पय परम रसाला, सात घूंट जो पांवो लाला।।
बदन धोय वीरा जब लीनौ, तब मैया जु खिलौना दीनौ।।
ठाड़ी तहाँ रोहनी रानीं, मठी बात कहत मनमानी।।
खीर सीरत स्वाद नहीं आवे, ग्रास एक मुख भौंतर लावे।।
अति हितमें हरि भोजन कीनों लालन मैया को सुख दीनो।।
खेलत फिरत सखा संग लीने, खिरिक खोल गिरिगहवरभीने।।
अतिप्रवीण जसुमति कौ पूत, सवहिन को मन कीनौ घूत।।
चोरी करै सबहिन सुख देत, गो पन को सर्वस्व हरि लेत।।
कर संकेत बुलाई गोपी, इनते सब मर्यादा लोपी।।
सबहिन को कीयो मन भयो, ता कारन यह ब्रजमें आयौ।।
जसुमति सखियन को जु बुलावै, कमल नैनको कहुं न पावै।।

राजभोज

देखौरी गुपाल कहाँ है खेलत, कहो जाय बाबा लोहि बोलत।।
भोजन को बैठे नन्दराय, तुम हुं भोजन कर तोउ आय।।
जब माता की जानी प्रीति, आय गये गोपाल समीप।।
बैठे आय कनक आसन पर, नन्दराय पकरे कर सों कर।।
कनकवरनझारी जमुनाजल, भरिदीनीजसुमतिमन उज्जवल।।
पनवारी जोरौ विस्तार, तापर धारौ कनक कौ थार।।
बेला छोटे मोटे धरे, चमचा रत्न जटित ताहां खरे।।
अगर धूप कीनौ ता ठौर, हितसो प्रभु जो लीनो कौर।।
अति सुगन्ध चावर कौ भात, आनधर्यो है जसुमतिमात।।
ठाड़ी मूंग अरुदारि बनाई, ताके पास कढ़ी ले आई।।
मिरचन के कीने बहु शाक, हितसो प्रभु जो लीनो कौर।।

अति *सुगन्ध* चावर कौ भात, आनधर्यों है जसुमतिमात।।
ठाड़ी मूंग अरुदारि बनाई, ताके पास कढ़ी ले आई।।
मिरचन के कीने बहु शाक, हितसों जसुमति लाई पाक।।
सिखरन भात अरुपीरो भात, खाटो मीठो बड़ी को सात।।
तीन भांति की तुरई करी, पापड़ भुंजे तिलवरी तरी।।
भरता बेगन चकताकरी, अरवी सूरण सब ले धरी।।
करेला मुरेला कंकोड़ा करे, खांडला गलका तरे।।
सकरकन्द को कीनो शाक, पेठा में मिश्री को पाक।।
रायता कीने इकईस भांति, संधाने केतिक पांति।।
वीलासारु कीनों जुबनाई, जेंवत हरि को मन न अघाय।।
बहु विधि की कचरियां तरीं, बहुत भांति कीभाजी करी।।
विजन बहु विधि गिने न जाइ, बारम्बार जसोदा लाइ।।
रोटी पूरी मठरी करी, मीसी रोटी घी सूं भरी।।
माखन मिश्री पास धरायो, लुचई ले सिखरनसे खायो।।
सेव बहुत बूरासों तरी, सो तो जाय निकट ले धरी।।
बुरा मठाके सुन्दर कीने, तीन कूड़ा अति रससों भीने।।
मया मोकूं सिखरन भावै, बेला भरा रोहिना लावै।।
सुरभी घृत सों बेला भर्यो, सोले भात सिखरन परधर्यो।।
ओटय्यो दूध दही को बेला, मीठे आम अरु सुंदर केला।।
आँमन को शीरा जो कीनो सोतौ हरिजुरुचिसों लीनो।।
खरबूजा अरु पांचोंमेवा, यह विधि जसुमति कीनी सेवा।।
छोक्योमठापरम रुचिदायक, सो तों केवल हरिके लायक।।
यह विधिलालन भोजन कीनो, मात जसोमतिकोसुखदीनो।।
कर आचमन ठाड़े आंगन में, अति सुगन्ध बीरा दांतनमें।।
श्रीकरमें बीरा जब लीनो, सो तो बांटि सबनकी दीनो।।
अति विचित्र कुन्दकी माला, ले आई पहरो नंदलाल।।
कर मुरली अरु वेत गहाई, ब्रज बनिता निरखें सुखपाई।।
निरांजना बहु विधि सों कीनो, सो तो देख वारनो लीनौ।।
जो लो हरि भोजन करि आवें, तोलों सहचरीकुंजनावे।।
झोलीभर-भर पहुपलें आवे, परम प्रीति सों सेज बिंछावे।।
फूल महेल के खंभ तिवारे, फूलन के कलसा अति भारे।।

फूलनकी शैया लै रची, तकिया गेंदवा फूलन सजी।।
सेज बन्द फूलन के करे, रंग-रंग फूलन सों भरे।।
फूलन की चोकीले करी, तापर करवा कुंजा धरी।।
अंगराग के बेला भरे, अति सुगन्ध बीरा तहाँ धरे।।
पुष्प माल अति सुन्दर करी, सोतो प्यारी उर पर धरी।।
फूलन के पंखा ले आये, सो तो कमल नैन को भाये।।
सकल पदारथ आगे धरे, विविध मनोरथ मन में करे।।
पौढ़े प्रिय प्यारी के संग, विविध भाँति वरसत रस रंग।।
बहुत भाँति प्रियके संग खेली, रस मर्यादा सब ले पेली।।
श्रमकन सुभग अंग पर आई, रसभर पौंढ़े कुंवर कन्हाई।।
जय रंध्र ब्हे सहचरी देखे, अपनो जन्म सुफल करि लेखे।।

उत्थापन

घन्टानाद भयो चहुँ ओर शंखनाद की धुनि सब ठौरा।
धुनि सुनि श्रीगोवर्द्धन जागे, मानहु प्रेमसिंधु में पागे।।
काकड़ी बीज खोवा अरुपना, लाइ खरबूजा घना।।
कन्दमूल के भोजन भरे, सो तो कुंज सदन में धरे।।
गोप अधानेसुरभो देखी, फिर कछु मनसा लेखी।।
वेणु वेत ले चले कन्हाई तब सहचरी परम सुख पाई।।
आगे गोधन पाछे ग्वाल, मध्य विसजत गिरधरलाल।।
गौरजमड़ित मुख पर केश-शोभित है अति सुन्दर भेष।।
मणिमाला गुंजा गिरी, गोरी राग वेणु में करी।।
ब्रज वनिता आईं चहुं ओर, देखत श्रीमुख भईं विभोर।।
गोविंद गोपिन को सुख दीनो, कछुकमनोरथ मनमें कीनो।।
करि सत्कार चले आगे ते, करि संकेत गहे पाछे ते।।
अति बिरहिन ब्रजकी बाला, घेर लिये तब मदन गुपाला।।

संध्या भोग आरती

संध्या भोग है जाको नाम, सो तो लीनो वाही ठाम।।
नन्द भुवन में ठाडे आय, प्रमुदित भई जसुमति माय।।
अति हित सों आरती उतारी, करमें लिये कनककी थारी।।
भीतर भवन पधारे लाल, आय जुरीं सब ब्रज की बाल।।

कोउ बड़े सिंगार करावे, कोऊ तेल फुलेल लगावे।।
कोऊ मर्दन मंजन करे, विविध मनोरथ मनमें धरे।।
कोउ जलले स्नान करावे, अग वसन करि अति सुखपावे।।
कोऊ तनया अंग पहिरावे, बहुविधि भूषण वसन बनावे।।
सेली कंध वेणकर लये, हरि जू तबहि खिरक में गये।।
भल सिंगार किये अति शोभित, निरखें तनमन अतिसे लोभित।।
धोरी धुमरी गाय बुलाइ, काजर पियरी दौरी आई।।
यह तो निज भक्तन संकेत, बेसबहिन को बोले लेत।।
विविध भांति हरि दोहनकरे, सब वासन ले रससो भरे।।
ग्वाल भोग लीनोरस रीति, ब्रज वनितन की जानी प्रीत।।
सबहिनकी कीयो मन भयो, जाकरण यह ब्रजमें आयो।।

शयन भोग

जसुमति भोजन कीनो साज, वेगि आइयो मोहन आज।।
जमुना जलसीं झारी भरी, ले ऊठाय हरिपासे धरी।।
दोउ भैया भोजनको आवें, जसुमतिकनक थार भरि लावें।।
दार भात मिरचन कौ शाक, हित सों रोहिनी कीनो पाक।।
दूध भात अति मोकू भावे, बेला भरि भरि जसुमति लावे।।
यह विविधलालनभोजन कीनो, मात जसोमतिकोसुख दीनो।।
कर व्यारू उट्ठे मन मोहन, लागिरही जसुमति अतिगोहन।।
ओटय्यो दूध कपूर मिलाई, डबरा भरि के रोहिणी लाई।।
इच्छा भोजन करि सुखपायो, तब रानी आचमन करायो।।
अति सुगन्ध बीरी मुख धरी, पुष्पमाल श्री कंठ खरी।।
करि आरती श्री मुख देख्यो, अपनो जन्म सुफल कर लेख्यो।।
रुनझुन व रतअंगुरिया गहे, भात जसोमति सब सुखलहे।।
सुख सिज्या पोढ़े हरिराय, चांपत चरण जसोदामाय।।
भांति भांति की बातें कहें, हरि हुंकारो फिर फिर लहें।।
निश लीला कहो कैसे कहें, सो तो ब्रजजन मन में लहें।।
नन्दभुवन की लीला कहे, मनुष्य देह धरि सब सुख लहे।।
गिरिवरधर की लीला गावे, रसिक चरण कमल रज पावे।।

इति श्रीहरिरायजी कृत नित्यलीला सम्पूर्ण।

नित्य और वर्षोत्सव सेवा बोध

राग - केदारो

रह्यो मोहि श्रीवल्लभ गृहभावे ।।
सुनि मैया मो डर माखन दूध दह्यो जु छिपावे ।।१।।
तू अति क्रूरकपन हुं कहा कहुं नित्य प्रति मोहि खिजावे।।
मेरो प्रान जीवन धन गोरस मोकों नित्य प्रति भावे।।२।।
खीरखांड पकवान बहोत ले प्रातहि मोहिं जिमावै।।
तेल सुगन्ध लगाय प्रीतिसों ताते नीर न्हवावै।।३।।
भूषन बसन विविध मन भाये पलटि पलटि पहरावै।।
नैन आंजि तिलक मृगमदको दरपनमोहिं दिखावै।।४।।
खटरस व्यंजन मोहिं जिमावै हित सों बीरी खवावे।।
भोग चकई विविध खिलौना लेकर मोहिं खिलावै।।५।।
विविध कुसुम अपने कर गहिके ले माला पहरावे।।
सुखद पर्यंक समारि मृदुल अति तापर मोंय सुवावै।।६।।
उत्थापन भयो पहर पाछिलो ब्रजजन दरस दिखावे।।
सन्ध्या भोग धरत अति रुचिसों सेन भोगकर लावे।।७।।
दोहन ग्वालन संग करिके मुरली कर में गहावे।।
गायन मिलवत बछरा लावत ब्रजजन मोद बढावे।।८।।

जन्मदिवस जब आवत मेरो आंगन चौक पुरावे।।
बाजें बाजत बहु विध द्वारे बंदनवार बंधावै।।९।।
मेरे गुन गुनियन पर मोकों सुख सों गान सुनावे।।
हरद दूब अक्षत दधि कुंकुम मंगलकलश धरावे।।१०।।
धेनु दिवाय द्विजन पैं मोसों आशीरवाद पढावे।।
केतिक बात कहों में हित की मोपे कहत न आवे।।११।।
पलना झुलावत विविध भांति के रंग रंग के लावे।।
दधि कांदो अति करत प्रीति सों फूले अंग न समावे।।१२।।
रावल में राधा मंगल कीरति जस सरस बधाई गावे।।
वामन रूप धर्यो पृथ्वी में बलि के द्वारे आवे।।१३।।
तीन पेंड धरती जग मापी सो हरि कहुं न समावै।।१४।।
लीला दान महा रजनी में करि सिर मुकुट धरावे।।
दानीराय नाम धरि मेरो कर में लकुट गहावै।।१५।।
सांझीचिति रतन थारी में वारत सांझी आवे।।
नव दिन नये भोग धरि मोकों विधि सूं रीझ रिझावे।।१६।।
विजय करन को दिन दशमी को राम लंका पर धावे।
जव अंकुर शिर पर धरि के विजय मुहूरत सजावे।।१७।।
पुन्यों शरद रात दिन मेरो नटवर भेष बनावे।।
मोर मुकुट पीताम्बर काछनि राग विलासहिं गावे।।१८।।

धनतेरस दिन धन धोवन मिस धन एक मोहि जनावे।।
विविध सिंगार भोग रस अरपत ब्रजभक्तन मन भावे।।१९।।
रूप चतुरदशी मंगल दिन लखि अंग अंग उबटावे।।
विविध भांत पकवान मिठाई लै लै भोग धरावे।।२०।।
सुरभी वृन्दन न्योति कुहु निश सुरभी कान जगावे।।
दीप दान दे निश हटरी में चोपड़ मोहिं खिलावै।।२१।।
प्रातभये गोधन पूजन करि मलरा ग्वाल गहावे।।
विधि सों अन्नकूट रचि मोंको गोधन लीला गावे।।२२।।
भाई दूज भावे यमुना को विधि सों न्योति जिमावे।।
वहनि सुभद्रा तिलक करत हे आशिरवचन सुनावे।।२३।।
गोप अष्टमी गाय चराई ग्वालन के संग धावे।।
धोरी धुमरी गांग बुलावत मुरली मधुर बजावे ।।२४।।
कार्तिक सुदि एकादशी शुभ दिन ईख सुं कुंज बनावे।।
पाट सुरंग वसन पहरावे परम प्रमोद मनावे।।२५।।
धनुर्मास को भोग विविध रचि चीरहरन जस गावे।।
व्रतचर्या लीलारस अनुभव गुप्त सो प्रगट दिखावे ।।२६।।
पोषमास नोमी को शुभदिन उत्सव मो मन भावे।।
दैवी जीव उद्धारे मेरे द्वितीय स्वरूप पधरावे।।२७।।

ऋतु बसंत जानि जिय अपने रुचि सुगंध छिरकावे।।
बसंत बनाय लये ब्रजबाला (ललना) बहुविधि, खेल मचावे।।२८।।
डांडो रोपन करि पून्यो दिन सरस धमारहि गावे।।
बहु विधि हिल मिल चाचर खेले छिरके और छिरकावे।।२६।।
सातम पाट उछव दिन मेरो केसरि गंग छिरकावे।।
सुरंग गुलाल अबीर कुंकुमा बूकांवादन लगावे।।३०।।
चोवा चंदन छिरकत कुंजन अद्भुत लीला गावे।।३१।।
पून्यो जहां तहां तब प्रगट्यो झुमक चेतव गावे।।
रात दिवस रस हो हो हो कहि गारी भांड भंडावे।।३२।।
भोग राग बहु रचित डोलपर झोटा देत दिवावे।।
परिवार डोल झुलाय प्रीति सों भारी खेलखिलावे ।।३३।।
द्वितीया पाट सिंघासन रचि के तापर मोंय बैठावे।।
मर्यादा चितलाय श्रीवल्लभ दान देत हरखाये।।३४।।
विविध फूल रचि करत मंडली अद्भुत महेल बनावे।।
कोमल गादीधर ता ऊपर तापें मोंय पधरावे।।३५।।
चैत्र सुदि नोमी को शुभ दिन रामचन्द्र ग्रहआवे।।
मात कौशल्या कूखि पधारे जनम जयंती गावै।।३६।।

वदि वैशाख एकादशी प्रकटे श्रीवल्लभ मन भावे।।
मात इलम्मा कर बधाई वल्लभ नाम धरावे।।३७।।
सुदि वैशाख अक्षय तृतीया दिन शीतल भोग धरावे।।
चंदन लेप करत अंग अंग प्रति पंखा वायु दुरावे।।३८।।
सुदि वैशाख नृसिंह चतुरदशी भक्तन पक्ष दृढावे।।
जन प्रल्हाद राख संकट तें वेद विमल जस गावें।।३९।।
ज्येष्ठा पून्यो स्नान यात्रा जल शीतल स्नान करावे।।
शीतल भोग धरत मन भाये मो मन ताप नसावे।।४०।।
सुदि अषाढ़ दुतिया पुष्य नक्षत्र रथ में मोहि बैठावे।।
तुरंग चलत अवनी पर चंचल राग मल्हारहिं गावै।।४१।।
व्रजभक्तन कों सुख दे गिरिधर भोग अनुपम लावे।
गोपीजन मन मान्यौ करिके सजि आरती उतरावे।।४२।।
उखाषष्टी परव (पर्व) अनूपम कसुंभी साज सजावे।।
बरखत मेघ घोर चहुंदिशतें लीला सकल बनावे।।४३।।
हिंडोला सावन में गृहरचि ललितादिकन झुलावे।।
पचरंग वागे वस्त्र रंग रंगनि आभरन बहुत धरावे।।४४।।
श्रीठकुरानी तीज हिंडोरा बरसानो मन भावे।।
कुंजन कुंजन झूलि झूलावत सरस मधुर सुर गावे।।४५।।

पवित्रा एकादशी निशआज्ञा ले मन में मोद बढावे।
ब्रह्म सम्बन्ध किये श्रीवल्लभ मिश्री भोग धरावे।।४६।।
दैवी जीव उद्धार कीये सब पवित्रा ले पहरावे।।
भयो प्रगट मारग वल्लभ को व्रजजन मोद बढावे।।४७।।
राखी बाँधत बहनि सुभद्रा मोतिन चौक पुरावै।।
तिलक करत रोरी अक्षत ले आरती वारति भावे।।४८।।
यह विधि नित नौतम सुख मोकों वल्लभ लाड़ लड़ावै।।
मैं जानूं के वल्लभ जाने के निजजन मन भावे।।४६।।
अति मति मंद कर्म जड़ कलि के जे मिथ्या करि जाने।।
रसिक कहे श्री वल्लभ कृपा बिन यह फल कबहुं न पावे।।५०।।
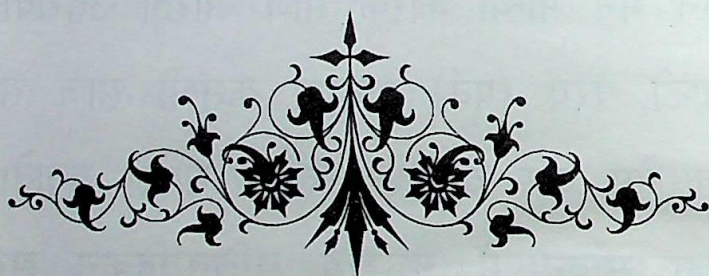
गौशाला में गोपाष्टमी पर लड़ते हुए सांडों का दृश